तुलसी-साहित्य की भूमिका

लेखक—

श्री रामरतन भटनागर

प्रकाशक—

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

प्रथमबार] [illegible] [मूल्य २)

१९३९-४० ई० की स्मृति में

डा० रामकुमार वर्मा, एम्० ए०, पी०-एच० डी०

को

जिन्होंने मुझे तुलसी के अध्ययन का

मार्ग दिखलाया।

भूमिका

तुलसी के सम्बन्ध में इतना साहित्य उपस्थित है कि उसे एक केन्द्र पर लाने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना पड़ता है। तुलसी की जीवनी और उनके काव्य के सम्बन्ध में कार्य भी इतना हो चुका है कि इस क्षेत्र में नवीन उद्भावनाएँ कठिन ही नहीं, असम्भव-सी हैं। पिछले कुछ दिनों में तुलसी के अध्ययन ने हिन्दी को चार डाक्टर दिये हैं। ऐसे भी अनेक विद्वान् और महात्मा हैं जिन्होंने शिक्षा-संस्थाओं से अलग रहकर हमारे महाकवि के आध्यात्मिक जगत् और काव्य-जगत् के संबंध में मार्मिक गवेषणाएँ उपस्थित की हैं। ऐसी परिस्थिति में मैं अत्यन्त विनम्र होकर तुलसी-साहित्य के विद्वानों का आभार स्वीकार करते हुए इस आलोचना को हिन्दी-संसार के सामने लाने की धृष्टता कर रहा हूँ।

इस अपने अध्ययन में मैंने रामचरितमानस को केन्द्र बनाया है और उसी की विशद विवेचना की है, परन्तु जहाँ संभव हुआ है तुलसी के सभी ग्रन्थों से साथ-साथ सहारा लेता गया हूँ। अन्त में इन ग्रन्थों का संक्षिप्त अध्ययन भी दे दिया है, जिससे तुलसी-साहित्य का एक पूर्ण चित्र पाठक के सामने आये।

मैं समझता हूँ कि मैंने इस पुस्तक में बहुत-सी ऐसी सामग्री एक स्थान पर इकट्ठी कर दी है जो अनेक पत्रों और पुस्तकों में बिखरी पड़ी है और साथ ही मतभेद के अवसरों पर अपनी मौलिकता का उपयोग भी किया है।

प्रयाग
जून, १९४१

रामरतन भटनागर

पुनश्च—युद्ध की कठिनाइयों के कारण यह पुस्तक प्रेस में नहीं जा सकी। सुविधा मिलने पर अब यह प्रकाशित हो रही है। प्रूफ़ भी मैं नहीं पढ़ सका हूँ, इसलिए यहाँ-वहाँ कुछ ग़लतियाँ रह गई हों, यह गुञ्जाइश भी है। परन्तु इस रूप में भी यह पुस्तक विद्यार्थियों और साहित्य-प्रेमियों में उसी तरह प्रिय होगी जिस तरह इससे पहली पुस्तक 'सूर-साहित्य की भूमिका', ऐसा मेरा विश्वास है। यदि वास्तव में ऐसा हुआ तो इस प्रकार की अन्य 'भूमिकाओं' को साहित्य-क्षेत्र में आने के लिए मार्ग मिलेगा।

प्रयाग,
जून, १९४५

रामरतन भटनागर

अनुक्रमणिका

*

तुलसीदास की जीवनी

हमारे अन्य महापुरुषों की भाँति तुलसीदास के जीवन की तिथिओं और घटनाओं के संबंध में हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है। जो है, वह भ्रान्तिपूर्ण है। तुलसीदास की लोकप्रियता ने उनके सत्य रूप को बहुत शीघ्र ही जनता की आँखों की ओट कर दिया था। इसका प्रमाण वे जनश्रुतियाँ हैं जो १७६६ की प्रियादास की भक्तमाल की टीका में काव्यबद्ध हैं। उन चमत्कारपूर्ण कथाओं के कारण जो तुलसी के साथ सम्बद्ध हो गई हैं, तुलसी के चरित्र-लेखक की कठिनाई बहुत बढ़ जाती है। प्रान्त के कई भाग और कई वर्ग तुलसी को अपनाने के लिए आग्रह करते हैं—चाहे इस आग्रह का आधार कुछ न हो। ऐसी अवस्था में कवि की ठीक ठीक जीवनी लिखना असम्भव है।

तुलसी के जीवनी लेखकों के आधार निम्नलिखित हैं—

(१) तुलसी की आत्मकथा जो मुख्यतः कवितावली, बाहुक, दोहावली और विनयपत्रिका में संग्रहीत हैं। अन्य ग्रन्थों से भी थोड़ी बहुत सामग्री मिल जाती है। इस सामग्री को हम अन्तर्साक्ष्य कह सकते हैं। यही एक सबसे प्रामाणिक सामग्री हमारे सामने है।

(२) समकालीन और परिवर्ती लेखकों की प्राचीन रचनाएँ। इनमें मुख्य ये हैं—

नाभादास का भक्तमाल, बाबा वेणीमाधोदास का गोसाईं चरित्र (सं० १६८७), बाबा वेणीमाधोदास का मूल गोसाईं चरित (सं० १६८७ के बाद), बाबा रघुबरदास का तुलसी-चरित, प्रियादास की भक्तमाल टीका (सं० १७६६), मोरोपन्त का तुलसीस्तव, २५२ वैष्णवों की वार्ता और सोरों से प्राप्त सामग्री जिसका उल्लेख हम बाद में करेंगे।

(३) कुछ नवीनपूर्ण खोज-ग्रंथ।

तुलसीदास की सबसे पहले स्वलिखित तिथि सं० १६३१ है[१] जो मानस-प्रणयन की तिथि है। तीन अन्य तिथियाँ भी अन्य ग्रन्थों में मिलती हैं। यह तिथियाँ रामाज्ञा-प्रश्न[२], तुलसीसतसई[३] और पार्वतीमंगल[४] की तिथियाँ हैं। कुछ ग्रन्थों में मीन की सनीचरी और रुद्रबीसी एवं दोनों के योग-समय का उल्लेख है[५]। रुद्रबीसी का समय सं० १६६५ से १६८५ तक है और मीन की सनीचरी का समय सं० १६६८ से १६७१ तक है। इस प्रकार सं० १६७१ तक तुलसीदास का जीवित रहना उनके ग्रन्थों से सिद्ध है।

तुलसी की स्वकथित जीवनी

तुलसीदास ब्राह्मण थे, कदाचित सुकुलवंशी[६] (यदि सुकुल शब्द पर श्लेष हो) यह छोटी आयु में ही मातृ-पितृहीन हो गए थे[७]। कुछ लोग कहते हैं अभुक्त मूल नक्षत्र उत्पन्न होने के कारण उन्हें माता पिता ने त्याग दिया था[८], परन्तु पहला अर्थ ही अधिक उचित लगता है। बचपन बड़े कठिनाई से कटा। घर घर भीख माँगनी पड़ी। जो टुकड़े कुत्तों के आगे डाल दिए जाते थे उनके लिए भी उन्हें ललकना पड़ता था[९]।

१—रामचरितमानस बाल०

२—सं० १६७०।

३—सं० १६४२

४—जय संवत् (१६३६)

५—देखिये कवितावली

६—दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परमपद पावत पुरारि मुरारि को। (विनयपत्रिका
जायो कुलमङ्गन (वही)

७—स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरि (वही)

८—तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिताहूँ (वही)

९—नीच निरादर भाजन कादर
कूकर टूकन लागि ललाई (कवितावली)

वार दाने चना भी मिलना कठिन था[१०]। दूध क्या ये मट्ठे को भी तरसते थे[११]। खरी-कोदो का कना खाकर रहते। सभी उनसे घृणा करते। जहाँ जाते दुतकार पड़ती। इस प्रकार हमारे चरित्र-नायक को न खेलने का अवसर मिला न स्नेह मिला[१२]। तुलसी के जीवन-चरित के इस अंश के लिए विनयपत्रिका और कविता-वली के अंश आधार हैं जो तुलसी की वृद्धावस्था की रचनाएँ हैं, अतः सम्भव है इनमें भक्तकवि की दीनता की भावना भी मिल गई हो, परन्तु उनमें कटुता और करुणा का जो चित्र है, वह आत्मानुभूति न होने पर इतना साफ भी नहीं होता। किसी स्वजातीय ब्राह्मण नरसिंह (नरहरि) ने इन्हें इस परिस्थिति से उबारा[१३] और रामभजन के राजडगर पर चलने को कहा[१४]। उन्हीं के यहाँ रह कर तुलसीदास ने "नाना पुराण निगमागम"[१५] का अध्ययन किया। कदाचित् यह अध्ययन बहुत समय तक चलता रहा होगा क्योंकि तुलसी ने रामचरितमानस में अनेक संस्कृत ग्रंथों का सहारा लिया है। वहीं सूकरक्षेत्र (सोरों) में उन्होंने गुरुमुख से रामकथा सुनी[१६]। सम्भव है, नरसिंह रामकथा सार्वजनिक रूप से कहते थे। धीरे-धीरे जैसे-जैसे प्रबोध होता गया और ज्ञान बढ़ता गया, वैसे-वैसे रामकथा भी उन्हें अधिक समझ पड़ने लगी। वस्तुतः नरसिंह का आश्रम छोड़ते समय तुलसीदास सब

१०—जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को (वही)

११—छाछी को ललात (वही)

१२—बाल दसाहूँ न खेल्यो खेलंत सुदाउँ मैं (विनयपत्रिका)

१३—कृपासिन्धु नररूप हरि (मानस)

१४—गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लागत राजडगरो सो (विनयपत्रिका)

१५—नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदंत

१६—मैं पुनि निज गुरुसन सुनी कथा सो सूकर खेत (मानस)

शास्त्रों में पारङ्गत और रामचरित के मर्मज्ञ हो गये थे।

कदाचित् इसी समय गुरु की आज्ञा से तुलसीदास ने अपना विवाह किया[१७] और सम्भवतः सात आठ वर्ष तक गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया और कृषि, बनिज आदि को जीविका का साधन बनाया[१८]।

सं० १६३१ में मानस की रचना के समय तुलसी अवश्य विरक्त रहे होंगे परन्तु उन्होंने घर कब छोड़ा यह नहीं कहा जा सकता। यह सत्य है कि घर छोड़ने पर उन्होंने अनेक तीर्थस्थानों का भ्रमण किया और सत्संग का लाभ लिया। काशी, प्रयाग और चित्रकूट तो उन्हें अत्यन्त प्रिय रहे[१९] परन्तु वह वारिपुर और दिगपुर भी गये थे जहां प्रसिद्ध सीतावट है[२०]। रामचरितमानस लिखने के साथ ही तुलसीदास को सम्मान नहीं मिल गया। जहाँ तक जान पड़ता है यह मालूम होता है कि उन्होंने अपने ग्रंथ को कई वर्ष बाद प्रकाशित किया और तब बनारस के संस्कृत पंडितों ने उन्हें और उनके काव्य को लेकर एक बवंडर ही उठा दिया। उनका कहना था कि तुलसी का रामचरित भाषा में नहीं लिखना चाहिए। बात यह थी कि इससे उनका धार्मिक एकाधिकार नष्ट हो जाता। उस समय तक पंडित वर्ग धार्मिक ज्ञान भंडार को संस्कृत भाषा में सुरक्षित रखे था और उसकी मान्यता इसी कारण थी कि जनसाधारण की पहुँच इस ज्ञान भंडार तक नहीं थी।

१७—जोबन जर जुवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष (विनयपत्रिका)

१८—मध्य बय धन हेतु गँवाई कृषी बनिज नाना उपाय (वही)

१९—देखिये रामचरितमानस, कवितावली और विनयपत्रिका।

२०—वारिपुर दिगपुर बीच बिलसति भूमि
अंकित जो जानकी चरण जलजात की।

(कवितावली)

रामभगतन को तौ कामतरु तें अधिक
सियबट सेये करतल फल चारि हैं।

(वही)

पंडितों ने अपने स्वार्थ पर आघात पड़ते देख कर तुलसी का विरोध किया और उनकी जाति पाँति पूछी। तुलसी इस विषय में हिचकिचाते थे। विरक्त की जाति पाँति क्या[२१]? उन्होंने शैवों को इनके पीछे लगाया। अयोध्या में भी धार्मिक परिस्थिति अच्छी नहीं थी। वहाँ भी तुलसी को विश्राम नहीं मिला। अन्तिम समय में तुलसी ने काशी को ही स्थान बनाया परन्तु शैवों ने उन्हें चैन न लेने दिया। तुलसीदास रुद्रबीसी और मीन की सनीचरी के समय काशी में अवश्य थे और गंगावास करते थे, यह बात दोहावली, कवितावली और विनयपत्रिका तीनों ग्रन्थों से पुष्ट होती है। इस समय तक उनकी बड़ी प्रसिद्धि हो गई थी[२२]। राजा महाराजा उनका मान-सम्मान करते थे[२३], परन्तु धार्मिक क्षेत्र में विरोध अधिकाधिक तीव्र होता जाता था। गोसाईं, नाथ, शैव सभी उनके विरुद्ध थे। तुलसी ने इनकी कड़ुई भर्त्सना की है[२४]। यहाँ तक कि कुछ अत्यन्त कठोर वाक्य भी इन मतावलम्बियों के संबंध में कहे गए हैं। यद्यपि उन्होंने यह सब रामभक्ति के नाते किया है, परन्तु उन स्थलों से कवि की विक्षुब्ध मानसिक दशा का भी पता चलता है।

विनयपत्रिका तुलसी के ६९, ७० वर्ष आयु की रचना है। उन्होंने इस समय की किसी आधिभौतिक बाधा का भी उल्लेख किया है जो

२१—धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ
(कवितावली)

२२—राम जपत भये तुलसी तुलसीदास (बरवै)

२३—तिहारोई नाम गयंद चढ़ायो (कवितावली)

२४—गोरख जगायो जोग (कवितावली)

साखी सब ही दोहरा कहि किहिनी उपख्यान।
भगति निरुपहि भगत कलि निंदहि वेद पुराना (मानस)
झूठो है झूठो है झूठो सदा जग
संत कहंत जे अंत लहा है (कवितावली)

उन्हें शिवकिंकरों द्वारा पहुँची[२५]। संक्षेप में तुलसी की समस्त आयु अत्यन्त कठिनवाही और आन्तरिक संघर्षों में बीती है। उनके अन्तिम दिन अत्यन्त कष्ट के दिन थे। अत्यन्त विनम्र होते हुए भी वह तिल-भर अपने दृष्टिकोण से न हटे। उन्होंने रामभक्ति प्रचार का अपना प्रयत्न अत्यन्त कठिन परिस्थिति में बना रखा। उनके काव्य में उस समय के धार्मिक सम्प्रदायों की कटुआलोचना है। इससे जान पड़ता है कि उन्होंने मौलिक आलोचना भी की होगी और उसी को लेकर उनका बराबर विरोध होता गया। यद्यपि वह भय पथच्युत न हुए। उन्होंने उन सब मार्गों की निन्दा की जो राम में आस्था नहीं रखे थे या जो समाज के लिए धोखे की टट्टी बन रहे थे। तुलसी ने कलियुग का विषद चित्रण किया है, वह बहुत कुछ उनके अपने समय का आत्मानुभूत चित्र है।[२६]

सं० १६७३ से १६८१ तक उत्तर भारत में महामारी का दौरा रहा। यह जहाँगीर का राजत्व काल था। तत्कालीन ऐतिहासिक लेखकों से पता चलता है कि महामारी पहले आगरे में प्रगट हुई और फिर अत्यन्त शीघ्रता से पूर्व की ओर फैली। काशी में इस बीमारी का प्रकोप सं० १६६६-१६७१ में रहा होगा। परन्तु तुलसीदास के स्वकथन से यह मालूम होता है कि काशी में महामारी का प्रकोप और भी पहले हुआ होगा। सम्भव है कि महामारी आगे पीछे कई स्थानों में स्वतन्त्र रूप से फूटी हो। इस महामारी से दुखित काशी की जनता को देख कर तुलसी का दयालु हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने कितने ही देवताओं से उसे दूर करने की प्रार्थना की और अन्त में

२५—गाँव बसत बामदेव मैं कबहूँ न निहोरे।
अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे॥
(विनयपत्रिका)

२६—देखिये रामचरितमानस, कवितावली, विनयपत्रिका, व्यक्तिधर्मांधर्म-निरूपण।

राम की शरण ली।[२७] परन्तु महामारी का प्रकोप न घटा और स्वयम् तुलसी को उसका लक्ष्य बनना पड़ा।[२८] अब कवि को अपनी पड़ी उन्होंने अपने रोग निवारण के लिए भूतनाथ, हनुमान आदि सभी देवताओं से प्रार्थना की।[२९] हनुमान जी ने उनकी सुन ली और वह मृत्यु के घाट उतरते उतरते बचे।[३०]

परन्तु जान पड़ता है यह महामारी पीड़ा तुलसी की अन्तिम बिमारी नहीं थी। उन्हें एक दूसरे ही रोग से प्राण छोड़ने पड़े। तुलसी ने इस रोग का विषद वर्णन किया है। तुलसी-साहित्य में इतने अनुभूतिपूर्ण, सरल, तीव्र और कारुणिक छन्द कहीं नहीं मिलेंगे जितने इस बीमारी के अवसर पर तुलसी ने लिखे। जान पड़ता है कि पहले यह रोग बाहुमूल में पीड़ा के रूप में प्रगट हुआ और तुलसी ने समझा

२७—रोष महामारी परितोष, महतारी, दुनी
देखिये दुखारी मुनि-मानसी-मरालिके
(पार्वती से—कविता०)

पाहि रघुराज पाहि कपिराज रामदूत
रामहू की बिगरी तुही सुधारि लई है।
(हनुमान से—वही)

हाहा करै तुलसी
कासी की कदर्थना कराल कलिकाल की।
(राम से—वही)

२८—अभिभूत वेदन विषय हरते भूतनाथ
तुलसी विकले पाहि पचत कुपीर हौं
(वही)

२९—देखिये कवितावली।

३०—खायो हुतो कुरोग तुलसी राढ़ शकसनि
केसरी किसोरि राखे बीर बरिआई है
(कवितावली)

कि अब लूला होकर जीवित रहना पड़ेगा।[३१] धीरे धीरे पीड़ा बढ़ी और अन्य अंगों में फैली। एक स्थान पर तुलसी "पाय पीर, पेट पीर, बाहु पीर, मुख पीर" का उल्लेख करते हैं।[३२] उनका सारा शरीर "पीरमय" हो गया था। अनेक देवताओं से प्रार्थना करने के बाद कुछ खीझ से कुछ निराश हो, उन्होंने रामचन्द्र का पल्ला पकड़ा। वहाँ भी जब सुनवाई न हुई तो एक बार फिर सीतापति, भोलानाथ और कपिनाथ की स्तुति की गई।[३३] रोग निवारण न होते देख उनके आस्तिक विश्वास को भी धक्का लगा। उन्होंने यह समझ कर सान्त्वना की यह उनके अहंकार का फल है।[३४] अन्त में उन्होंने मौन ही रहना भला समझा।[३५] इस मौन के कुछ समय बाद ही उनकी ऐहिक लीला समाप्त हो गई।

३१—बाँह की बेदन बाँह पगार पुकारत आरत आनंद भूलो।
श्री रघुवीर निवारिये पीर रहौं दरबार परो लटि लूलो ॥
(वही)

३२—पाँय पीर पेट पीर बाहु पीर मुँह पीर
जरजर सकल सरीर पीर भई है।
(वही)

३ —देखिये कवितावली छंद
और, कपिनाथ रघुनाथ भोलानाथ भूतनाथ
रोगसिंधु क्यो न डारियत गायखुर कै
(वही)

३४—आपने ही पाप तें त्रिताप तें कि साप तें
बढ़ी है बाहुबेदन कही न सहि जाति है
(वही)

३५—तुम तें कहा न होय, हाहा सो बुझैये मोंहि,
हौंहूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनिये
(वही)

जिन प्राचीन ग्रन्थों का हमने पहले उल्लेख किया है, अब हम उनके द्वारा उपस्थित सामग्री पर विचार करेंगे।

प्राचीन सामग्री

इन ग्रन्थों में से अधिकांश जनश्रुतियों पर आश्रित हैं। तुलसीदास के चमत्कारों के संबंध में जो अनेक जनश्रुतियाँ उनके रामचरितमानस की लोकप्रियता के कारण उनकी मृत्यु के कुछ वर्ष बाद ही प्रबल हो गई थीं, उन्हीं को कितने ग्रंथों में स्थान मिला है। प्रियादास की भक्तमाल की टीका (भक्ति-रस-बोधिनी) सं० १७६६ (सन १७१२) में लिखी गई। वह इस प्रकार की जनश्रुति पर आश्रित सामग्री को पहली बार उपस्थित करती है। यह सामग्री अधिकांश में तुलसीदास के आश्चर्यजनक चमत्कारों से भरी हुई हैं। कवि के ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक जीवनवृत्त के निर्माण में इससे थोड़ी भी सहायता नहीं मिलती। इसी के आधार पर भक्तकल्पद्रुम (राजा प्रतापसिंह), भक्तमाल (महाराजा विश्वनाथ सिंह) और रामरसिकावली (महाराजा रघुराज सिंह) की रचना हुई। अतः ऐतिहासिक जीवनी की खोज के लिए ये सब ग्रन्थ महत्वहीन हैं। इनसे मानस की लोक-प्रसिद्धि और मध्ययुग की चमत्कारप्रियता के सिवा और किसी बात पर प्रकाश नहीं पड़ता। इनमें उपस्थित सामग्री अत्यन्त चिन्त्य है। बाबा रघुबरदास का तुलसी चरित्र गोस्वामी जी की जीवन-सामग्री को अत्यन्त वृहद् रूप में उपस्थित करता है। १६१२ में मर्यादा पत्रिका में इसका कुछ अंश पहली बार प्रकाशित हुआ था। और तब से अनेक विद्वानों ने इसकी परीक्षा की है। लगभग सभी विद्वान इसे प्रामाणिक नहीं मानते। यही बात बाबा बेनीमाधवदास के मूल गोसाईं चरित्र के सम्बन्ध में है। रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास और डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इसे प्रामाणिक मानकर इसके आधार पर "गोस्वामी तुलसीदास" नाम के ग्रन्थ की रचना की जो १६३१ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग ने प्रकाशित किया। डा० माताप्रसाद गुप्त और पं० रामनरेश त्रिपाठी इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानते हैं

और विस्तारपूर्ण विवेचन एवं अकाट्य तर्कों के द्वारा अपनी बात सिद्ध करते हैं। यही एक प्राचीन जीवनी है जिसमें तुलसीदास के प्रत्येक कार्य का क्रमबद्ध काल-क्रमानुगत निरूपण है और इसके आधार पर तुलसी के ग्रन्थों का रचनाकाल भी स्थापित किया जा सकता है। यह सब होने पर भी तुलसी सम्बन्धी चमत्कारों की इसमें कमी नहीं है। मूल गोसाईं चरित्र की मात ऐसी निश्चित तिथियों में से जिनकी गणना हो सकती है, केवल पाँच ठीक निकलती हैं। अनेक ऐतिहासिक तथ्य गलत सिद्ध होते हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने १६ ऐसे तथ्यों की परीक्षा करके यह सिद्ध किया है कि इनमें से केवल पाँच ही थोड़े बहुत ठीक जान पड़ते हैं, अन्य अशुद्ध हैं। मूल गोसाईं चरित्र में तुलसी के ग्रन्थों का जो काल-क्रम दिया है उसे भी विद्वानों ने अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। डा० माताप्रसाद गुप्त यह भी सिद्ध करते हैं कि बाबा बेनीमाधवदास के मूलगोसाईंचरित और बाबा भवानीदास के गोसाईं चरित में इतना अधिक साम्य है कि दोनों लेखकों में से एक दूसरे का ऋणी अवश्य रहा होगा अथवा दोनों ने एक ही मूल आधार से अपनी सामग्री ली होगी। उनका विचार है कि या तो मूल आधार एक है या बाबा बेनीमाधवदास ने अपनी सामग्री बाबा भवानीदास से ली है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले विद्वानों का आग्रह मूल गोसाईंचरित को मौलिक और प्रामाणिक मान्य की ओर था परन्तु अब विशेष खोजों ने यह भ्रम दूर कर दिया है। "गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-चरित्र" (बैजनाथदास) भी जनश्रुतियों का संग्रह मात्र है अतः तुलसी के जीवनवृत्त के निर्माण में सहायक नहीं होता। अब रहीं तीन प्राचीन पुस्तकें—बाबा भवानीदास का गोसाईं चरित्र, नाभादास का भक्तमाल और गोकुलनाथ की २५२ वैष्णवन की वार्ता।

"गोसाईंचरित" का पहला उल्लेख शिवसिंहसरोज में मिलता है जहाँ बाबा बेनीमाधवदास को इसका लेखक बताया गया है।

इस उल्लेख के आधार पर ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों ने इस ग्रन्थ की खोज की परन्तु इसे प्राप्त करने में असफल रहे। इधर डा० माताप्रसाद गुप्त ने शिवसिंह के दिये हुए उद्धरण के आधार पर इस ग्रन्थ का पता लगाया है। यह ग्रन्थ १६२४ ई० में नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित रामचरितमानस में "जीवन चरित्र" के शीर्षक से जुड़ा हुआ है। यह जीवन चरित्र बहुत वृहद् है परन्तु इसके लेखक का नाम बेनीमाधवदास नहीं, भगवानदास है। डा० माताप्रसाद का मत है कि यह जीवनी १७५१ के लगभग लिखी गई होगी। इस जीवनी का आधार भी जनश्रुति और भक्ति भावना है। भक्तमाल (नाभादास) में तुलसीदास के संबंध में केवल एक छप्पय है। उसमें तुलसीदास को वाल्मीकि का अवतार कहा गया है और उनके ग्रन्थ की महिमा गाई है परन्तु इससे तुलसीदास के जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। महत्व की बात केवल यह है कि नाभादास ने तुलसी के लिए वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग किया है जिससे जान पड़ता है कि भक्तमाल की रचना के समय तुलसी अवश्य विद्यमान थे। "वार्ता" से तुलसी के संबंध में कुछ विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है, परन्तु विद्वानों ने अभी उसकी उपेक्षा ही की है। "वार्ता" और उसकी प्रामाणिकता के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। वार्ता की कथा स्पष्टतः आचार्य महाप्रभु और कृष्ण-भक्तों की महिमा-वृद्धि के लिए है, इसलिए विद्वानों का उसकी प्रामाणिकता के संबंध में सन्देह करना आश्चर्य की बात नहीं है। यह गोकुलनाथ की लिखी बताई जाती है परन्तु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने यह सिद्ध कर दिया है कि इसका लेखक वही नहीं है जो चौरासी वार्ता का लेखक है और इसमें गोकुलनाथ के बहुत बाद (१७३६ वि०) तक की सामग्री मिलती है। डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है कि प्रियादास की टीका और वार्ता की कथाओं का आधार बहुत कुछ एक ही सामग्री है जो कदाचित् उस समय जनश्रुति के रूप में उपस्थित थी। उन्होंने विस्तारपूर्वक दोनों ग्रन्थों की आश्चर्यजनक घटनाओं की तुलना की है। इस मत

से मध्य युग की धार्मिक भावना पर विशेष प्रकाश पड़ता है परन्तु वार्ता की सभी बातों को इतनी ही परीक्षा के बल पर एकदम असत्य नहीं कहा जा सकता। अधिक परीक्षा की आवश्यकता है। अभी यह देखना है कि वार्ता में सत्य का पुट कितना है। पं० रामनरेश त्रिपाठी इस ग्रन्थ को प्रामाणिक मानते हैं और विद्वानों का ध्यान इसकी सामग्री की ओर आकर्षित करते हैं। वार्ता से निम्नलिखित बातों का पता चलता है—

(१) तुलसीदास, नन्ददास के बड़े भाई थे।
(२) तुलसीदास श्रीरामचन्द्र जी के अनन्य भक्त थे।
(३) तुलसीदास जी काशी में रहते थे।
(४) तुलसीदास जी सनौढ़िया ब्राह्मण थे।
(५) तुलसीदास नन्ददास से मिलने के लिए व्रज में आये। वहां श्रीगिरिराज पर दोनों की भेंट हुई।

यदि इस प्रकार नन्ददास और तुलसीदास में संबंध स्थापित हो जाता है तो तुलसीदास के विषय में नाभादास के छप्पय से भी तुलसीदास के संबंध में हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है। नाभादास ने नन्ददास को रामपुर ग्राम का निवासी और चन्द्रहास का अग्रज कहा है।

इस सामग्री के अतिरिक्त कुछ प्राचीन सामग्री और भी है। "मानसहंस"-कार ने मोरोपन्त के "तुलसीस्तव" का उद्धरण दिया है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी इसे कवि-जीवन-संबंधी सामग्री में सम्मिलित किया है। वास्तव में यह सामग्री भी अत्यन्त संक्षिप्त भक्तमाल जैसी है और अधिक उपयोगी नहीं है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने एक दूसरी अत्यन्त मौलिक सामग्री को भी हमारे सामने रखा है। यह सामग्री हाथरस वाले सन्त कवि तुलसी साहब (१८२०—१९०० वि०) की आत्मकथा है। तुलसी साहब अपने को पूर्वजन्म का रामचरितमानसकार तुलसीदास मानते हैं और उनके इस

पूर्वजन्म के वृत्तान्त को हम गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी ही कह सकते हैं। इसका आधार भी जनश्रुति है, यद्यपि हमें इसमें कुछ ऐसी सामग्री भी मिल जाती है, जैसी अन्य स्थान पर नहीं मिलती, परन्तु ऐतिहासिकता की मात्रा इसमें भी बहुत थोड़ी है।

तुलसीदास संबंधी आधुनिक खोज

१८३१ ई० में मि० एच० एच० विलसन ने "दि रेलीजस सेक्टस आफ दि हिन्दूज़" नामक ग्रन्थ में तुलसी के जीवन के संबंध में सामग्री उपस्थित की। इसका आधार उस समय की प्रचलित जनश्रुतियाँ थीं। यह पहला गद्य का नवीन ढंग का उल्लेख है। १८३९ में गार्सन द तासी ने अपने इतिहास में इसके आधार पर तुलसी के जीवन के सम्बन्ध में लिखा। १८७०—७१ के दूसरे संस्करण में उन्होंने कुछ नवीन बातें भी जोड़ीं। विलसन की सामग्री का उपयोग एफ० एस० ग्राउस ने अपने रामायण के अंग्रेजी अनुवाद (१८७७—८२) की भूमिका में किया।

हिन्दी में तुलसी-सम्बन्धी पहला विवरण शिवसिंह सेंगर के 'सरोज' में मिलता है। उनका उल्लेख है कि उनकी सामग्री का आधार बाबा बेनीमाधवदास का "गोसाईं चरित्र" है। खोज से सिद्ध हुआ है कि यह भगवानदास का ग्रन्थ रहा होगा। डा० ग्रियर्सन ने इस ग्रंथ की खोज की परन्तु वे सफल नहीं हुए। तुलसी सम्बन्धी अध्ययन के क्षेत्र में डा० ग्रियर्सन का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। उनके द्वारा पहली बार तुलसी संबंधी वैज्ञानिक अन्वेषण का जन्म हुआ। "माडर्न लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान" (१८८९) और "नोट्स ऑन तुलसीदास" (१८९३) में उन्होंने अत्यन्त रोचक सामग्री उपस्थित की। उन्होंने जीवन-चरित और रचनाओं दोनों के संबंध में अपना अध्ययन उपस्थित किया। ग्रियर्सन १९१३ ई० तक तुलसीदास के विषय में कुछ न कुछ लिखते रहे। १८९९ ई० में रेवरेन्ड ई० ग्रीव्स

ने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में गोस्वामी "तुलसीदास का जीवन चरित्र" शीर्षक एक लेख लिखा।

१६०२ ई० में प्रकाशित इण्डियन प्रेस के रामचरितमानस के संस्करण में सम्पादकों ने ग्रियर्सन की मान्यताओं को स्वीकार किया और उनके आधार पर ग्रन्थ की भूमिका के रूप में कवि की जीवनी और ग्रन्थों का अध्ययन उपस्थित किया। इसके कुछ बाद लाला सीताराम ने तुलसी की मौलिकता आदि लेख लिख कर तुलसी संबंधी अध्ययन को आगे बढ़ाया।

तुलसी के संबंध में वैज्ञानिक आलोचना मिश्रबन्धुओं के हिन्दी नवरत्न (१६१०) में पहली बार हमारे सामने आई। इसके बाद से तुलसी के संबंध में अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। अनेक ग्रन्थ भी लिखे गए। इस दशा में काम करने वालों में बाबू शिवनन्दनसहाय (श्री गोस्वामी तुलसीदास जी १६१६) और रेवरेन्ड जे० एन० कारपेण्टर (दि थ्योलोजी ऑव तुलसीदास १६१८) मुख्य हैं। १६१२ में नागरी-प्रचारिणी सभा की "तुलसी ग्रन्थावली" भाग १ में प्रस्तावना (लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल, और लेखों के रूप में तुलसी संबंधी एक विशाल सामग्री हिन्दी पाठकों के सामने आई। इसने तुलसी संबंधी अध्ययन को बड़ी उत्तेजना दी। तुलसी साहित्य के लगभग सभी अंगों पर इसमें विचार किया गया था। इसके बाद १६२६ में यादवशंकर जमादार का "मानवहंस" प्रकाशित हुआ इसने अपनी आलोचना को अत्यन्त नवीन ढंग से उपस्थित किया और तुलसी के चरित्र-चित्रण के संबंध में विशेष बातें कहीं। १६३१ में मूल गोसाईं चरित (प्राप्त १६२५) की नई सामग्री के आधार पर बाबू श्याम-सुन्दरदास और डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोस्वामी तुलसीदास ग्रन्थ लिखा। १६३० में मेकफी का एक ग्रन्थ दि रामायन ऑव तुलसी दास प्रकाशित हुआ। १६३६ ई० में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी रामचरितमानस की टीका की भूमिका के रूप में कुछ सामग्री दी। १६३७ में "तुलसीदास और उनकी कविता" (दो भाग) में

उन्होंने सोरों को तुलसीदास का जन्म-स्थान मानकर उस पक्ष का समर्थन किया जिसका जन्म १९२९ में हुआ था। १९३७ में डा० सूर्यकान्त शास्त्री ने तुलसी की शब्द-सूची उपस्थित की। १९३८ में डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने तुलसी के रामभक्ति-पथ की रूप-रेखा देने की चेष्टा की। तुलसी के धार्मिक दृष्टिकोण के अध्ययन के लिए उनका ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। १९२९ में कई महानुभावों ने पत्र-पत्रिकाओं में सोरों के पक्ष का समर्थन किया। इनमें रामदत्त भरद्वाज, भद्रदत्त शर्मा और दीनदयालु गुप्त प्रमुख हैं। १९२९ में गोविन्दवल्लभ शास्त्री ने जनश्रुति के बल पर सोरों संबंधी जिस आन्दोलन को जन्म दिया था वह नई खोजों से कुछ अधिक दृढ़ हो गया है। तुलसी के जीवन और काव्य संबंधी अध्ययन में एक बहुत महत्वपूर्ण नाम डा० माताप्रसाद गुप्त का है। पिछले दस वर्षों के लगातार परिश्रम के वाद उन्होंने तुलसी साहित्य और तुलसीदास की जीवनी के सबंध में अनेक नई बातों पर प्रकाश डाला है।

तुलसीदास के जीवन के संबंध में नवीनतम सामग्री सोरों को तुलसीदास का जन्म-स्थान सिद्ध करती है और उसके आधार पर हम तुलसीदास के गृहत्याग के समय तक का सम्पूर्ण वृत्त बना सकते हैं। सोरों की सामग्री वार्ता में कही गई बातों को पुष्ट करती है। इस सामग्री को तुलसी के प्रारम्भिक जीवन के विषय में अन्तिम बात स्वीकार करने में विद्वानों को हिचकिचाहट है। वे अभी अधिक प्रमाण चाहते हैं। परन्तु यदि यह सामग्री सत्य सिद्ध हो और वार्ता की बातें भी सच निकलें तो हम इनके आधार पर तुलसी के जीवन-चरित्र का निर्माण इस प्रकार कर सकते हैं—

नवीनतम सामग्री

तुलसी के पूर्व पुरुष सूकरक्षेत्र (सोरों) के समीप रामपुर ग्राम के निवासी और सनाढ्य शुक्ल थे। तुलसी का वंशवृक्ष इस प्रकार था।
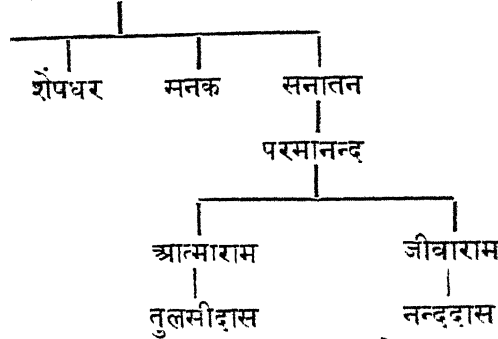
तुलसी के माता-पिता का देहान्त अत्यन्त छोटी अवस्था में हो गया था। वह अपनी दादी के साथ सोरों के योगमार्ग मोहल्ले में रहते थे। उस समय उनका नाम रामबोला था। तुलसीदास ने सोरों के नरसिंह की पाठशाला में शिक्षा पाई। नरसिंह स्मार्त वैष्णव थे। शिक्षा प्राप्त करके गुरु की आज्ञा से तुलसी ने गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश किया।

इनका विवाह वदरिया ग्राम के दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ। पत्नी के साथ तुलसी प्रेमपूर्वक गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने लगे। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने कई धन्धे किये। तारापती नाम का उनके एक पुत्र भी हुआ परन्तु वह शीघ्र ही कालकलवित हो गया। विवाह के १५ वर्ष बाद रत्नावली की २७ वर्ष की आयु में तुलसीदास के जीवन में महान क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति से जन-श्रुति के रूप में हमारे भक्त और जनसाधारण बहुत पहले से परिचित हैं। पत्नी पितृगृह गई हुई थी। एक दिन वर्षा पानी के बीच आधी रात के समय गंगा पार करके तुलसी वहाँ जा पहुँचा। उस समय पानी के प्रबोध से उनके आसक्तिपूर्ण हृदय को धक्का लगा और कदाचित् उसी रात वह विरक्त होकर निकल खड़े हुए। इसके बाद वह सोरों नहीं गए। रत्नावली सं० १६५१ तक जीवित रही। जब नन्ददास तुलसीदास से मिलने काशी आए तो उनके हाथ तुलसी ने पत्नी को सन्देश भेजा जिसमें उसे रामभक्ति की ओर निर्दिष्ट किया गया था।

२—तुलसीदास के ग्रन्थ

तुलसीदास ने कितने ग्रन्थों का निर्माण किया, यह अभी ठीक-ठीक निश्चित नहीं हुआ है। नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज रिपोर्ट[१] में तुलसीदास के नाम से पाये हुए सैंतीस ग्रन्थों का विवरण मिलता है। ये ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

रामकथा सम्बन्धी ग्रन्थ—(१) कबित्त-रामायण (२) गीतावली रामायण (३) छन्दावली रामायण (४) छप्पय रामायण (५) दोहावली (६) पदावली रामायण (७) बरवै रामायण (८) रघुवर-शलाका (९) रामचरितमानस।

रामकथा के कुछ प्रसंगों पर रचे ग्रन्थ—(१०) जानकीमंगल (सीता-स्वयम्बर) (११) श्रीरामनहछू (राम का नेहछू वर्णन)।

शिव-पार्वती सम्बन्धी ग्रन्थ—(१२) मंगलरामायण (शिव-पार्वती का विवाह) (१३) श्री पार्वतीमंगल (वही)।

कृष्णकथा सम्बन्धी ग्रन्थ—(१४) कृष्ण-चरित्र (१५) श्रीकृष्ण-गीतावली।

हनुमान सर्म्बन्धी ग्रन्थ—(१६) बाहुसर्वांग (स्तुति) (१७) बाहुक (वही)।

शकुन सम्बन्धी ग्रन्थ—(१८) रामशलाका (१९) रामाज्ञा (२०) सगुनावली।

ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ—(२१) ध्रुवप्रश्नावली (२२) वृहस्पति-कांड।

ज्ञान-विज्ञान-वैराग्य सम्बन्धी ग्रन्थ (२३) अंकावली (२४) उपदेश दोहा (२५) तुलसी सतसई (२६) तुलसीदास जी की वाणी (२७) वैराग्यसंदीपिनी (२८) ज्ञान कौ प्रकरण (२९) ज्ञानदीपिका।

१—नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज रिपोर्टें १९००, १९०३, १९०४, १९०६-७-८, १९०९-१०-११, १९१७-१८-१९, १९२०-२१-२२।

रस सम्बन्धी ग्रन्थ—(३०) रसकल्लोल (३१) रसभूषण।

आरती, स्तुति, भक्ति और प्रार्थना सम्बन्धी ग्रन्थ—(३२) आरती (३३) विनयपत्रिका।

नाम-महात्म्यसम्बन्धी ग्रन्थ—(३४) राममुक्तावली या राम-मंत्र-मुक्तावली।

पुराण और अनुवाद—(३५) सूरजपुराण (पुराण) (३६) गीताभाष्य (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का अनुवाद) (३७) भगवद्‌गीता भाषा (वही)।

इस ग्रन्थ-सूची को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से बहुत से ग्रन्थ किसी प्रकार से भी रामचरितमानसकार तुलसीदास के नहीं हो सकते। इस सूची में जिन ग्रन्थों का नाम आया है उनके अतिरिक्त भी तुलसी के अनेक ग्रन्थ कहे जाते हैं। यह हैं—कुंडलिया रामायण[1], संकट मोचन[2], करखा छन्द[3], रोला छन्द[4], झूलना छन्द[5], (शिवसिंह सेंगर और सर जार्ज ए० ग्रियर्सन), हनुमानचालीसा[6], कलिधर्माधर्मनिरूपण[7], (शिवबिहारी लाल वाजपेई), नामकला-कोषमणि[8], (कोदोराम), इस प्रकार तुलसी के कहे जाने वाले ग्रन्थों की संख्या पैंतालिस हुई।

तुलसी के सम्बन्ध में लिखने वालों ने इस ग्रन्थ-सूची में से केवल कुछ ग्रन्थों को प्रामाणिक रूप से तुलसीदास का लिखा हुआ माना है। रामचरितमानस ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसके विषय में कोई मतभेद नहीं है। तुलसीदास के समकालीन लेखक नाभादास ने भी उसका उल्लेख किया है। २५२ वैष्णवों की वार्ता से भी इसकी पुष्टि होती है। शिवसिंह सेंगर १८ ग्रन्थों को तुलसी का लिखा मानते

१, २, ३, ४, ५—शिवसिंहसरोज (शिवसिंह सेंगर) पृ० ४२७-४२८, ६२६ का संस्करण, इंडियन एंटिक्यूरी जिल्द २२, १८९३ पृ० १२२

६, ७—सम्वत् १९६० का हिन्दी बंगवासी का नवीन उपहार पृ० १-९

८—इंडियन एंटिक्यूरी, देखिये ऊपर का निर्देश।

हैं। ये ग्रन्थ हैं—चौपाई रामायण (मानस), कवितावली, गीतावली, छन्दावली, बरवै रामायण, दोहावली, कुंडलिया रामायण, सतसई, रामशलाका, संकटमोचन, बाहुक, कृष्णगीतावली, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, करखा छन्द, रोला छन्द, झूलना छन्द, विनयपत्रिका। सर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने पहले २१ ग्रन्थ तुलसीदास के रचे हुए माने, बाद में उन्होंने यह संख्या कम कर दी और बारह ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने। इन प्रामाणिक ग्रन्थों के नाम हैं—रामचरितमानस, विनय पत्रिका, कवितावली, गीतावली, दोहावली, कृष्णगीतावली, रामलला-नेहछू, वैराग्यसंदीपिनी, बरवै रामायण, जानकीमंगल, पार्वती-मंगल, रामाज्ञा। श्री शिवबिहारीलाल बाजपेई ने डा० ग्रियर्सन के इन प्रामाणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त आठ ग्रन्थ और भी प्रामाणिक माने। ये ग्रन्थ हैं—छप्पय रामायण, बाहुक, हनुमानचालीसा, संकट मोचन, कुंडलिया रामायण, तुलसी सतसई और कलिधर्माधर्म निरूपण। मिश्रबन्धुओं ने डा० ग्रियर्सन की प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची में से रामाज्ञा, पार्वतीमंगल, बरवै रामायण, रामलला नेहछू और वैराग्यसंदीपिनी को प्रामाणिक नहीं माना है। परन्तु वह इनके स्थान पर पाँच अन्य ग्रन्थों को प्रामाणिक मानते हैं। ये ग्रन्थ हैं—हनुमानचालीसा, रामसतसई, कलिधर्माधर्मनिरूपण, हनुमान-बाहुक और रामशलाका[१]। पं० रामगुलाम द्विवेदी डा० ग्रियर्सन के मत के समर्थक हैं। नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित तुलसीग्रन्था-वली में उन्हीं १२ ग्रन्थों को प्रामाणिक माना गया है जिन्हें ग्रियर्सन और पं० रामगुलाम द्विवेदी ने प्रामाणिक माना है।[२] इन ग्रन्थों के अतिरिक्त सम्पादकों का झुकाव रामसतसई को भी प्रामाणिक मानने की ओर है पं० सुधाकर द्विवेदी ने अनेक कारण दिखला कर यह सिद्ध किया है कि यद्यपि सतसई के बहुत से दोहे गोस्वामी तुलसीदास

१—नवरत्न (मिश्रबन्धु) पृ० ८१-१०१

२—तुलसीग्रन्थावली : प्रस्तावना

के हैं तथापि यह ग्रन्थ तुलसी कायस्थ की रचना है। रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास इस ग्रन्थ को भी सम्पूर्ण प्रामाणिक मान कर "सतसई सप्तक" में तुलसी सतसई के नाम से सम्मिलित करते हैं५। डा० रामकुमार वर्मा १२ प्रामाणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त तुलसी की शैली के आधार पर कलिधर्माधर्मनिरूपण को भी प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं।६

तुलसी की रचनाओं के कालक्रम के सम्बन्ध में इधर कुछ वर्षों में खोज हुई है। परन्तु अभी तक विद्वान किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँचे हैं। तीन कालक्रम योजनायें हमारे सामने हैं। एक मूल-गोसाईं-चरित की, एक पं० रामनरेश त्रिपाठी की, एक डा० माताप्रसाद गुप्त की। ये इस प्रकार हैं—

१—मूलगोसाईं चरित

गीतावली कृष्णगीतावली	सं० १६१६—१६२८ तक
रामचरितमानस	१६३१—१६३३
विनयपत्रिका	१६३९
दोहावली	१६४०
सतसई	१६४२
बरवै	१६६९—१६७०
नहछू	,,
जानकीमंगल	,,
पार्वतीमंगल	,,
बाहुक	,,
वैराग्यसंदीपिनी	,,
रामाज्ञा	,,

४

५ देखिये सतसई सप्तक (हिन्दुस्तानी एकेडमी का प्रकाशन)

६ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ३९३

२—रामनरेश त्रिपाठी

		आयु
वैराग्यसंदीपिनी	१६१५ के लगभग	(२६)
कवितावली	१६१०—१६७१	(२१—२१)
दोहावली	१६१०—१६७१	(,,)
तुलसी सतसई	१६१०—१६४२	(२१—५३)
बरवै	१६१०—१६४०	(२६—५१)
रामलला नहछू	१६१५ के लगभग	(२६)
गीतावली	१६१५—१६२०	(२६—३१)
रामाज्ञाप्रश्न	१६२० के लगभग	(३१)
जानकीमंगल	१६२४ ,,	(३५)
अयोध्याकांड	१६२५—१६२८	(३६—३६)
श्रीकृष्णगीतावली	१६२८—१६३०	(३६—४१)
रामचरितमानस	१६३१—१६३७	(४२—४८)
पार्वतीमंगल	१६४३	(५४)
विनयपत्रिका	१६४५—१६६८	(५६—७६)

३—डा० माताप्रसाद गुप्त

(१) पूर्व	रामलला नहछू	सं० १६११ के लगभग	(?)	
	जानकीमंगल	,, १६२१ ,,	,,	
	रामाज्ञा	,, १६२३ ,,	,,	
	वैराग्यसंदीपिनी	,, १६२५ ,,	,,	
(२) मध्य	रामचरितमानस	सं० १६३१		
	सतसई	१६४२		
	पार्वतीमंगल	१६४३		
	गीतावली	१६४४—४६ के लगभग		
	कृष्णगीतावली	१६४६—५०	(?)	

(२) उत्तर	विनयपत्रिका	१६५६—५९	,,
	बरवै	१६६२—६४	,,
	दोहावली	१६६५—८०	,,
	बाहुक	,,	,,
	कवितावली	,,	,,

मूलगोसाईंचरित की सामग्री अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी है। अस्तु, उसका कालक्रम भी अप्रामाणिक होना निश्चित है। मानस, तुलसी सतसई और पार्वतीमंगल की तिथियाँ तो तुलसीदास ने ही दे दी हैं, वे तो ठीक ही हैं। परन्तु अन्य तिथिओं के सम्बन्ध में उनका कालक्रम स्पष्टतः आलोचना के मापदंड पर पूरा नहीं उतरता। डा० माताप्रसाद गुप्त ने तुलसीसंदर्भ में मूलगोसाईंचरित के काल-क्रम को जिन तर्कों के आधार पर अस्वीकार किया है, वे बहुत दृढ़ नहीं हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि विनयपत्रिका की तिथि १६३६ नहीं हो सकती। उस जैसी प्रौढ़ रचना के लिये तुलसी को लम्बी आयु की आवश्यकता है। सतसई, बरवै आदि फुटकर रचनाओं के संग्रह हैं, उन्हें कोई एक ही निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती। वैराग्यसंदीपिनी आदि ग्रन्थ एक ही काल की रचना नहीं हो सकते।

इसके बाद दो ही कालक्रम-योजनायें हमारे सामने रह जाती हैं जिन पर विस्तारपूर्वक विचार करना उचित होगा।

दोनों विद्वानों ने तुलसी के मानसिक विकास एवं भाषा और शैली की प्रौढ़ता सम्बन्धी विवेचना को अपनी योजना का आधार बनाया है। उन्होंने जो तालिकायें उपस्थित की हैं उनमें दो बातों में साम्य है—

(१) विनयपत्रिका, कवितावली के कुछ छन्द, दोहावली के कुछ दोहे और बाहुक को दोनों लेखक तुलसी के अन्तिम वर्षों की रचनायें मानते हैं। विनयपत्रिका में महामारी और मीन की सनीचरी का उल्लेख नहीं है, इसलिये वह इनमें सब से पहले समाप्त हुई होगी। शेष ग्रन्थों की रचना लम्बे काल की है। सम्भव है कि विनय-

पत्रिका को छोड़ कर अन्य ग्रन्थों का संग्रह तुलसी की मृत्यु के बाद हुआ हो। विनयपत्रिका के विषय में भी हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि वह तुलसी द्वारा ही संग्रहीत है, कम से कम इस रूप में जिसमें वह आज मिलती है।

दोनों विद्वान नहछू, रामाज्ञा, वैराग्यसंदीपिनी और जानकी मंगल को मानस से पहले की रचना (सं० १६२५ तक) मानते हैं।

परन्तु भेद भी महत्वपूर्ण हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त रामचरित-मानस को एक छोर पर रखते हैं, जहाँ तुलसी की एक तिहाई रचनायें समाप्त होती हैं।
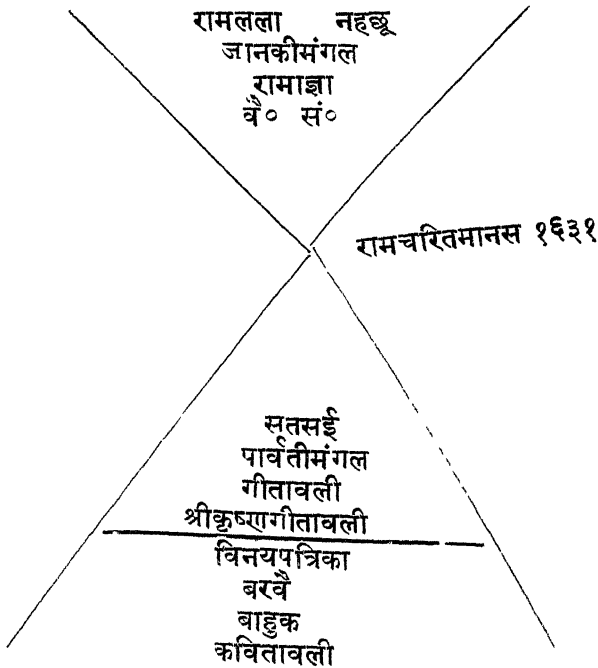
इस प्रकार के विभाजन की कृत्रिमता स्पष्ट है। इनमें कवि के जीवन को निश्चित रूप से चार भागों में बाँट दिया गया है और इसी के अनुसार उसकी आध्यात्मिक भावनाओं, रामकथा सम्बन्धी धारणाओं और काव्य प्रौढ़त्व का विभाजन हो गया है। इस विभाजन में बुद्धिवाद अधिक है। कवि को प्रौढ़त्व प्राप्त करने के लिये लगातार उत्तरोत्तर विकास की आवश्यकता नहीं, वह अपने जीवन के बीच में किसी भी विशेष समय प्रौढ़त्व को पहुँच सकता है। यही बात उसकी कथा सम्बन्धी धारणाओं के सम्बन्ध में है। वास्तव में कथा विशेष में तुलसी का आग्रह नहीं है। पं० रामनरेश त्रिपाठी का यह कथन कहाँ तक ठीक है कि तुलसी मानस की निश्चित कथा के बाद कोई दूसरे प्रकार से कथा नहीं लिखते। कदाचित् उनकी कालक्रम योजना के पीछे यही भावना प्रधान है।

वैराग्यसंदीपिनी
कवितावली
दोहावली
तुलसी सतसई
बरवै
नहछू
गीतावली
रामाज्ञा
जा० मं०
अयो० कां०
कृष्ण
गीता
वली

१६३१—३७ रामचरितमानस

पार्वतीमंगल
विनयपत्रिका

इस प्रकार की योजना में रामचरितमानस और विनयपत्रिका की रचनाओं में जो अत्यंत अन्तर पड़ता है उसमें कवि क्या करता रहा, इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। यह कहा जा सकता है कि यह समय उसने साधना में लगाया और इसके विरुद्ध कोई तर्क उपस्थित भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि तुलसी को साधना कविता से अधिक प्रिय रही होगी। परन्तु वह अपना अधिकांश साहित्य रामचरितमानस (१६३१) से पहले लिख चुका था, यह उस काव्य के कितने ही अंशों की उत्कृष्टता देख कर असंभव सिद्ध होता है।

तुलसी की रचनाओं में से तीन की तिथियाँ निश्चित हैं, क्योंकि उन्हें ग्रन्थकार ने ही दे दिया है।

रामचरितमानस	सं०	१६३१[१]
तुलसी सतसई	"	१६४२[२]
पार्वतीमंगल	"	१६४३[३]

अब समस्या अन्य ग्रन्थों की रह जाती है। पहली बात यह है कि तुलसी ने अन्य ग्रन्थों की तिथि क्यों नहीं दी, इस पर विचार होना चाहिये। 'मानस' के अतिरिक्त दो कम महत्वपूर्ण पुस्तकों में रचना तिथि मिलने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अन्य पुस्तकों की तिथि भी दे सकते थे। इसके तीन कारण हो सकते हैं।

(१) कुछ कृतियाँ अपरिपक्व अवस्था में लिखी हों एवं तुलसी ने उन्हें प्रारंभिक कृतियाँ कह महत्वपूर्ण न समझा हो।

१—संबत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धर शीसा।

२—अहि रसना१ थन-धेनु४ रस६ गनपति१ द्विज गुरुवार।
माधवसित सिय जनम तिथि सतसैय अवतारु॥

३—जयसंवत् फागुन सुदि पाँचै गुरुदिनु,
आस्विनि विरचेउँ सुनि सुख छिनु छिनु॥

स्वर्गीय पंडित सुधाकर द्विवेदी ने गणना करके बताया है कि उक्त योग सहित जयसंवत् १६४३ मे पडा था।

(२) कुछ कृतियाँ स्फुट रूप में रचित हुई हों और तुलसीदास अथवा अन्य किसी व्यक्ति ने उन्हें इस रूप में संग्रह किया हो।

(३) कुछ रचनाएँ उस काल की हों, जब तुलसी का आत्मदर्शन अत्यंत बढ़ गया हो। उनके लिए कवि-कर्म अप्रधान हो, साधना प्रधान हो, और उन्होंने अपनी रचना पर सन्-संवत देना उचित न समझा हो। रत्नावली के कथन से पता चलता है कि तुलसी ने संवत १६ ४ में ३५ वर्ष की आयु में संन्यास लिया। इसके बाद वे काशी गये, जहाँ नन्ददास उनके पास गये। नन्ददास के लौटने तक उन्होंने कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं की थी। फिर अयोध्या जाकर १६३१ में उन्होंने मानस प्रारम्भ किया।

कदाचित् काशी में आकर तुलसी संतमत से प्रभावित हुए। वैराग्यवृत्ति पहले थी ही, अतः यहाँ उन्होंने वैराग्यसंदीपिनी की रचना की। यह उनकी पहली सम्पूर्ण पुस्तिका थी। इसकी रचना मानस से पहले है—

तुलसी वेदपुरान मत पूरन सास्त्र विचार।
यह विरागसंदीपिनी अखिल ज्ञान को सार॥

परन्तु इससे पहले तुलसी ने कवितावली के छन्द अवश्य बनाये थे जो व्रज में थे। आरम्भ की यह रचना अवधी में नहीं हुई होगी, कवि की मातृभाषा व्रजभाषा में ही हुई होगी। परन्तु कवितावली में तुलसी के अंतिम काल का विस्तृत चित्र है, अतः उसके छंदों का रचनाक्रम कवि के जीवन के अंत तक चलता रहा होगा।

नहछू तुलसी की प्रौढ़ रचना नहीं है, अतः तुलसी ने अवध में आकर लोकगीतों एवं लोकाचारों को शुद्धता देने के लिए उसकी रचना की होगी। यह भी स्पष्ट है कि जानकीमंगल, पार्वतीमंगल के कुछ इधर या कुछ उधर लिखा गया होगा। कदाचित बाद में ही लिखा गया हो। रहीम ने बरवै लिखे हैं, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनकी रचना से पहले तुलसी इस छंद से परिचित नहीं थे। हिन्दी प्रदेश के पूर्वी प्रांतों की यात्राओं के समय वे अवश्य इससे परिचित

हुए होंगे। अतः इसकी रचना भी नहछू के समय के कुछ बाद आरम्भ हुई होगी और उसका क्रम एक लम्बे काल तक चलता रहा था, जैसा नाम-महिमा के बरवों से स्पष्ट है। यही बात दोहावली के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उसकी रचना भी तुलसी के संन्यास-जीवन के एक लम्बे काल तक चली होगी। यह स्पष्ट है कि इन सब ग्रन्थों में तुलसी का ध्यान बाह्य जगत की ओर अधिक है; उन्होंने लोक-जीवन और लोकाचारों का सुन्दर वर्णन किया है। उनकी अंतिम रचनाएँ विनयपत्रिका और अन्य स्फुट ग्रन्थों के वे छंद हैं, जो या तो आत्मकथा सम्बन्धी हैं या जिनमें आत्मानुभूति की मात्रा बहुत अधिक है। उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यही कहा जा सकता है; अन्यथा अनुमान का आश्रय लेना होगा। वास्तव में आवश्यकता यह है कि तुलसी के विभिन्न ग्रन्थों की मूर्तिमत्ता का अध्ययन किया जाय और उनसे तुलसी के कालक्रम के सम्बन्ध में निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न किया जाय। दूसरी बात तुलसी की जीवनी के निर्माण करने के सम्बन्ध में है। जब तक तुलसी के जीवन के सम्बन्ध में हम निश्चित तिथिओं पर नहीं पहुँचते तब तक हम उनके ग्रन्थों के रचनाक्रम के सम्बन्ध में भी निश्चित रेखायें नहीं बना सकते हैं, उनके कालक्रम की किसी विशेष योजना पर आग्रह नहीं कर सकते।

३—तुलसी की भाषा

तुलसीदास ने अपने काव्य में दो भाषाओं का प्रयोग किया है—ब्रजभाषा और अवधी, परन्तु वे इन भाषाओं को पूर्णतया शुद्ध रखने में सचेष्ट नहीं रहे हैं। कदाचित् उन्हें इस प्रकार की शुद्धता अभिप्रीत भी नहीं थी। तुलसी के सब ग्रन्थों का भाषा के दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका दृष्टिकोण क्या था।

तुलसी की दृष्टि भाषा से कहीं अधिक भाव पर थी। अतः उन्हें जो शब्द जहाँ मिला ले लिया; चाहे वह किसी भाषा का हुआ;

उन्होंने केवल यह देखा कि वह उनके अभिप्राय को व्यक्त करने में कहाँ तक समर्थ हो सकता था। व्याकरण के शुद्ध प्रयोगों की ओर भी उनका ध्यान नहीं गया। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया। इसने उनके काव्य को साहित्यिकता और नागरिकता दी और उसे अपेक्षाकृत अधिक जनता तक पहुँचाया। परन्तु वे यहीं नहीं रुक गये। उन्होंने कई भाषाओं से कहावतें और मुहावरे भी लिए और उनका अत्यन्त उपयुक्त स्थलों पर प्रयोग किया। इस अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण के कारण हम उनके काव्य को अनेक भाषाओं को स्पर्श करता और अत्यन्त गहन भावों की अभिव्यक्ति में सफल होता पाते हैं। वास्तव में तुलसी की भाषा उनके लिए इतनी सहज-स्फुरण-शील, शक्त और समर्थ हो गई है कि उसमें प्रयास कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ता और उनके वर्णनों और कथात्मक प्रसंगों का प्रवाह आश्चर्यजनक है।

गीतावली, दोहावली, कवितावली, श्रीकृष्णगीतावली और विनय-पत्रिका में व्रजभाषा का प्रयोग हुआ है; रामचरितमानस पश्चिमी अवधी में है, नहछू और जानकी मंगल एवं पार्वतीमंगल की भाषा पूर्वी अवधी है। रामचरितमानस के मंगलाचरण और कांड समाप्ति एवं कुछ श्लोक जो स्तोत्र के रूप में हैं, संस्कृत में हैं। मध्ययुग के सगुण भक्त-काव्य में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अत्यन्त प्रचुरता से हुआ है। विदेशी सांस्कृतिक आक्रमण की प्रतिक्रिया के कारण वह युग सांस्कृतिक उत्थान का था, इसलिए विषय और भाषा के लिए लोग संस्कृत-साहित्य की ओर मुड़े। फल यह हुआ कि तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा और इतर पूर्व काव्य में जो साहित्यिकता की कमी थी, वह आश्चर्यजनक शीघ्रता से पूर्ण हो गई। तुलसीदास ने भी तत्सम शब्दों का अत्यन्त उपयुक्त और साहित्यिक प्रयोग किया और वह भी अधिक मात्रा में। "उन्होंने अवधी में संस्कृत के सुमधुर शब्दों को भर कर उसकी नीरसता कम कर दी। जायसी ने ठेठ अवधी में

पद्मावत लिखी थी; पर उसमें वह रस नहीं है, जो रामचरितमानस में है।"[१]

श्री रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक "तुलसीदास और उनकी कविता" में तुलसीदास की भाषा पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनके अध्ययन से कई विचारपूर्ण बातें हमारे सामने आती हैं—

(१) तुलसी की भाषा में भोजपुरी[२], बुन्देलखंडी[३], राजपूतानी हिन्दी[४],

१—तुलसीदास और उनकी कविता भाग २, पृ० ४२६

२—बास पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करम चँद मंद मोल बिनु डोला रे॥
(विनयपत्रिका)
राजन राउर नाम जस सब अभिमत दातार
(राम० च० मा० अयो०)

३—दीजै भगति बाँह बैरक ज्यों सुबस बसै अब खेरो।
(विनयपत्रिका)
कनक कलस भरि कोपर थारा
(राम० च० मा० बाल०)
करबि सदा लरिकन्ह पर छोहू।
(वही)

४—जो विलोकि रीझइ कुँअरि, तब मेलइ जयमाल।
(बालकाण्ड)
जौं मम चरन सकसि सठ टारी।
(लंका० मानस)
दास तुलसी समय बदति मयनंदिनी मंदमति कंत सुनि मंत म्हाको
(कवितावली)
स्वामि दसा लखि लखन सखा कपि,
पिघले हैं आँच माठ मानो घिय के। (गीतावली)

गुजराती[४], बंगला[५], और मराठी शब्द[६] और व्याकरण प्रयोग भी मिलते हैं। लगभग इन सभी का प्रयोग रामचरितमानस में हो चुका है जो तुलसी की सं० १६३१ की रचना है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि या तो तुलसी किसी ऐसे स्थान के निवासी थे जहाँ भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासियों का आगमन और भाषा का आदान-प्रदान होता रहता था या उनका पर्यटन इस समय तक भी बहुत हो चुका था। पहली बात अधिक ठीक जान पड़ती है। वे अवश्य ही किसी तीर्थ-स्थान से संबंधित थे। यदि ऐसा न था तो इतनी थोड़ी अवस्था में इतनी विभिन्न भाषाओं के शब्दों का इतना उपयुक्त प्रयोग उनके लिए असम्भव था।

(२) तुलसी के काव्य में कहीं-कहीं खड़ीबोली की क्रियायें[७] भी

४—पालो तेरो-दूर को· परेहू चूक चूकिये न

(कवितावली)

सुनि खग कहत अंब मौगी रहि समुझि प्रेमपंथ न्यारो।

(गीतावली)

का छति-लाभ जून धनु तोरे

(राम० च० मान० बाल०)

५—तुम्हहि अछत को बरनै पारा।

(वही)

अंगद दीख दसानन बइसे।

(वही, लंका०)

६—बीर बड़ो बिरुदैत बली अजहूँ जग जागत जासु पँवारो।

(कवितावली)

७—नष्टमति दुष्ट अति कष्टरति खेद गत दास तुलसी संभु सरन आया

(विनयपत्रिका)

करि आईं, करिहैं, करती हैं,

तुलसीदास दासनि पर छाहैं।

(गीतावली)

(५)—हिन्दी के प्रारम्भिक काल के कवि जिस प्रकार अपनी भाषा को संस्कृत रूप देने की चेष्टा करते हैं (जैसे चन्द और विद्यापति) वैसे ही चेष्टा मानस में भी मिलती है। विशेषकर संयुक्ताक्षर शब्दों और अनुस्वार का प्रचुर प्रयोग। जिन छन्दों का विषय स्तुति है वहाँ यह बात विशेष रूप से मिलती है। स्तोत्र काव्य का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है।

(६)—तुलसी ने सैकड़ों योगरूढ़ि प्रयोग किये हैं। इनमें से बहुत से नये हैं और इस दिशा में उनकी कल्पना की तीव्रता और मौलिकता के द्योतक हैं। ऐसे प्रयोगों का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है। इससे तुलसी के मानसकोष पर विशेष प्रकाश पड़ेगा।[१]

(७)—"तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में इतने अधिक अरबी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया है, जितना शायद हिन्दी के किसी पुराने और नये कवि ने नहीं किया।"[२] पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक में उन अरबी फ़ारसी शब्दों की एक सूची दी है जो उन्हें रामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, वैराग्य संदीपिनी, रामाज्ञाप्रश्न, तुलसी सतसई, दोहावली, पार्वतीमंगल, रामलला नेहछू, जानकीमंगल, कृष्णगीतावली, बरवै और विनयपत्रिका में मिले हैं। इस सूची में ऐसे शब्दों की संख्या तीन सौ अट्ठासी है। इतने शब्दों का समुचित प्रयोग यह सिद्ध करता है कि या तो तुलसी इन भाषाओं से भली भाँति परिचित थे, या ऐसे प्रदेशों अथवा मनुष्यों में रहे थे, जिनमें यावनिक भाषाओं का प्रयोग होता था। यह भी सूचित होता है कि वह पश्चिमी प्रदेश के निवासी थे, नहीं तो वह अपनी धर्म-कविता में इतने विदेशी शब्दों का प्रयोग बिना

१—धूमध्वज (अग्नि), अंजनकेस (दीपक), किरनकेतु (सूर्य) आदि।

२—तुलसीदास और उनकी कविता, दूसरा भाग पृ० ४५६ फ़ारसी-अरबी शब्दो की विशेष सूची के लिए यही ग्रन्थ (४५८-४८०) अथवा 'रामचरित-मानस की भूमिका' देखिए।

हिचकिचाहट के नहीं करते। यह ठीक है कि राजभाषा होने के कारण अरबी फ़ारसी के अनेक शब्द उस समय तक देशी भाषाओं की बोलचाल में मिल गए थे, और सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों के काव्य में उनका प्रयोग हुआ है, परन्तु इतनी मात्रा में नहीं और कृष्णभक्ति केन्द्र विदेशी राजसत्ता के केन्द्र के अधिक पास भी था। काशी केन्द्र में अरबी फ़ारसी का इतना प्रभाव नहीं रहा होगा, न जनता में इतने अधिक शब्द ही पहुँच पाये होंगे।

महाकवि जीवन के समतल पर चला करते हैं और उसको स्पर्श करके बल लेते हैं। इसी लिए उनके काव्य में जन-प्रचलित मुहावरों और कहावतों का प्रचुर प्रयोग रहता है। इसी कारण उनका काव्य हमें अत्यन्त परिचित लगता है। युगों के सञ्चित अनुभव-कोष को जो मुहावरों और कहावतों में आबद्ध रहता है, वे उपयोग और आनन्द की वस्तु बना कर असंख्य मनुष्यों के लिए जीवन आदर्श का निर्माण करते हैं। हिन्दी में सबसे पहले विद्यापति में इनका प्रयोग बहुत बड़ी मात्रा में पाते हैं। विद्यापति के काव्य में लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग हुआ है) सूरदास और तुलसीदास के काव्य में भी हम पद पद पर इनसे परिचित होते हैं। तुलसी ने प्रत्येक परिचित भाषा से अपनी सामग्री इकट्ठी की है और उदात्त भावों की पुष्टि के लिए अत्यन्त सहज रूप से उसका उपयोग किया है। दाद देना, ख़ाका बूझना, माँग के खाना, मसजिद में सोना जैसे फ़ारसी के प्रयोग भी इनकी कविता में हैं। ग्राम्य जनता में चलने वाली सूक्तियों की मात्रा तो बहुत अधिक है। इन सब के कारण तुलसी का काव्य साधारण जनता के अत्यन्त निकट है।

तुलसी का भाषा संबंधी दृष्टिकोण इस दोहे से स्पष्ट है—

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच।
काम जो आवे कामरी का लै करै कवाँच॥

उन्होंने बिना किसी विभेद के अपनी भाषा को भाषा कहा है—

१—भाषा निबंधमति मंजुलमातनोति।

२—भाषा बन्ध करबि मैं सोई

वे उसे प्राकृत भी कहते हैं—

जे प्राकृत कवि परम सयाने।
भाषा जिन हरि चरित बखाने॥

उस समय संस्कृत के पंडित भाषा को हेय दृष्टि से देखते थे परन्तु देशकाल की आवश्यकता ने तुलसी को भाषा की ओर खींचा। यह सब होते हुए भी तुलसी ने किसी भाषा विशेष के लिए आग्रह नहीं दिखाया।

४—तुलसीदास के छन्द

तुलसीदास ने अपने काव्य में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। इन सब छन्दों की रचना में वे समानरूप से सिद्धहस्त जान पड़ते हैं। दोहों और चौपाइयों पर तो उनकी इतनी छाप है कि आज भारत का ग्रामीण भी तुलसी के दोहे-चौपाइयों को अन्य कवियों के दोहे चौपाइयों से सरलतापूर्वक अलग कर सकता है। इतने भिन्न छन्दों पर सफलता पाना आश्चर्यजनक है और यह सिद्ध करता है कि तुलसी ने छन्द-शास्त्र का गहरा अध्ययन किया था और उसे लोक-गीतों के छन्दों के ज्ञान से पुष्ट भी किया था।

"मानस में आठ प्रकार के मात्रे और ग्यारह प्रकार के वर्णवृत्त, कुल उन्नीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है।

मात्रिक छन्द—दोहा, सोरठा, चौपाई, चौपैया, तोमर, डिल्ला, त्रिभङ्गी और हरिगीतिका।

वर्णवृत्त—अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, तोटक, नगस्वरूपणी, भुजंग प्रयात, मालिनी, रथोद्धता, वसंततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीड़ित और स्रग्धरा।"

१—दोहा[१]

जथा सुअंजन आंजिदृग साधक सिद्धि सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन भूतल भूरि निधान॥

२—सोरठा[२]

जेहि सुमिरत सिधि होय गन नायक करिवर बदन।
करहु अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि-सुभ-गुन-सदन॥

३—चौपाई[३]

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥

४—चौपैया[४]

सुन मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका।
संग गोतनुधारी भूमि विचारी परम विकल भय सोका॥
ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जा करि तैं दासी सो अविनासी हमरेउ तोर सहाई॥

५—तोमर[५]

जय राम सोभा धाम। दायक पुनत विस्राम।

६—डिल्ला[६]

अनुज जानकी सहित निरंतर।
बसहु राम नृप मम उर अंतर॥

१—विषम चरण में १३ और सम चरणों में ११ मात्राएं होती हैं। अंत में लघु होता है

२—दोहे का उलटा सोरठा है।

३—१६ मात्राएं। लघु गुरु का कोई क्रम नहीं। अंत में जगण (।ऽ।) और तगण (ऽऽ।) न पड़े।

४—३० मात्राएँ। अन्त में ऽ।

५—१२ मात्राओं का छन्द। अन्त में ऽ।।

६—१६ मात्राओं का छन्द। अन्त में भगण ऽ।।

७—त्रिभंगी[७]

भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कोशल्या हितकारी ।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्‌भुत रूप विचारी ॥

८—हरिगीतिका[८]

भये कामवस जोगीस तापस पामरन की को कहै ।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहै ।
अबला बिलोकहिं पुरुषमय जग पुरुष सब अबला मयं ।
दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर काम कृत कौतुक अयं ॥

वर्णवृत्तों का प्रयोग संस्कृत छन्दों में हुआ है—

९—अनुष्टुप्[९]

रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरतोषये ।
ये पठन्ति नरा भक्त्या तेषां शंभुः पसीदति ॥

१०—इन्द्रवज्रा[१०]

नीलाम्बुजश्यामलकोमलङ्गं सीता समारोपितवामभागम् ।
पाणौ महाशायक चारु चापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

११—तोटक[११]

जय राम रमा रमनं समनं ।
भवताप भयाकुल पाहि जनम् ॥
अवधेस रमेस दिनेस विभो ।
सरनागत माँगत पाहि प्रभो ॥

१२—नगस्वरूपिणी[१२]

७—३२ मात्राओं का छंद । अन्त में ऽ

८—१६—१२ । अन्त में । ऽ

९—जिसके चारों पदों में पाँचवा वर्ण लघु और छठा दीर्घ हो और समपदों में सातवाँ वर्ण भी लघु हो, इनके अतिरिक्त अन्य वर्णों के लिए कोई नियम न हो, उसे श्लोक कहते हैं ।

१०—त त ज ग ग

१२—ज र ल ग

विनिश्चतं बदामि ते, न अन्यथा बचांसि में ।
हरिं नरां भजन्ति जेऽतिदुस्तरं तरन्ति ते ॥

१३—भुजंगप्रयात[१३]

नमामीशमीशान निर्वाणरूपं ।
विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदंस्वरूपं ॥
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं ।
चिदाकाशमाकाश बासं भजेऽहम् ॥

१४—मालिनी[१४]

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं ।
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रण्यम् ॥
सकल गुण निधानं वानराणामधीशं ।
रघुपति वरदूतं बातजातं नमामि ॥

१५—रथोद्धता[१५]

कोशलेन्द्र पद कञ्जमंजुलौ । कोमलावज महेश वन्दितौ ॥
जानकी कर सरोज लालितौ । चिन्तकस्य मनभृङ्ग सङ्गिनौ ॥

१६—वसन्ततिलका[१६]

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणेनिगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ॥
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥

१७—वंशस्थ[१७]

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः ।
मुखाम्बुज श्रीरघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मंजुल मंगलप्रदा ॥

१३—य य य य
१४—(न न म य य) ८, ७
१५—र न र ल ग
१६—त भ ज ज ग ग
१७—ज त ज र

१८—शार्दूलविक्रीड़ित[१८]

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुराः ।
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः ॥
यत्पादपल्लव एक हि भवाम्भोधेस्ति तीर्थावताम् ।
वन्देऽहं तमशेष कारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥

१६—स्रग्धरा[१९]

रामंकामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहम् ।
योगीन्द्र ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम् ॥
मायातीतं सुरेशं खलबधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवम् ।
बन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ॥

कवितावली में कवित्त, छप्पय, सवैया और झूलना छन्दों का प्रयोग हुआ है ।

२०—कवित्त[२०]

भूपमंडली प्रचंड चंडीस कोदंड खंड्यो
चंड बाहुदंड जाको ताही सों कहतु हौं ।
कठिन कुठार धार धारिबे की धीरताहि,
बीरता विदित ताकी देखिये चहतु हौं ॥
तुलसी समाज राज तजि सो बिराजै आजु,
गाज्यौ मृगराज गजराज ज्यो गहतु हौं ।
छोनी में न छाड्यौ छप्यौ छोनिप को छोना छोटो ।
छोनिप-छपन बाँको विरुद बहतु हौं ॥

२१—छप्पय[२१]

१८—(म स ज स त त ग) १२,७

१६—(म र भ न य य य) ७, ७, ७

२०—३१ वर्ण । अंत वर्ण गुरु । साधारणत: ८, ८, ८, ७ वर्णों का प्रयोग होता है ।

२१—प्रथम रोला (११, १३) के चार पद । तदुपरान्त उल्लाला (कहीं २६ मात्राएँ होती हैं, कहीं २८) के दो पद ।

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
व्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्खभर।
सुरविमान हिमभानु भानु संघटति परस्पर॥
चौंके विरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिव धनु दल्यौ॥

२२—सवैया[२२]

पुर तें निकसी रघुवीर वधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझति हैं "चलनो अब केतिक, पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जलच्वै।

२३—झूलना[२३]

पचंमुख छमुख मृगमुख्य भट,
असुर सुर सर्वि सरि समर समरत्थ सुरो।
बाँकुरो वीर विरुदैत विरुदावली,
बेद वंदी वदत पैज पूरो॥
जासु गुनगाथ रघुनाथ कह, जासु बल,
विपुल जल भरिन जग जलधि झूरो।
दीन-दुख-दमन को कौन तुलसीस है?
पवन को पूत रजपूत रूटो॥

२४—घनाक्षरी[२४]

जहाँ बन पावनो सुहावनो बिहंग मृग
देखि अति लागत अनंद खेत खूँट सो।
सीताराम-लखन-निवास बास मुनिन को
सिद्ध साधु साधक सबै बिबेक बूट सो॥

२२—समान, मात्रिक, सुन्दरी और सवैया भेद होते हैं।

२३—कई भेद हैं।

२४—३१ वर्ण। कई भेद।

झरना झरत झारि सीतल पूनीत बारि,
मंदाकिनी मंजुल महेस जटाजूट सो।
तुलसी जो राम सों सनेह साँचो चाहिए,
तौ सेइए सनेह सो बिचित्र चित्रकूट सो॥

बाहुक में छप्पय, झूलना, मत्तगयन्द और घनाक्षरी का प्रयोग हुआ है।

२५—मत्तगयन्द[२५]

अच्छ विमर्दन कानन-भान दसानन-आनन भा न निहारो।
वारिदनाद अकंपन कुंभकरन्न से कुंजर केहरि बारो॥
राम प्रताप हुतासन, कच्छ विपच्छ, समीर समीर दुलारो।
पाप तें, साप तें, पाप तिहूँ तें सदा तुलसी कहँ सो रखवारो॥

बरवै रामायण में बरवै छन्द हैं।

२६—बरवै[२६]

नाम भरोस, नाम बल, नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु॥

जानकीमंगल और पार्वतीमंगल में करुण और हरिगीतिका का प्रयोग हुआ है।

२७—अरुण[२७]

रूपरासि जेहि ओर सुभाय निहारइ।
नील-कमल-सर-श्रेनि मयन जनु डारइ॥

रामलला नहछू का छन्द सोहर छन्द है।

२८—सोहर छन्द[२८]

२५—भ ७+ग ग।

२६—पहले और तीसरे पदों में १२ मात्राएँ और दूसरे तथा चौथे पदों में ७ मात्राएँ। अंत में जगण रोचक होता है।

२७—५, ५, १०

२८—लोकगीत छंद।

आजु अवधपुर आनंद नहछू राम क हो।
चलहु नयन भरि देखिय सोभा धाम क हो॥

रामाज्ञाप्रश्न, सतसई और दोहावली दोहा-ग्रन्थ हैं। वैराग्य-संदीपिनी में दोहा, सोरठा और चौपाई का प्रयोग हुआ है। गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली और विनयपत्रिका में पदों का प्रयोग हुआ है। छन्दों का आधार संगीतशास्त्र है, छन्दशास्त्र नहीं; परन्तु छन्दशास्त्र की दृष्टि से भी पदों की विवेचना की जा सकती है। यदि तुलसी के पदों का अध्ययन किया जाय तो उसमें अनेक छन्द मिलेंगे।

तुलसी के छन्दों का प्रवाह भी आश्चर्यजनक है। कई पृष्ठों तक लगातार पढ़ते जाइए किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। प्रत्येक शब्द चुना हुआ है, यति और गति का स्थान निश्चित है। यति ऐसे स्थान पर है जहाँ वह छन्द के प्रवाह में सहायता देती है।

परन्तु रामचरितमानस और कवितावली में कहीं-कहीं शब्दों को ऐसे स्थान में भी रख दिया गया है कि यति भंग हो जाता है और छन्द के प्रवाह में बाधा पड़ती है। ज़रा से परिवर्तन से यह दोष दूर हो सकता था, परन्तु न जाने क्यों तुलसी ने ऐसा नहीं किया। उदाहरण के लिए—

जा बल सीस धरत सहसासन।
अंडकोस समेत गिरि कानन॥
कम्पहिं लोकप जाकी त्रासा।
तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥

(सुन्दरकांड)

परन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। ह्रस्व वर्णों के प्रयोग-बाहुल्य ने छन्दों में प्रवाह लाने में बहुत सहायता दी है और गुणों के प्रयोग में तुलसी ने अत्यन्त कलाप्रियता का परिचय दिया है। उनकी वर्ण-मैत्री और लघुवर्णों की आवृत्ति उनके छन्दों को प्रवाह-पूर्ण बनाने में कहाँ तक सहायता दी है, यह इस उदाहरण से स्पष्ट है—

जौं पट तरिय तीय महँ सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया॥

गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी ॥

तुलसी ने अत्यंत सुन्दर अन्त्यानुप्रास मिलाये हैं। इस विषय में वे बड़े चतुर हैं। साधारण पाठक भी उनके छन्द याद कर लेने पर केवल अन्त्यानुप्रास याद रख कर उन्हें दोहरा सकता है। जो सब से उपयुक्त अन्त्यानुप्रास हो सकता है, तुलसी ने उसी का प्रयोग किया है, परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं भाव-प्रकाशन की ओर उनका आग्रह अधिक था, पिंगलशास्त्र की ओर बहुत कम। यही कारण है कि कहीं-कहीं किसी चरण में एक अक्षर कम हो गया है किसी में एक अधिक। ऐसी ही बात अन्त्यानुप्रास के प्रयोग में भी है। उन्होंने कहीं-कहीं स्वरयुक्त व्यंजन की तुक मिलाने के स्थान पर केवल स्वर ही के तुक मिलाये हैं और अनेक स्थलों पर तुक भी नहीं मिलाये हैं। सर्वोत्कृष्ट काव्य उपस्थित करते हुये भी काव्यशास्त्र की ऐसी अवहेलना तुलसी जैसे भक्त-कवि की शोभा ही है।

५—रामचरितमानस : भूमिका

"हिन्दुओं के जितने भी धर्म-ग्रन्थ हैं, उसमें हिन्दू जीवन, हिन्दू आचार-विचार पर किसी एक ग्रन्थ का इतना व्यापक तथा चिरस्थायी प्रभाव नहीं पड़ा, जितना तुलसीकृत रामायण का।[१]" "इस बात को कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है कि संसार का कोई भी धर्म-ग्रन्थ इतना लोकप्रिय नहीं हो सका है जितना रामायण। रामायण का अनुवाद भारतवर्ष की सभी भाषाओं में हो चुका है और कई योरुपीय भाषाओं में भी। अद्यावधि हिन्दू-जाति की आध्यात्मिक संस्कृति तथा पवित्र एवं सदाचारपूर्ण जीवन का अधिकांश श्रेय रामायण के दिव्य सनातन संदेशों को है।[२]" "भावों और व्यवहारों की अद्भुत एकता

१—रामायण और हिन्दू-संस्कृति पर प्रभाव (डा० मुहम्मद हाफ़िज़ सय्यद) कल्याण १३, ३।

२—वही।

की वृद्धि करने में रामचरितमानस ने अपने समय में महत्वपूर्ण भाग लिया है। धार्मिक द्वेष को मिटाने में तो उस लोकप्रिय महाकाव्य ने विलक्षण ही सफलता प्राप्त की है।) जो शैव और वैष्णव एक दूसरे का सिर फोड़ते थे, उनमें एक दूसरे के प्रति बन्धुत्व जागृत करना इसी सुकृति का कार्य है। गोस्वामी तुलसीदास जी की निष्काम भक्ति के प्रवाह ने लोगों के क्षुद्र भेद भावों और मनोविकारों को बहा दिया।[१])

सच तो यह है कि यदि मानस का अध्ययन किसी एक पहलू से किया जाय तो वह कभी भी पूर्ण अध्ययन नहीं होगा। जिस प्रकार अनेक रंग अपने रंगों को मिला कर सूर्य रश्मि के रंग का निर्माण करते हैं और उसी को अपने अस्तित्व को सार्थक करते हैं, उसी प्रकार अनेक प्रसंग परिष्कृत रूप में मानस का अंग बने हुए हैं परन्तु यों परस्पर विरोधी दिखलाई पड़ते हुए भी वह वास्तव में एक परिपूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं। [मानस बुद्धिवाद का आख्यान नहीं है और न वह शुद्ध तार्किक स्थापनों का समीकरण है। वह अन्धश्रद्धा और अंधविश्वास का संवाहक भी नहीं है। उसमें कर्तव्य है, पर वह आदर्श से अनुप्राणित है। उसमें श्रद्धा है, पर वह विवेक से नियंत्रित है। उसमें पांडित्य है पर उसके साथ सदाचरण के तत्वों की अनिवार्यता का निरूपण है। उसमें अनासक्ति है, पर वह कर्तव्य से भागने की कायरता से कलुषित नहीं है। उसमें युद्ध है, पर वह व्यक्तियों के पैशाचिक उन्माद से घृणित नहीं हुआ है, वरन् जीवन की अर्चना में श्रेष्ठ मानवी अथवा देवत्व के भावों की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से हुआ है। उसमें राज्य और भोग है, पर वह राज्य और भोग अनासक्ति एवं आत्मोसर्ग से परिपूर्ण है। उसमें पुरुष है जो नारी को शृङ्गार की मर्यादा में बाँधता है पर उत्तरोत्तर कर्तव्य और

१—रामचरितमानस और राष्ट्र-निर्माण (श्री भगवानदास केला) वही।

धर्म से संस्कृत होता जाता है। उसमें नारी है, जो पुरुष की वासना की अनुगामिनी नहीं, अपने कष्ट-सहन, अपने चिरसखीत्व, अपने निरन्तर त्याग और अपने कर्तव्य गौरव से उसको मानवता की चरम सीमा तक उठाती है।"[१]

रामचरितमानस में तीन प्रधान प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चल रही हैं। वे स्थान-स्थान पर इस प्रकार मिल गई हैं कि उन्हें अलग करके रखना सम्भव नहीं है। परन्तु बिना कुछ न कुछ ऐसा किये तुलसी को ठीक-ठीक समझा भी नहीं जाता। वस्तुतः तुलसी के सम्बन्ध में जो आज इतना अध्ययन हो जाने पर भी अनेक भ्रान्तियाँ रह गई हैं उसका कारण यही है कि विद्वानों ने विश्लेषण से अधिक काम नहीं लिया। वे तीन प्रवृत्तियाँ क्या हैं ?

एक जो कदाचित् सब से प्रधान है, यह है कि धर्म के क्षेत्र में एक नये प्रकार की उपासना-पद्धति की स्थापना की जाय जिसके केन्द्र राम हों। यह प्रयत्न मूलतः सारे मानस में व्याप्त है और तुलसी की अन्य प्रवृत्तियों को ढके है। दूसरे समाज-सुधार की भावना जिसने तुलसी को व्यवस्थापक का पद दिया है। मानस के चरित्रों में आदर्श उपस्थित करके इसकी पूर्ति की गई है। तीसरे साहित्य की पुष्टि। इन तीनों प्रवृत्तियों को प्रकाश में लाने का साधन परम्परागत रामकथा है, जिसमें तुलसी को इन तीनों दृष्टिकोणों को सामने रख कर हेर-फेर करना पड़ा है।

सचमुच इन तीनों क्षेत्रों में काम करना कठिन था। ये तीनों प्रवृत्तियां मानस के निर्माण में योग देती हैं। इन्हीं से उसकी कथा-वस्तु प्रचालित है। इन्हीं से वह आज इस रूप में हमारे सामने है। परन्तु मानस का महत्व यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसका क्षेत्र और भी विस्तृत है उसमें और भी कितनी ही बातें हैं, जैसे धार्मिक सम्प्रदायों में सहिष्णुता उत्पन्न करने का प्रयत्न, आदर्श राज की कल्पना, आर्य-संस्कृति विरोधी धर्मों के विरुद्ध आवाज उठाना और साथ ही उन्हें

१—मानस परिपूर्ण मानवता का चित्र है। (श्रीरामनाथ सुमन) कल्याण १३, ३।

आत्मसात करने की चेष्टा करना, आदर्श वीर-भावना की धारणा उपस्थित करना और दार्शनिक मतवादों में सामञ्जस्य उत्पन्न करना। जब तक हम तुलसी के इन सब प्रयत्नों को अलग-अलग करके नहीं देख सकते तब तक हम उसके उस प्रयत्न के संश्लिष्ट रूप को भी समझ नहीं सकते, जिसका नाम रामचरितमानस है।

तुलसी ने अपने ग्रन्थ की सामग्री अनेक ग्रन्थों से ली है। "श्रीराम कथा का आदि स्रोत" 'वाल्मीकीय रामायण' है। गोसाईं जी ने भी प्रधान आश्रय इसी ग्रन्थ का लिया था। आदि रामायणकार होने के कारण गोसाईं जी ने इस कवीश्वर की वन्दना भी की है और इन्हीं के साथ हनुमन्नाटककार कवीश्वर की भी, क्योंकि हनुमन्नाटक से भी सहायता ली है। इनके अतिरिक्त योगवाशिष्ठ, अध्यात्म रामायण, महारामायण, भुशुण्डि रामायण, याज्ञवल्क्य रामायण, गीता, श्रीमद्भागवत, भरद्वाज रामायण, प्रसन्न राघव, रघुवंश आदि सैकड़ों ग्रन्थों की छाया रामचरितमानस में मिलती है।'

परन्तु मानस में रामचन्द्र के रूप-निरूपण, उनकी अलौकिकता के स्पष्टीकरण, ज्ञान, भक्ति, कर्म के समन्वय, और काव्य प्रधान के अनेक प्रसंगों में मुख्य रूप से श्रीमद्‌भागवत् को ही आधार बनाया गया है। नीचे हम इसी बात की विवेचना करेंगे—

(१) तुलसीदास जहाँ भगवान को प्राकृत रूप में उपस्थित करते हैं वहाँ भी वे बड़ी सावधानी से यह देखते रहते हैं कि कहीं कोई उन्हें केवल मनुष्य न समझ ले। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह बात चाहे कितनी ही दोषपूर्ण हो, भक्ति-रास की विवेचना के लिये आवश्यक है क्योंकि तुलसीदास भक्त अथवा महात्मा ही हैं, अतः वे इस विषय में सावधान रहते हैं। वे भगवान की मनुज रूप के अनुरूप होने वाली लीलाओं का वर्णन करते हैं और बराबर स्मरण दिलाते रहते हैं कि ये भगवान हैं। श्रीमद्‌भागवत में भगवान श्रीकृष्ण के लीला-वर्णन के प्रसंग में ठीक ऐसी ही बात आती है।

१—जो गोस्वामी का काव्य सौ (श्यामसुन्दरदास)।

प्रभवौ सर्वविधानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।
नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरैहितैः॥

(श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओं के उत्पत्ति स्थान, सर्वज्ञ एवं जगदीश्वर हैं। वे अपने अनन्य सिद्धि निर्मल ज्ञान को नरलीला से छिपाते हुए ही विद्याध्ययन के लिए जा रहे हैं।)

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥

राम को सीता के लिये विलाप करते हुए देख कर तुलसी कहते हैं—

पूरन काम राम सुख रासी।
मनुज चरित कर अज अबिनासी॥

मेघनाद के द्वारा जब राम नागपाश में बँध जाते हैं, तो वह यह कहना नहीं भूलते—

नर इव कपट चरित कर नाना।
सदा स्वतंत्र एक भगवाना॥

भागवत में इसी भाव के श्लोक हैं—

क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञ सम्भवाः।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यस्त्वखण्डिताः॥
यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्या
हिन्वन्त्यनाद्यात्म विपर्यय ग्रहम्।
लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरं
कुतो नु मोहः परमस्य सद्गते॥

(कहाँ तो अज्ञानियों में रहन वाले शोक, मोह, स्नेह और भय और अखण्डित विज्ञान, ज्ञान, ऐश्वर्यवाले अखण्ड प्रभु ? जिनके चरणों की सेवा से प्राप्त हुई आत्मविद्या के द्वारा महात्मा लोग अपने आत्मा के अनादि अज्ञान को नष्ट कर डालते हैं और आत्मसम्बन्धी ईश्वरीय अनन्त प्राप्त करते हैं, उन परम मोक्ष-स्वरूप भगवान को भला मोह कैसे हो सकता है ?) मानस और श्रीमद्भागवत सैकड़ों स्थानों पर भगवान की भगवत्ता का स्मरण दिलाते हैं। उनके अनुसार

भगवानकी लीला मनुष्य की लीलाएँ नहीं हैं। और उनमें जिन रसों का निरूपण हुआ है वे साधारण रस नहीं हैं, विशुद्ध रस हैं।

रामचरितमानस एक प्रासादिक काव्य है। उसकी रचना के समय कवि बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों से पूर्ण था और उसकी रचना के साथ साथ साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ रहा था। अन्त में वह इस ग्रन्थ को समाप्त करते करते साधना की एक विशेष सीढ़ी पार कर गया, उसे विश्राम मिला।

रामचरितमानस की रचना किस प्रकार हुई, यह महत्वपूर्ण है। कवि ने इसके सम्बन्ध में जो लिखा है, वह इस प्रकार है—

चली सुभग कविता सरिता सी।
राम विमल जस जल भरिता सी॥

तुलसी के आलोचकोंने इस कथन का समर्थन किया है—"रामायण की रचना के पूर्व गोस्वामी जी ने भले ही दीर्घ काल तक छन्द-शास्त्र एवं काव्यशास्त्र का अनुशीलन किया है; परन्तु उनकी कृति रामायण में कहीं भी किसी प्रकार के श्रम अथवा चेष्टा का आभास भी नहीं मिलता।"[१]

खोज करने वालों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानस का आधार २०० से ऊपर संस्कृत ग्रन्थ हैं। नीति, ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राम-कथा लगभग सभी के लिए तुलसी दूसरों का सहारा लेते हुए सिद्ध कर दिये गये हैं। अनेक संस्कृत श्लोक शब्दशः अनुवादित रूप में मिल जाते हैं। तब यह प्रश्न होता है कि तुलसी ने क्या अपने ग्रन्थ के प्रत्येक अंश को अन्य ग्रन्थों के स्थलों से ढूढ़ कर अनुवादित किया? यदि यह हुआ तो उनका परिश्रम कहीं लक्षित क्यों नहीं है? वस्तुतः इसका समाधान दो तरह से किया जा सकता है—

(१) तुलसी का काव्य दैव-प्रेरित है।

(२) उनका विस्तृत अध्ययन स्थान स्थान पर उन्हें सहारा देता है। वह अपने मूल लक्ष्य को सामने रखते हैं और स्वयं काव्य के

१—रे० एडविन ग्रीव्स। कल्याण १३,३।

प्रवाह में बह जाते हैं। स्थान-स्थान पर वह विश्राम भी ले लेते हैं और विषयान्तर भी कर देते हैं परन्तु उनकी चेतना सदा सतर्क रहती है।

वैज्ञानिक मस्तिष्क पहली बात स्वीकार नहीं करता। परन्तु वह यह अवश्य मानता है कि संसार के प्रसिद्ध तत्व-चिन्तकों और महा-कवियों में भाव-साम्य बहुत होता है। हमारा अर्थ दैव-प्रेरित कथ्य से यह है कि उसमें जो "भावागम होता है, उसमें समष्टि शक्ति की जो प्रेरणा होती है, अन्तःकरण में जो दैविक प्रकम्पन होता है वह एक रमणीय आनन्द की ओर लोकोत्तर स्थिति को प्राप्त होता है। उसी को दिव्य, अलौकिक और प्रासादिक, अतएव आर्ष काव्य कहते हैं। उसे सरस्वती स्वयम् कहती हैं। कवि माध्यम मात्र होता है।"[1]

तुलसी की कविता रामकथा के आनन्द से उद्भूत है और उनकी समष्टि शक्ति की प्रेरणा है—

भयउ हृदय आनन्द उछाहू।
उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू॥
चली सुभग कविता सरिता सी।
राम विमल जस जल भरिता सी॥

कवि इस आनन्द के उद्वेग में सतर्क रहता हुआ भी अनवरत बहता चला गया, इसी से उसमें श्रम अथवा प्रयास के कहीं चिह्न भी दिखलाई नहीं देते। "यह मानी हुई बात है कि कवि आन्तरिक प्रेरणा अथवा वाक् शक्ति के स्वतः प्रकम्प से अपने भाव और विषय में निमग्न होकर जिस वृत्ति से कविता करने लगता है," यदि अनवरत लिखता न गया, उसका ध्यान भंग हो गया, वह किसी दूसरी ओर चला गया, तो रचना की प्रासादिकता, स्वाभाविकता और प्रभाविकता की अवश्य हानि होती है; उसमें वह नैसर्गिक, लालित्य और माधुर्य

१ भाव साम्य मीमांसा (श्री० विन्दु ब्रह्मचारी)
कल्याण १३,२

नहीं रह जाता, जो अनायास संघटित दैवी रचना में होता है। मानस अपूर्व दिव्य प्रभाव रखता है। उसका प्रसाद और माधुर्य अलौकिक है, उसका प्रवाह अपरिच्छिन्न है, उसका चमत्कार अद्भुत है।"[1]

रामचरितमानस भक्ति-काव्य है। जहाँ एक ओर उसकी रचना तुलसी के लिए साधना का एक क्षेत्र थी, वहाँ दूसरों के लिये भी उसका अध्ययन इस प्रकार का क्षेत्र उपस्थित करता है।

२) तुलसीदास चाहते थे कि जनता में स्वधर्म और स्वसंस्कृति की ज्योति जगमगाती रहे और उनका ग्रन्थ इसमें सहायक बने।

(३) एक उद्देश्य "स्वान्तः सुखाय" है। यह तुलसी का साधनापक्ष है।

(४) तुलसी "गायन" और "कथा" के उद्देश्य को भी सामने रखे थे, अतः उन्होंने अत्यंत मधुर छन्दों में पुराणों की शैली पर इसे उपस्थित किया।[2]

(५) "जनता पाखण्डों से दूर रह कर भक्ति के बल पर संसार में रहते हुए भी संसार-सागर से पार हो सके, इसी लिए महाकवि तुलसीदास जी का यह स्तुत्य प्रयत्न है। यह काव्य अज्ञ जनता के लिए वैसे ही मार्ग प्रदर्शक है, जैसे समुद्र अथवा महासमुद्र में आने वाले जहाजों के पथप्रदर्शन के निमित्त दीपस्तम्भ।"[3]

(६) तुलसी ने अत्यंत बिनम्रता और दीनता से अपनी कवि-विवेक-हीनता स्वीकार कर ली, परन्तु कुछ पश्चात् ही उन्होंने राम-प्रभाव से सब काव्य-गुणों का ग्रंथ में इकट्ठा होना बतलाया है।[4] सच

---

१ भाव साम्य मीमांसा (श्री विन्दु ब्रह्मचारी) कल्याण १३, २

२ गावहिं सुनहिं सदा नर-नारी

जे गावहि यह चरित सँभारे

३ रामचरित मानस (पं० नरदेव शास्त्री) कल्याण १३, ३

४ मानस बाल० ६-१०

तो यह है कि तुलसी ने काव्यशास्त्र को भी अपने सामने रखा है, विशेष कर पहले दो कांडों में। स्वयम् पंडित होते हुए और अनेक उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थों से सहारा लेते हुए वह ऐसा न करते तो हमें आश्चर्य होता। परन्तु यह तुलसी की प्रतिभा है कि उन्होंने काव्य-गुणों और रामभक्ति में ऐसा सुन्दर संतुलन बैठाया है कि उनका ग्रन्थ उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ भी है और उत्कृष्ट धर्मग्रन्थ भी।"

रामचरितमानस का रचना सम्वत उसी में दिया हुआ है—

रचना-काल सम्वत सोरह सै एकतीसा।
करउँ कथा हरि पद धरि सीसा॥

इस विषय में कोई मतभेद नहीं। परन्तु मानस का प्रणयन किस दिन आरम्भ हुआ, इस विषय में मतभेद है। रामचरितमानस की पंक्तियाँ हैं—

नवमी भौमवार मधुमासा।
अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं।
तीरथ सकल तहां चलि आवहिं॥

इस प्रकार तिथि चैत्र शुक्ल ९ भौमवार है। परन्तु गणना करने पर यह तिथि बुधवार को पड़ती है, मङ्गलवार को नहीं। इस भेद के कारण के विषय में विद्वानों ने तीन तरह के अनुमान किए हैं—

(१) "चूंकि त्यौहार अक्सर प्रचलित तिथि में माने जाते हैं, न कि उस दिन कि जिसमें तिथि समाप्ति पाती है, यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदास ने अपनी रचना का प्रारम्भ मङ्गलवार को किया है, जिस दिन नवमी तिथि चल रही थी।"[1]

(२) "चूंकि तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे, और महादेव के बड़े उपासक थे, उन्होंने केवल शैव गणना सिद्धान्त के अनुसार रामनवमी मङ्गलवार को ही मानी।"[2]

१—इंडियन एण्टिक्वेरी १८६३ पृ० ६३

२—वही पृ० ६४

(३) डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है कि रामचरित मानस की प्रस्तावना कम से कम दो बार लिखी गई। उनका कहना है पहले कवि अयोध्या में ही लिख रहा है और

सम्वत सोरह से एकतीसा।
करउँ कथा हरि पद धरि सीसा॥

लिख कर आगे इस पंक्ति पर बढ़ गया है—

रामचरितमानस· येहि नामा।
सुनत श्रवन पाइअ विस्रामा॥

बीच की चौपाइयाँ उनके अनुसार पीछे की रचना हैं। पीछे कभी अपनी कृति को दुहराते समय उसे यह समझ पड़ा कि तिथि-रचना अधूरी रह गई, जिसे पूरा करना चाहिए, और यह समझ कर वह उन दिनों का स्मरण करने लगा जिन दिनों उसने अपनी रचना का प्रारम्भ किया था। उसे स्मरण आया कि वह तिथि चैत्र के शुक्ल पक्ष की नवमी थी, क्योंकि उस दिन अयोध्या में राम-जन्म-महोत्सव था। वार का स्मरण करने पर उसे भौमवार याद पड़ा। फलतः आगे इसी आशय की पंक्तियाँ जोड़ दीं। इस तर्क के अनुसार भौमवार कवि की भूल के कारण हुआ।[१]

जो हो, गणना से यह सिद्ध है कि जिस दिन कवि ने मानस की रचना आरम्भ की उस दिन बुधवार था।

शैली — मानस में जिन शैलियों का प्रयोग हुआ है उनमें भिन्नता है, परन्तु एक बात का प्रयास बराबर है—
"अरथ अमित अरु आखर थोरे।"

---

(१). मानस प्रणयन का आरम्भ किस दिन हुआ?
(डा० माताप्रसाद गुप्त) कल्याण १३,३

तुलसी के चरित्र

तुलसी ने मानस के द्वारा अनेक चित्र हमारे सामने रखे हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने गोस्वामी जी के चरित्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—"सात्विक, राजस् और तामस्। इन तीन प्रकृतियों के अनुसार चरित्र विभाग करने से दो प्रकार के चित्रण हम गोस्वामी जी में पाते हैं—आदर्श और सामान्य। आदर्श चित्रण के भीतर सात्विक और तामस् दोनों आते हैं। राजस् को हम सामान्य चित्रण के भीतर ले सकते हैं। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान और रावण आदर्श चित्रण के भीतर आवेंगे तथा दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी सामान्य चित्रण के भीतर। आदर्श चित्रण में हम या तो यहाँ से वहाँ तक सात्विक वृत्ति का निर्वाह पावेंगे या तामस का। प्रकृति भेद-सूचक अनेक रूपता उसमें न मिलेगी। सीता, राम, भरत, हनुमान ये सात्विक आदर्श हैं, रावण तामस आदर्श है[१]।" इसे हम इस प्रकार भी रख सकते हैं—

सात्विक चरित्र—सीता, राम, भरत, हनुमान तामस चरित्र—रावण	आदर्श चरित्र
राजस चरित्र—दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी	सामान्य चरित्र

परन्तु सच तो यह कि तुलसी के चरित्रों को आदर्श और यथार्थ की श्रेणी में रखना अधिक उचित होगा।

तुलसी के चरित्रों के निर्माण में जिन बातों ने सहायता दी है, वे ये हैं—

(१) वाल्मीकीय रामायण का यथार्थ चित्रण। (२) अध्यात्म रामायण की धर्म एवं भक्ति प्राणता जिसने अलौकिक आदर्श-चरित्रों की सृष्टि की। (३) तुलसी की भक्ति भावना। (४) उनकी

१—तुलसी ग्रंथावली—प्रस्तावना पृ० १६३

आदर्श मानव चरित्र उपस्थित करने की भावना। (५) तुलसी का यथार्थ निरीक्षण। (६) मूर्ति मत्ता। रामचरितमानस के चरित्रों का अध्ययन मूलतः दो प्रकार से हो सकता है—एक मानस को धर्म-ग्रन्थ मानकर और दूसरे उसे चरित्र-ग्रन्थ या महाकाव्य मान कर। धर्म-ग्रन्थ की दृष्टि से सारे मानस के चरित्र तीन भागों में बँट जाते हैं—

(१) राम

(२) राम भक्त और वे चरित्र जिन्हें राम का ब्रह्मत्व ज्ञात है।

(३) अन्य चरित्र जिन्हें राम का ब्रह्मत्व ज्ञात नहीं अथवा विशेष प्रसङ्गों के बाद ज्ञात होता है, यह चरित्र बहुत कम हैं और इन पर वाल्मीकि की छाप है। साधारण रूप से हम यह कह सकते हैं कि तुलसी के चरित्र चित्रण अध्यात्म रामायण के चरित्र चित्रण और तुलसी की मौलिकता का सम्मिलित फल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के चरित्र चित्रण का अध्ययन करने के लिए हमें उनका भक्ति अंश निकाल डालना चाहिये एवं वे अंश भी जो मूर्ति मत्ता के कारण अतिरञ्जित हो गये हैं। तभी हम तुलसी के चरित्रों को प्रकृतस्थ रूप में देख सकते हैं। इसके साथ ही हमें उनमें से अलौकिकता भी हटा देनी पड़ेगी। यदि हम इस प्रयत्न में सफल हो जायँ तो हमारे सामने दो प्रकार के चरित्र आयेंगे—एक आदर्श और दूसरे यथार्थ। तुलसी की मौलिक प्रवृत्ति अपने चरित्र को आदर्श बनाने की है, यह हम उनके आदर्श चरित्रों की संख्या से ही देख सकते हैं।

परन्तु यदि हम तुलसी के चरित्रों को संश्लिष्ट रूप में देखें तो यह स्पष्ट है कि उनके चरित्र-चित्रण की सम्पूर्णता में तुलसी की भक्ति-भावना और चरित्रों की अलौकिकता व्याघात पहुँचाती है। वास्तव में इन दो बातों ने तुलसी के चरित्र-चित्रण को एक विशेष सीमा से आगे नहीं बढ़ने दिया। वे विशेष मानसिक संघर्ष उपस्थित न कर सके, और कहीं-कहीं, जैसे दशरथ के चरित्र में, वे अपने पात्र के कार्य-विशेष के लिये कोई उपयुक्त कारण भी न दे सके। इसे हम

दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—तुलसी के चरित्रों के दो व्यक्तित्व हैं। एक का निर्माण केवल भक्ति से हुआ है, दूसरे का सात्विक, राजस्, तामस और कहीं कहीं दैवी गुणों से। मानस के समस्त पात्रों में प्रच्छन्न रूप से अथवा अप्रच्छन्न रूप से रामभक्ति व्याप्त है, चरित्र का यह अंश सब पात्रों में समान रूप से है। राम के परिवार में सुमित्रा बराबर राम के ब्रह्मत्व को जानती हैं,[१] एवं लक्ष्मण को राम की चरण-सेवा का उपदेश देती हैं। लक्ष्मण स्वयम् अवतार हैं और राम के सत्य रूप से परिचित हैं।[२]

गोस्वामी जी ने अपने चरित्रों को आदर्श बनाकर उपस्थित किया है। उन्होंने वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण के पात्रों से अपने पात्रों में कुछ विशेषता रखी है। पहली बात यह है कि उन्होंने अपने चरित्रों को अपेक्षाकृत अधिक संयत रखा है। उनके चरित्र शील की मूर्ति बन गये हैं। उनमें वह उच्छृंखलता नहीं है जो वाल्मीकि और अध्यात्म के पात्रों में स्थान-स्थान पर प्रगट होती है।

१—राम बनवास की सूचना मिलने पर वाल्मीकि के लक्ष्मण कहते हैं—"यदि यहाँ का कोई भी मनुष्य हमारे प्रतिकूल आचरण करे तो मैं अपने तेज बाणों से सारी अयोध्या को मनुष्यहीन कर दूँगा। क्योंकि यदि गुरुजन भी अभिमान के वशीभूत हो कार्य-अकार्य का विचार न करें और बुरे रास्ते पर चलने लगें तो उन्हें भीं दंड देना उचित है। अतः कैकेयी में आसक्त होने के कारण जिनकी बुद्धि मारी गई है, जिनका बर्ताव विवेकहीन बालक सा हो गया है तथा जो वृद्ध अवस्था

१— सकल सुकृत कर बड़ फल एहू।
राम सीय पद सहज सनेहू॥

२— जहँ लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीन बन्धु उर अंतरजामी॥

में कुत्सित एवं कृपण स्वभाव के हो गए हैं, उन वृद्ध पिता को भी अवश्य मार डालूँगा।" (अयो० २१ सर्ग)

अध्यात्म रामायण के लक्ष्मण के शब्द हैं—

"मैं उन्मत्त, भ्रान्तचित्त, कैकेयी के वशवर्ती राजा दशरथ को बांध कर भरत को उनके सहायक मामा आदि के सहित मार डालूंगा। आज सम्पूर्ण लोकों को दग्ध करने वाले कालानल के समान मेरे पौरुष को पहले वे सब लोग देख लें। हे शत्रुदमन राम! आप अभिषेक की तैयारी कीजिए। उसमें विघ्न उपस्थित करने वालों को मैं हाथ में धनुष-बाण लेकर मार डालूंगा।

(चतुर्थ सर्ग श्लोक १५, १६, १७)

मानस में यह प्रसंग इस प्रकार है—

समाचार जब लछिमन पाए।
व्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥
कम्प पुलक तन नयन सनीरा।
गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े।
मीनु दीन जनु जलते काढ़े॥

२—वाल्मीकि रामायण में अयोध्या कांड के छब्बीसवें सर्ग में श्री रामचंद्र सीता से कहते हैं—

ऋद्धि युक्ताहि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।
तस्मान्न ते गुणा कथ्या भरतस्यगतो मम॥

(ऋद्धियुक्त पुरुष दूसरे की प्रशंसा नहीं सह सकते, इसलिये तुम कभी भरत के सामने मेरी प्रशंसा मत करना)

(तुलसी ने ऐसी कोई बात राम के मुँह से नहीं कहलवाई जिससे उनके हृदय की दुर्बलता दिखलाई पड़े और उनके वैराग्य और वीरता की महिमा घटे।)

३—वाल्मीकि के लक्ष्मण सुमंत्र से कहते हैं—

अहं तावनमहाराजे पितृत्वं मोपलक्षये।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः॥
(अयो० सर्ग ५८)

(हम महाराज में पितापने का कोई लक्षण नहीं देखते.....)

तुलसी इस प्रसंग को दबा जाते हैं। वे अत्यन्त सतर्कता से लक्ष्मण को रोकते हैं—

पुनि कछु लखन कही कटु बानी।
प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥
बार बार निज सपथ देवाई।
कहिअ न तात लखन लरिकाई॥

रेखांकित शब्द वाल्मीकि पर तुलसी की आलोचना है। तुलसी लक्ष्मण के कथन को अनुचित समझकर हमारे श्रुति-पथ से बाहर रखते हैं।

४—वाल्मीकि के भरद्वाज भरत पर संशय करते हैं—

कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि।
अकण्टक भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च॥
(अयो० सर्ग ६०)

परन्तु मानस में भरद्वाज भरत से कहते हैं—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू।
धरे देह जनु राम सनेहू॥

५—अरण्यकांड में कपटी मृग की पुकार—

"हा लक्ष्मण! हा सीता!" सुनने पर सीता लक्ष्मण से कहती हैं—

सुदुष्टस्त्वं बने राममेकमेकोऽनु गच्छसि।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा॥
तन्वसिध्यन्ति सौमित्रे तवापि भरतस्य वा
रामं बिना क्षणमपि नैव जीवामि भूतले॥
गोदावरी प्रवेक्ष्यामि हीना रामेण लक्ष्मण।
आबन्धिष्येऽथवा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः

पिवामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेश्यामि हुताशनम्
न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे ॥
(बा० अरण्य० सर्ग ४५)

(तुम बड़े दुष्ट हो, मुझे बुरी दृष्टि से देखते हो ! इसीलिये राम के साथ वन आये हो । अथवा भरत के छिपे हुए दूत हो । पर लक्ष्मण तुम्हारी या भरत की इच्छा पूरी न होगी; क्योंकि राम के बिना मैं क्षण भर भी जी नहीं सकती । हे लक्ष्मण ! मैं गोदावरी में डूब कर मर जाऊँगी अथवा फाँसी लगा कर गला घोंट लूँगी या ऊँचे से कूद कर देह त्याग दूँगी अथवा विष खा कर या अग्नि में जल कर मर जाऊँगी पर राम को छोड़ कर कभी किसी का स्पर्श नहीं करूँगी)

तुलसी केवल एक शब्द लिखते हैं—

मरम बचन जब सीता बोला । हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।

६—युद्ध की समाप्ति पर राम सीता से कहते हैं—

तद्गच्छ त्वानु जानेऽद्य यथेष्टं जनकात्मजे ।
एता दश दिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया ।।
तदद्य व्याहृतं में त्वं मयैतत्कृतबुद्धिना ।
लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धिं यथा सुखम् ।।
शत्रुघ्ने वाथ सुग्रीवे राक्षसे वा विभीषणे ।
निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः ।।
(युद्ध सर्ग श्लोक ११५)

(हे जानकी अब तुम से कुछ मतलब नहीं । दशों दिशायें पड़ी हैं, चाहे जहाँ जाओ । लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सुग्रीव, वा विभीषण जिस पर तुम्हारा मन हो उसी को अपना बना लो ।)

मानस में तुलसीदास ने इस कटुप्रसंग का उल्लेख करके ही छोड़ दिया है—

तेहि कारण करुना निधि कहे कछुक दुर्वाद ।
सुनत जातुधानी सब लागी करैं विखाद ।।

राम

राम का चरित्र सभी रामायणों में कम अधिक समान है। वाल्मीकि के राम विशेष रूप से व्यवहार-चतुर हैं, अध्यात्म के विशेष रूप से अध्यात्म-प्रिय हैं परन्तु तुलसी में दोनों दृष्टिकोणों का सम्मिलन है। अध्यात्म के राम वेदांती और संसार से उदासीन हैं। वाल्मीकि के राम कुछ सशंक भी हैं। तुलसी ने अपने राम को विशेष सरल रखा है। वह कृतज्ञता और प्रेम की भावना से ओतप्रोत हैं—

रहत न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुनत सेवकन हिये की॥

वह सेवक की रुचि का ध्यान रखते हैं। वह क्षमाशील भी हैं। उन्हें प्रेम प्यारा है। वह अत्यन्त उदार हैं। गुह के थोड़ा कहने पर ही उन्होंने उसे पैर पखार कर चरणामृत लेने दिया और अंगद को विदा करते समय अपने गले की माला उतार कर उन्हें पहना दी। वह मर्यादा-भाव को खूब पहचानते हैं। अपनी बात का उन्हें जरा भी हठ नहीं। वाल्मीकि के राम भरत से कहते हैं—

लक्ष्मीश्चद्रायेयद्वाहिमावान्वा हियं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञा यहं पितुः॥

परन्तु तुलसी के राम प्रतिज्ञा भंग करने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी ने राम को समस्त श्रेष्ठ मानव-गुणों से विभूषित किया है और उनमें ऐसा संतुलन रखा है कि पाठक सहज ही राम के समीप आ जाता है।

"अनन्त शक्ति के साथ धीरता गम्भीरता और कोमलता राम का प्रधान लक्षण है।" तुलसी के राम एक ओर ज्ञान-विज्ञान में निपुण हैं तो दूसरी ओर शबरी और निषाद जैसे अकिंचन पात्रों से प्रेम का सम्बन्ध सफलतापूर्वक स्थापित कर लेते हैं। लक्ष्मण के उग्र और चपल व्यक्तित्व के सामने राम का धीर और गम्भीर व्यक्तित्व हमारे सम्मुख और भी उज्ज्वल हो कर आता है। लक्ष्मण-परशुराम-सम्वाद

के अवसर पर राम लक्ष्मण की चपलता और उनके व्यङ्गों का परिहार जिस विनम्रता से करते हैं वह वैसी परिस्थिति में किसी अवतारी पुरुष से ही सम्भव हो सकता था। अवधवासियों को चित्रकूट की ओर आते देख कर लक्ष्मण भले ही भरत के प्रति शङ्का करें, राम को अपनी सुशीलता के बल से भरत की सुशीलता पर पूरा विश्वास है—

भरतहि होइ न राज मद विधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि कांजी सीकरनि छीर सिन्धु बिनसाइ॥

लक्ष्मण और राम के चरित्रों का यह द्वन्द्व हमें अन्त तक मिलता है। लक्ष्मण की तरह राम में भी अतुल पराक्रम है परन्तु उसमें संयम और शील का स्निग्ध आवरण पड़ा हुआ है। समुद्र के किनारे खड़े हो कर समुद्र से विनय करते-करते तीन दिन बीत गये तब जा कर राम को क्रोध आया और "भय बिनु होइ न प्रीति" वाली नीति की ओर उनका ध्यान गया। वे बोले—

लछिमन बान सरासन आनू। सोखंउ बारिधि बिसिख कृसानू।
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥

जिसके खींचते ही "उठी उदधि उर अंतर ज्वाला"। उन्होंने पहले तीन दिनों तक हर प्रकार से विनय की। विनय की मर्यादा पूरी होते ही राम ने अपना पराक्रम प्रकट किया।

दशरथ

अध्यात्म और वाल्मीकि आदि के अनुसार दशरथ के चरित्र में निम्नलिखित बातें हैं—

१—स्त्री-लंपटता

२—सत्य-प्रेम

३—पुत्र-प्रेम

तुलसीदास ने स्त्री-लम्पटता से अपने चरित्र को मुक्त कर दिया है। यदि पिछले लेखकों के दशरथ से लम्पटता दूर कर दी जाय तो अध्यात्म अथवा वाल्मीकि रामायण में दशरथ के सत्य-प्रेम की अपेक्षा पुत्र-प्रेम ही विशेष प्रबल दिखलाई देता है। तुलसी के दशरथ

में भी पुत्र-प्रेम ही प्रबल है। सत्य प्रेम का संघर्ष उसमें पीछे छिप गया है। वास्तव में उसमें रामभक्ति का भी गहरा पुट लग गया है। तुलसी ने राम को इस दोहे के आदर्श पर खड़ा किया है—

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ[1] ॥

यद्यपि तुलसी ने "प्राण जाइ पर वचन न जाई" कहा है परन्तु कथानक में सत्य-प्रेम अधिक उठा नहीं है। तुलसी ने जहाँ अन्य चरित्रों में अध्यात्म और वाल्मीकि की अपेक्षा संयम और शील की प्रतिष्ठा की तीव्रता को कम किया, वहाँ यहाँ भी। अध्यात्म के दशरथ राम से कहते हैं—

स्त्रीजित भ्रात-हृदय मुन्मार्ग परिवर्तिनय।
निगृह्य मां गृहाणेदं राज्यं पापं न तेभ्रवेत् ॥
एवं भेदनृतं नैव मां स्पृशेद्रघुनन्दन ॥
(अयो० स० ३ श्लोक ६६)

इसी तरह वाल्मीकि रामायण के दशरथ राम के सम्मुख अपने को धिक्कारते हैं और उनसे अनुनय करते हैं कि वह स्वयम् अयोध्या के राजा बन जायँ—

अहं राघवकैकेभ्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भवराजा निगृह्य माम् ॥
(वा० सर्ग ३४ श्लोक २६)

परन्तु तुलसी के दशरथ शील और नियम की मूर्ति हैं। इस प्रसङ्ग को तुलसी ने अत्यन्त सतर्कता से इस प्रकार चित्रित किया है—

सुनि सनेह बस उठि नर नाहा।
बैठारे रघुपति गहि बाहा ॥

---

[1] और भी देखिए—

जियन मरन फल दशरथ पावा। अण्ड अनेक विमल जस छावा ॥
जियत राम विधु बदन निहारा राम विरह मरि मरन सँवारा ॥

सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं।
राम चराचर नायक अहहीं॥
सुभ अरु असुभ करम अनुहारी।
ईसु देइ फल हृदय विचारी॥
करइ सो करम पाव फल सोई।
निगम नीति असि कह सब कोई॥
और करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति विचित्र भगवन्त गति को जग जानै जोगु॥
राय राम राखन हित लागी।
बहुत उपाय किए छलु त्यागी॥

मानस के दशरथ का प्रवेश वृद्ध गृहस्थ के रूप में होता है। दशरथ धर्मवान और ज्ञानी हैं, उनकी चार पत्नियाँ हैं। वे भी धर्म-प्राण और पति के अनुकूल चलने वाली हैं। राजा गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं। सब रानिओं का समान भाव से आदर करते हैं परन्तु कैकेयी उन्हें विशेष प्रिय है। राज में सुख और शान्ति है परन्तु वृद्ध राजा का हृदय पुत्रेच्छा से दुखी है। इसके बाद हमें दशरथ का दूसरा चित्र मिलता है, जब उन्हें पुत्रों की प्राप्ति हो गई है और वे पत्निओं के साथ शिशु लीला का आनन्द लेते हैं। सब पुत्र उन्हें समान भाव से प्रिय हैं परन्तु रामचन्द्र विशेष प्रिय हैं जिसका कारण कदाचित् यह है कि पुत्रेच्छा की पूर्ति पहले पहल उन्हीं को पाकर हुई है। दशरथ की सुखी गृहस्थी का चित्र तुलसी ने बड़ी सफलता से खींचा है।

इसके बाद बालक बड़े हो जाते हैं और किशोरावस्था को प्राप्त करते हैं। उस समय विश्वामित्र राम लक्ष्मण की याचना करते हैं। राजा के हृदय में वात्सल्य और राजधर्म का संघर्ष उत्पन्न होता है। अन्त में वशिष्ठ के उपदेश से वे दोनों राजकुमारों को विश्वामित्र के साथ भेज देते हैं। राजधर्म की जय होती है। दशरथ का एक और सुखी चित्र वह है जब वह जनक के दूतों से धनुर्भंग का समाचार

पाते हैं। विवाह के सारे प्रसङ्ग में दशरथ और जनक आनन्द और वैभव के उच्चतम शिखर पर अवस्थित चित्रित किए गये हैं। यहाँ हमें उनके दानी, दूसरों का आदर करने वाले, और सुव्यवस्थित साम्राज्य के शासक-रूपों के दर्शन होते हैं।

भाग्य के इस उच्चतम शिखर पर पहुँच कर दैवचक्र से उन्हें अत्यन्त भीषण संघर्ष को प्राप्त होना पड़ता है। सत्य-प्रेम और सन्तान-प्रेम में से पल्ला किस ओर झुकता है, यह एक विषम समस्या उपस्थित हो जाती है। "वे राम को वनवास देने में सत्य की रक्षा और प्रतिज्ञा-पालन हृदय पर पत्थर रख कर—उमड़ते हुए स्नेह और वात्सल्य भाव को दबा कर—करते हुए पाए जाते हैं। इसके उपरान्त हम उन्हें स्नेह के निर्वाह में तत्पर और प्रेम की पराकाष्ठा को पहुँचते हुए पाते हैं। सत्य की रक्षा उन्होंने प्रिय पुत्र को वनवास देकर और स्नेह की रक्षा प्राण दे कर की।" मानस के दशरथ में हम अत्यन्त उच्चकोटि का पुत्र प्रेम पाते हैं। साथ ही वह अपनी छोटी रानी कैकेयी के वश में भी हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर हृदय की दुर्बलता है वहाँ दूसरी ओर वृद्धावस्था में पाये हुये पुत्र का मोह है। अपनी निर्बलता और सत्य प्रतिज्ञा का बन्धन, इन दो चट्टानों के बीच में दशरथ पिस जाते हैं। अन्तिम समय तक उन्हें स्त्री-परवशता की ग्लानि, कैकेयी पर निष्फल रोष और इस भावना का शिकार होना पड़ता है कि उन्हीं के कारण निर्दोष पुत्र को वनवास हो रहा है। इन सब बवण्डरों के साथ उन्हें अन्ध तापस के शाप की याद भी आती है और उनकी अन्तिम शय्या पर पूर्व कर्मों की दुःख-छाया स्पष्ट पड़ी रहती है। इस प्रकार दशरथ के चरित्र को हम अत्यन्त भीषण संघर्षों के बीच में चल कर आँधी में पड़े हुए एक महान् वट की तरह टूट जाता हुआ पाते हैं।

कौशल्या

कौशल्या के चरित्र के लिए तीन प्रसंगों का अध्ययन महत्व-पूर्ण है—

१—रामवनगमन २—दशरथ निधन ३—भरत-कौशल्या-सम्वाद। अध्यात्म और वाल्मीकि दोनों में कौशल्या का चरित्र आदर्श नहीं है। वाल्मीकि की कौशल्या राजा का निरादर करती हैं और उनके हृदय पर कटुवचन से चोट करती हैं—

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्।
त्वां साहं नानु जानामि न गंतव्याभितो वनम् ॥१५॥

× × ×

अहम् प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवतुम्।
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र नित्यं लोक विश्रुतम् ॥१८॥

(अयो० स० २१)

अध्यात्म रामायण की कौशल्या आत्म हत्या का भय दिखला कर राम को पित्राज्ञा से पराङ्मुख करने का प्रयत्न करती हैं—

पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः।
पित्राज्ञो वनं गंतुं वारयेहमहं सुतम्॥
यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लंघ्यनृप वाक्यतः।
तदा प्राणान् परित्यज्य गच्छामि ममसादनम्॥

(अयो० स० ४ श्लोक ११२, ११३)

इसीलिए तुलसी ने कौशल्या की स्वतंत्र रूप से रचना की। उनका साथी विवेक है, अविवेक वहीं

मातु विवेक अलौकिक तोरे।
कबहुँ न मिटिहि, अनुग्रह मोरे॥

वह रामचन्द्र के वनवास के अवसर पर कितने धैर्य और विवेक से काम लेती हैं—

जौं सुत कहउँ संग मोहि लेहू।
तुम्हरे हृदय होइ संदेहू॥

तुलसी की कौशल्या में कैकेयी के प्रति असूया भाव किंचित भी नहीं है। वह कैकेयी के पुत्र को भी राम की तरह प्यार करती है—

राम भरत दोउ सुत सम जानी।

और वनवास के समय अत्यन्त विवेक और संयम के साथ राम को इस प्रकार उपदेश देती हैं—

तात जाउँ बल कीन्हेउ नीका।
पितु आयसु सब धरम क टीका॥

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना॥
पितु बनदेव मातु बनदेवी।
खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥

अध्यात्म की कौशल्या दशरथ को कटुवचन कह कर उनकी मृत्यु को निकट लाने का कारण हुई (अयो० स० ७ श्लो० १६, १७, १८)। वाल्मीकि की कौशल्या यद्यपि भ्रष्ट वचन बोल गईं, परन्तु उन्होंने अपने को शीघ्र सँभाला। वह प्राकृत स्त्री कही जा सकती है, परन्तु आदर्श नहीं। तुलसी की कौशल्या आदर्श हैं। वह दुःख के समय भी अपने विवेक और धैर्य को हाथ से नहीं जाने देतीं। दशरथ मरण-शय्या पर हैं परन्तु कौशल्या आश्चर्यजनक धैर्य से उनका साहस बँधा रही हैं—

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू।
करनधार तुम्ह अवध समाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरजु धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू।
जौं जिय धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहि बहोरी॥

वाल्मीकि की कौशल्या भरत के हृदय को दुखाती हैं—इदंते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्त मकंटकम्। (अयो० स० ७६ श्लो० ११)

अध्यात्म की कौशल्या ने इस अवसर पर अत्यन्त आश्चर्यजनक

काम किया जो एक प्रकार से उनके पिछले चरित्र के विरोध में आ पड़ता है—

सापितं भरतं दृष्ट्वा मुक्तकंठं रुरोदहं ॥८१॥
पादयोः पतितस्तस्या भरतोऽपि तदारुदत् ।
आलिंग्य भरतं साध्वी राममाता यशस्विनी ॥८३॥

(अयो० स० ७)

तुलसी की कौशल्या इस प्रसंग में आदर्श चित्रित की गई हैं। उनके लिए भरत और राम में कुछ अन्तर ही नहीं है—

भरतहि देखि मातु उठि धाई । मुरछित अवनि परी झंई आई ॥

× × ×

मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी संभारि ।
लिए उठाइ लगाइ उर लोचन मोचित बारि ॥
सरल सुभाय मायँ हियँ लाये । अति हित मनहु राम फिर आये ॥
भेंटेउ बहुरि लखन लघु भाई । सोकु सनेहु न हृदय समाई ॥
देखि सुभाउ कहत सबु कोई । राम मातु अस काहे न होई ॥
माता भरत गोद बैठारे । आँसु पोछि मृदु बचन उचारे ॥
अजहुं बच्छ बलि धीरज धरहू । कुसमय समुझि सोक परिहरहू ॥

कैकेयी

कैकेयी का चरित्र लगभग सभी रामायणों में समान है। सब में कैकेयी की कुटिलता देवमाया से विमोहित होने के कारण है।[१] तुलसी ने इसी दृष्टिकोण को अपने सामने रखा है और इस प्रकार उसके चरित्र की विवेचना करने की चेष्टा की है। उनका मत है—

१—कैकेय्यावरदानादि यद्यन्निष्ठुर भाषणम् ॥
सर्व देवकृतं नोचेदेवं सा भाषयेत्कथम् ।
तस्मात्यजाग्रहं तात रामस्य त्रिनिवर्तते ॥

(अध्यात्म रा०)

वातुल भूत विवस मतवारे।
ते नहिं बोलहिं बचन संमारे॥

आगे चल कर वह भरद्वाज के मुँह से भी यही वचन कहलवाते हैं—

कैकयी हि दोष नहीं गई गिरा मति धूति।

परन्तु कैकेयी का अपना दोष हो या न हो, तुलसीदास का काव्य उन्हें क्षम्य नहीं समझता। तुलसीदास ने अयोध्या ३३—४३ में कैकेयी का विषद चित्रण किया है और उन्हें अत्यन्त निष्ठुर, पति-घातिनी और राम-द्वेषी चित्रित किया है। कैकयी का चरित्र यथार्थवाद की सभी सीमाओं को छू लेता है। वह जानती है कि दशरथ उसके वश में हैं, इसलिए उनसे प्राणघातक वरदान माँगने में उसे थोड़ी भी लज्जा नहीं है। राजा के अनुनय-विनय करने पर वह साधारण स्त्री की तरह कहती है—

कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागहि राउरि माया॥
देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥
राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राम मातु भलि सब पहिचाने॥
जस कौसिला मोर भल ताका। तस फलु उन्हहिं देउँ करि साका॥

सारे रामचरितमानस में कैकेयी का चरित एक लांछित चरित्र की भाँति उपस्थित किया गया है। वाल्मीकि रामायण में कैकेयी का चरित्र इस प्रकार लांछित नहीं है। आदि काव्य के रचयिता का दृष्टिकोण यथार्थवादी है और इसलिए हम कैकेयी को जीवित, स्पन्दित एवं महत्ताकांक्षा से अनुप्राणित देखते हैं। वह पति की प्रिय है,

---

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया।
राम प्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्कं भविष्यति॥
देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम्।
हितमेव भविष्यद्धि रामप्रवाजनादिह॥

(वा० रा० २।६२।२६-३०)

सौन्दर्य-गर्विता है, सपत्नियों से ईर्ष्या करती है। उसमें उदात्त भावनाएँ हैं और महत्वाकांक्षा की कमी नहीं है। रामायण की दुखान्त घटना का बीज कैकेयी के चरित्र में ही स्थित है, मंथरा उस बीज के ऊपर मिट्टी डाल कर, उसे अश्रुजल से सींच कर, अंकुरित होने का अवसर देती है। कैकेयी भरत को राजा बना देखना चाहती है, इसके लिए वह अंत तक इतनी कठोर बनी रहती है कि सहसा विश्वास नहीं होता। मानसकार ने कैकेयी को देवताओं की कार्यसिद्धि का अस्त्र बना कर उसे छोटा कर दिया है। कारण यह है कि तुलसी भक्त-कवि हैं और सारी रामकथा को रामभक्ति के दृष्टिकोण से देखते हैं। 'गई गिरा मति फेर' कह कर जहाँ वे कैकेयी की रक्षा करते हैं, वहाँ उसे कटु से कटु शब्द कहलाते नहीं चूकते। उन्होंने उसे उस स्थिति में रख दिया, जिस स्थिति में रामविरोधी पात्र रावण है। इससे जहाँ भक्तिभावना का प्रकाशन हुआ, वहाँ कैकेयी के मनोविज्ञान की अवहेलना भी हो गई।

पूर्वार्द्ध अयोध्याकांड में कैकेयी केतु बनी हुई है। सारी घटना के मूल में वही है। उसके चरित्र को गढ़ने में तुलसी को काव्य के सर्वश्रेष्ठ गुणों को हाथ में रखना पड़ा है। सारा प्रसंग सूक्ष्म मनोविज्ञान, भावों के घात-प्रतिघात एवं रस-सृष्टि के लिए द्रष्टव्य है। तुलसी कैकेयी के कोप, मान, वचन-चातुरी, कर्म-चातुर्य और स्त्री-हठ के अनेक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करते हैं।

परन्तु दशरथ-मरण के बाद कैकेयी की वेदना देखने योग्य है। भरत आये हैं। कैकेयी हर्षित है—

कैकेई हरषित एहि भाँती।
मनहुँ मुदित दव लाइ किराती॥

(अयो० १५६)

परन्तु जिस पुत्र के लिए उसने इतना कांड कर दिया, वह पुत्र उससे कहता है—

धीरज धरि भरि लेहिं उसासा।
पापिनि सबहिं भाँति कुल नासा॥
(अयो० १६१)

भरत के इन कटु वचनों की कैकेयी पर क्या प्रतिक्रिया हुई, तुलसी इस सम्बन्ध में मौन हैं। शत्रुघ्न कूबरी को मारते हैं परन्तु भरत उसे छुड़ा देते हैं और कौशल्या के पास जाते हैं। इस प्रयोग के बाद तुलसी ने कैकेयी की ओर से एकदम आँखें मोड़ लीं। सारे रामचरितमानस में वह मौन है, निपट मौन। प्ररन्तु इस मौन के पीछे कितनी लज्जा, कितनी ग्लानि, मन का कितना हाहाकार है, तुलसी ने इस सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं लिखा, सब पाठकों के अनुमान के लिए छोड़ दिया। रनवास में लांछित, प्रजा द्वारा अपमानित, पुत्र-परित्यक्ता, इस विधवा नारी की जीवन-व्यापिनी लांछा उसी प्रकार मौन है जिस प्रकार ऊर्मिला की वियोग-साधना। इसके बाद तुलसी कैकेयी को चित्रकूट एवं उत्तरकांड में राम के वन से लौटने पर अयोध्या में उपस्थित करते हैं। राम सब माताओं से पहले कैकेयी से मिलते हैं। इस प्रकार राम के शील-सौजन्य का विकास किया जाता है, परन्तु कैकेयी का आत्मप्रताड़न कवि की लेखनी से सहानुभूति के दो शब्द भी नहीं पाता। 'रामहि मिलत कैकई हृदयँ बहुत सकुचानि' (उत्तर० ६) कह कर तुलसी कैकेयी के लांछित जीवन पर पटाक्षेप कर देते हैं।

स्पष्ट है कि तुलसी की विशेष भक्तिभावना के कारण कैकेयी का चरित्र उस प्रकार विकसित नहीं हो सका, जिस प्रकार वाल्मीकि में, परन्तु इसके लिए तुलसी को दोष नहीं दिया जा सकता। उनका भक्तिभाव उनके और कैकेयी के बीच में पहाड़ की तरह खड़ा था।

सुमित्रा

सुमित्रा और लक्ष्मण के चरित्र समान हैं। दोनों तेजस्वी, विरक्त और रामचरण-रत हैं। सुमित्रा के चरित्र का अध्ययन करते समय

अयोध्याकांड की सुमित्रा लक्ष्मण की विदा (अ० ७५) और उत्तरकांड की सुमित्रा लक्ष्मण की भेंट के प्रसंग हमारे सामने हैं। राम के वनवास की बात सुनते ही सुमित्रा लक्ष्मण का कर्तव्य समझ लेती हैं—

तात तुम्हार मातु वैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
गुर पितु मातु बंधु सुर आईं। सेइ अहिं सकल प्रान की नाईं॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब माने अहिं राम के नातें॥
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥
भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरे मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ॥
पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगतु राम सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम विमुख सुत ते हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥

सुमित्रा का राम-प्रेम इतना बढ़ा हुआ है कि वे लक्ष्मण को उसी के माध्यम से प्रेम करती हैं—

भेंटेउ तनय सुमित्रा राम चरन रति जानि।

सुमित्रा के चरित्र में स्थित-प्रज्ञता भी यथेष्ट मात्रा में है। सारे राजमहल में बवंडर उठा हुआ है परन्तु उन्हें राम-वनवास का पता तब होता है जब स्वयम् लक्ष्मण उनके पास आते हैं—

पूँछे मातु मलिन मन देखी। लखन कही सब कथा विसेषी।
गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहु ओरा॥

इसके बाद के सारे प्रसंग से सुमित्रा के विवेक और आश्चर्य-जनक धैर्य का पता चलता है। उनका तेजस्वी रूप हमें मानस में नहीं मिलता। वह गीतावली में है। हनूमान संजीवनी लेकर लौट

रहे हैं। भ्रमवश भरत ने उन पर तीर छोड़ दिया। लक्ष्मण-मूर्च्छा की बात क्षण भर में रनवास में फैल जाती है। इस अवसर पर सुमित्रा के वीर-भावों का हमें परिचय मिलता है। मानस में यह प्रसंग नहीं है, परन्तु फिर भी सुमित्रा का चित्रण अत्यंत सजग बन पड़ा है।

भरत

भरत के चरित्र-चित्रण में तुलसीदास की वृत्ति कदाचित इसलिए और भी अधिक रमी है कि उन्होंने उसे अपने राम-भक्ति-पूर्ण व्यक्तित्व से पुष्ट किया है। भरत के रूप में तुलसीदास का ही भावना-जगत् हमारे सामने आता है। मानस का कोई भी पात्र इतना मौलिक चित्रित नहीं हुआ जितना भरत। "अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण में भरतजी का वर्णन है तो सही, परन्तु गोस्वामी जी के भरत-वर्णन की तुलना में इसका होना न होने के बराबर है।"[१] उत्तरार्द्ध अयोध्या-कांड के नायक भरत ही हैं और पूर्वार्द्ध का कथा-प्रसंग यद्यपि उन्हें परोक्ष में डाल कर चलता है परन्तु है उन्हीं के निमित्त।

"भरत के हृदय का विश्लेषण करने पर हम उसमें लोक-भीरुता, स्नेहार्द्रता, भक्ति और धर्म-प्रवणता का मेल पाते हैं।"[२] उनमें भक्ति की प्रतिष्ठा ही सबसे मुख्य रूप में हुई है। मानस के सभी पात्र भक्त हैं, परन्तु भरत जैसी भक्ति किसी की भी नहीं हैं। स्वयम् तुलसीदास इस कथन के साक्षी हैं—

भरत सरिस को राम सनेही।
जग जपु राम राम जपु जेही॥

भरत का पहला परिचय हमें दशरथ-निधन के बाद ननिहाल में होता है। इस परिचय-स्वरूप ही हमें उनके भ्रातृ-प्रेम और सरल हृदय के दर्शन हो जाते हैं—उन्हें अपशकुन होने हैं। वह माता-पिता, परिजन और भाइयों की कुशल मनाते हैं, दान करते हैं, विप्रों को

१—मानस हंस, पृ० १६८

२—तुसली ग्रन्थावली, तीसरा खंड पृ० १८८

भोजन कराते हैं।[१] इस भूमिका के साथ तुलसीदास भरत को कैकेयी के कुचक्रों के बीच उपस्थित करते हैं। अयोध्या में प्रवेश करते हुए भरत का चित्रण उनके भूमिका-स्वरूप परिचय को पुष्ट करता है।[२] कैकेयी के दशरथ निधन की बात सुनाने पर वह मर्माहत हो जाते हैं, परन्तु अपने लिए राम का वनगमन सुन कर तो वह स्तम्भित रह जाते हैं।[३] राज-काज की बात सुनकर उनका हृदय आत्म-ग्लानि से भर जाता है। वह माता को कटु वचन तक कहते हैं। यहाँ रामभक्ति के उत्साह में तुलसीदास उचित सीमा से कुछ आगे बढ़ जाते हैं, परन्तु वास्तव में भरत की प्रतिक्रिया का इससे सुन्दर चित्रण नहीं हो सकता था—

हंस बंसु दशरथु जनकु राम लखन से भाइ।
जननी तूं जननी भई विधि सन कुछ न बसाइ॥ (अयो० १६१)
राम विरोधी हृदय तें प्रगट कीन्हि विधि मोहिं।
मोह समान को पातकी बादि कहेउँ कछु तोहिं॥ (अयो० १६२)

शत्रुघ्न कुचक्री मंथरा को दंड देते हैं तो भरत दया करके उसे

१—अनरथ अवधि अरंभेउ जब तें। कुसगुन होंहि भरत कहुँ तब तें॥
देखहिं रात भयानक सपना। जागि करहि कटु कोटि कलपना॥
विप्र जेवाइँ देहि दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं विधि नाना॥
मांगहि हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

२—१५-१५८ (अयो०)

३—सुनत भरत भए विवस विषादा। जनु सहमेउ करि केहरि नादा॥
तात तात हा तात पुकारी। परे भूमितल व्याकुल भारी॥
भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥
सुनि सठि सहमेउ राजकुमारा। पाके छत जनु लाग अँगारा॥

छुड़ा देते हैं।[१] इसके बाद भरत कौशल्या से मिलते हैं। इस मिलन का जैसा सरस, सतर्क और मनोवैज्ञानिक चित्रण हमें मानस में मिलता है, वैसा अन्य किसी रामकथा-काव्य में प्राप्य नहीं। यहाँ भरत का आत्मप्रताड़न[२] और कौशल्या का स्नेह-वात्सल्य[३] दोनों के चरित्रों को ऊँचा उठाने में सफल हुए हैं। भरत कौशल्या को सफ़ाई अवश्य देते हैं कि राम के वनवास में उनका ज़रा भी मत नहीं, कदाचित् कुछ उग्र शब्दों में,[४] परन्तु कौशल्या द्वारा कही दो चौपाइयाँ राम-वनवास की राजनीतिक भित्ति को एकदम गिरा देती हैं। यह वह भित्ति है जिसे आदि कवि ने अत्यंत जागरूकता से खड़ा किया है और जिसके आधार पर रामायण-काल की राजनीति का अध्ययन किया जाता है।[६] तुलसी न राम के पिता दशरथ पर किसी प्रकार की लांछना देख सकते हैं, न भरत पर। उन्होंने सारा दोष कैकेयी और मंथरा पर रख दिया है और इसी दृष्टिकोण से भरत द्वारा माता कैकेयी को कटु वचन भी कहला दिये हैं। यह सब उनके रामभक्ति के उत्साह के कारण हुआ। जो भरत का चरित श्रेष्ठ काव्य और भक्ति की ज्योत्स्ना में नहा कर मानस में इतना चमक उठा है कि कहीं कहीं, जैसे अयोध्याकांड में, उसने राम के चरित्र को भी ढक लिया है।

अयोध्या के इस प्रसंग के बाद हम भरत को पुरजन-सहित चित्रकूट जाता पाते हैं। इस प्रसंग में भरत का शील हमें मोह लेता है।

१—भरत दयानिधि दीन्हि छुडाई।

२—धिग मोहि भयऊँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूसन भागी॥

३—मात भरतु गोद बैठारे। आँसू पोंछि मृदु बचन उचारे॥

४—देखिये अयो० १६७, १६८

५—मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय सुवहिं नयन जल छाए॥

६—वाल्मीकि रामायण की राजनीति के विवेचन के लिए देखिए 'रामायण में राजनीति' पुस्तक (ले० शालग्राम शास्त्री)।

वे शव-क्रियाकर्म के बाद गुरु-माता की आज्ञा माँगते हैं और जब उन्हें आज्ञा मिलती है—

प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू।

तो वे अत्यंत विनम्रता से अपनी बात भी रख देते हैं।[१] इसके बाद का भरत का चित्रण अत्यंत मौलिक है। वह रामभक्ति के प्रतीक के रूप में उपस्थित किये गये हैं। वनमार्ग में जाते हुए राम से संबंधित प्रत्येक स्थल, प्रत्येक व्यक्ति उनके लिए तीर्थ हो जाता है।[२] रामचरितमानस में तुलसीदास के चरित्र-चित्रण में सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने प्रत्येक पात्र को प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न रूप से रामभक्त चित्रित किया है। तुलसी का व्यक्तित्व रामभक्ति से इतना भरा है कि उनका प्रत्येक पात्र उत्कृष्ट रामभक्त हो जाता है। उनके पात्रों की मौलिकता और जनता का उनके प्रति आकर्षण का एक प्रधान कारण यह भी है। फिर कहाँ भक्तों के सिरमौर भरत! तुलसी उनके चित्रण के साथ धन्य हो उठे हैं। अयोध्याकांड के पूर्वार्द्ध की महत्ता है उसका मनोविज्ञान, उसका रस-निरूपण, एक विशाल पटभूमि पर पात्र उस समय सामने उपस्थित होते हैं जब

१—मोहि उपदेसु दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव समेत सब ही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥
गुरु पितु मात स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किएँ विचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥
तुम तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर फल होई॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीकें। तदपि होत परितोसु न जी कें॥

२—सृंगबेरपुर भरत दीख जब। भे सनेंह सब अंग सिथिल तब॥
रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू॥

जहँ सिंसुपा पुनीत तरु राम किय बिश्रामु॥
अति सनेंहँ सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनामु॥

मंथरा की योजना से उनके हृदय में उथ-पुथल है। उत्तरार्द्ध में इस प्रकार का कोई संघर्ष नहीं है। मौलिक संघर्ष के कारण पूर्वार्द्ध वाल्मीकि रामायण में भी उतना ही अच्छा बन पड़ा है, राजनीतिक पृष्ठभूमि के कारण वह महत्वपूर्ण भी है। यद्यपि तुलसी की सुन्दर काव्य-कला का वहाँ अभाव है, परन्तु अन्य रामकथाओं में अयोध्याकांड का उत्तरार्द्ध उतना सजीव नहीं बन पड़ा। वाल्मीकि में भी नहीं। तुलसी ने भरत के व्यक्तित्व को प्रेमविह्वला भक्ति से भर कर एक नया भव्य प्रासाद ही खड़ा कर दिया है। निषाद भरत को प्रणाम करता है, तो वे उसे तुरन्त हृदय से लगा लेते हैं,[१] उसे राम ने हृदय से लगाया है, वह पवित्र है, इसलिये। साधारण भक्त की तरह वे 'सीयराम'-भक्ति माँगते हैं।[३] कुस-साँथरी देख कर भक्ति-विह्वल हो प्रदक्षिणा करते हैं।[४] कितने हृदय-भावों को भरत के प्रति तुलसी ने अर्पित किया है, यह इन दो पंक्तियों से प्रगट है। भरत पैदल चल रहे हैं—

> झलका झलकत पायन्ह कैसें।
> पंकज कोस ओस कन जैसें॥ २०४॥

तुलसी के भरत आत्मदर्शन और आत्म-प्रताड़न की मूर्ति बनकर हृदय के अन्यतम प्रदेश में स्थान कर लेते हैं। उन्हें न माता के 'करतब' का शोच है, न पिता के मरने का। शोच यह है कि राम-लक्ष्मण बनवास का दारुण दुःख सह रहे हैं।[५]

१—करत दंडवत देहि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेम न हृदय समाइ॥

२—यह तो राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जगु पावन कीन्हा॥

३—भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू॥
जोरि पानि बर मागउँ एहू। सीय राम पद सहज सनेहू॥

४—कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई॥

५—अयो० २११

तुलसी की भक्ति-भावना भरत को राम से भी बड़ा बना देती है। राम से राम के भक्त बड़े हैं, यह तो उनकी धारणा है ही। प्रकृति भी इसी धारणा के अनुकूल चलती है—

किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥
(अ० २१६)

इसी भावना के कारण भरत की यात्रा का अत्यन्त विस्तार-पूर्वक चित्रण हुआ है।

चित्रकूट में जो सभा होती है, उसमें राम का चित्रण लक्ष्य है, परन्तु क्षेत्र अब भी भरत के हाथ है। स्वयं तुलसी का मत है—

भरत महा महिमा जल रासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला-सी॥
गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥
और करिहि को भरत बड़ाई। सरसी सीपि कि सिंधु समाई॥
(अ० २५७)

कहीं-कहीं तो एक ही पंक्ति में तुलसी भरत के व्यक्तित्व को सफलता-पूर्वक सामने खड़ा कर देते हैं—

पुलकि सरीर समाँ भए ठाढ़े।
नीरज नयन नेह जल बाढ़े॥

भरत जो कहते हैं, वह तुलसी ही के कहलाने की बात है[1]। भरत राम के सम्मुख अनेक प्रस्ताव उपस्थित करते हैं,[2] परन्तु उनकी वाग्विदग्धता उनके भक्तिभाव से परिचालित होने के कारण उनकी भक्ति को ही प्रकाशित करती है। जनक के आगमन के साथ प्रसंग की गंभीरता बढ़ जाती है, भरत फिर गद्‌गद् भाव से अनेक तर्क उपस्थित करते हैं, परन्तु राम की दृढ़ता उन पर विजय पाती है और भरत होनी समझ कर संतोष कर लेते हैं[3]। इसके बाद भरत रामचरण

१—अ० २६०—२६२

२—वही, २६८

३—भरतहि भयउ परम संतोषू।—३०७

रंजित चित्रकूट स्थली का भक्तिपूर्वक दर्शन करते हैं। भक्त के लिए चित्रकूट की कम महत्ता नहीं है।[१] इस अवसर पर तुलसी भक्त भरत की राम-सम्बन्धी प्रेमासक्ति का सुन्दर चित्रण कर सके हैं।

भरत लौट जाते हैं। लंकाकांड में हम उन्हें संन्यासी शासक के रूप में राम की पादुकाओं को लेकर अवध का शासन करते हुए पाते हैं। उत्तरकांड के आरम्भ में भरत के इसी प्रेमविरहासक्त रूप का सुन्दर चित्रण है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम-पदार-बिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

यह आत्म-संघर्ष और विरह-भक्तिभाव भरत के चरित्र की 'धुरी' है। मानस में भरत तुलसी के सब से मौलिक चरित्र हैं और उन्हें सप्राण बनाने के लिए तुलसी ने कुछ भी उठा ही नहीं रखा है। हो सकता है, भागवत के 'उद्धव' का थोड़ा प्रभाव भी हो, परन्तु शुद्ध भक्त के रूप में उपस्थित होकर भरत राम के भ्राता भरत से बहुत ऊपर उठ गये हैं और शिव एवं हनुमान की तरह भक्तों के लिए साधना का एक प्रतीक बन गये हैं।

सीता

सीता के चरित्र की मुख्य विशेषता उनका दृढ़ पातिव्रत है। उन्हें राम प्राण-प्रिय हैं। परन्तु कवि ने उनके चरित्र में स्त्री-सुलभ समस्त सरल सुन्दर भावों का सामञ्जस्य कर दिया है।

सीता को हम पहले-पहल कौमार्य-सुलभ उत्सुकता से भरा पाते हैं। विदेह के उपवन में सखी जब राम-लक्ष्मण को देख कर भावुकता

१—अ० ३०८—३१२

और स्नेहशीलता से (पुलक गात जल नयन) उनका वर्णन करती है तब सीता के हृदय में भी उन्हें देखने की उत्कण्ठा होती है। यद्यपि कवि "प्रीति पुरातन" कह कर अलौकिकता का समावेश कर देता है, परन्तु यह बात प्रसंग की लौकिकता में दब जाती है। इस उत्कण्ठा के कारण सीता में कौमार्य-चाञ्चल्य भी दिखलाई पड़ता है। परन्तु तुलसी अन्त में संयम की ही प्रतिष्ठा करते हैं। इसके बाद हम उन्हें स्वयम्वर-स्थल पर गुरुसमाज के बीच में लज्जाशीला कन्या के रूप में पाते हैं जिसके हृदय में अपने मन से चुने हुए पात्र के प्रति आकांक्षापूर्ण तीव्र अनुराग है, परन्तु परिस्थिति एवं गुरुजनों का सामीप्य जिसे संकोच में जकड़े है।

इसके अनन्तर हमें सीता के शील के दर्शन होते हैं। उन्होंने सुकसारिकाएँ पाल रखी हैं। बिदा होते हुए वह भारतीय कुमारिओं की तरह माता-पिता से सहज स्नेह प्रगट करती हैं और बार-बार सखिओं के गले मिलती हैं।

अयोध्या में सीता पहली बार हमारे सामने राम-वनवास के समय आती हैं उस अवसर पर हम उन्हें आदर्श पत्नी के रूप में देखते हैं।[1] उनकी सहिष्णुता की परीक्षा उस समय होती है जब कैकेयी उन्हें वनवास के योग्य वस्त्र पहनने को कहती है। चित्रकूट के प्रसंग में हम उनमें गुरुजन-सेवा और मर्यादा का भाव पाते हैं। हरण-प्रसंग में उनका अतिथि-सेवा-भाव हमारे सामने आता है। अशोक वाटिका की सीता में निर्भयता, धर्म-परायणता और उच्चकोटि के प्रेम के दर्शन होते हैं। हनुमान से वार्तालाप में उनकी सावधानता और बुद्धि-कौशल का परिचय मिलता है। तुलसी ने सीता में दाम्पत्य प्रेम

१—सुनिये माय मैं परम अभागी।
सेवा समय दैव बन दीन्हां॥ (कौशल्या से)
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे।
सरद विमल बिधु बदन निहारे॥ (राम से)

और सेवक-सेव्य भाव की रामभक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित किया है।

सीता के चरित्र में अलौकिकता एवं अति प्राकृतत्व का समावेश कुछ दो तीन ही स्थलों पर हुआ है, अतः उनका लौकिक रूप ही हमारे सामने आता है। वह यथार्थवाद से पुष्ट है। हिन्दू समाज की नारी की पूरी परिणति सीता के चरित्र में हो जाती है। उत्सुक कौमार्य, संकोचशील, स्वयम्वरा, वधू, पुत्रवधू, पत्नी, भाभी, गृहिणी सभी रूपों में सीता हमारे सामने आती हैं। सभी रूप सुन्दर हैं, अतः हमें प्रिय हैं। इस यथार्थ चित्रण के सामने जगज्जननी रूप दब जाता है, यद्यपि कवि स्थान-स्थान पर उसकी याद दिला देता है[1]। सच बात तो यह है कि कवि ने सीता को जगज्जननी रूप में चित्रित करने की चेष्टा की है, परन्तु कवि-परम्परा एवं यथार्थ चरित्र-प्रियता के कारण उनका चरित्र सामान्य आदर्श हिन्दू नारी जैसा हो गया है। उसकी सीता में सतीत्व की भावना स्थान-स्थान पर स्पष्ट हो गई है।[2] उत्तरकांड में हम सीता के रूप में आदर्श गृहिणी का चित्र पाते हैं:—

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील विनीता॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥
जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। विपुल सदा सेवा विधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥
जेहि विधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा विधि जानइ॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥
(उत्तर० २४)

१—सोह नवल तनु सुन्दर सारी। जगत जननि अतुलित छवि भारी॥
और रूप का व्यतिरेक से पुष्ट प्रसिद्ध रूपक में वर्णन।

२—रंगभूमि जब सिय पगुधारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥
और राम का विप्रलंभ चित्र जहाँ सीता के अङ्गों की प्रतिष्ठा प्रकृति से लिये गये उपमानों में की है।

यह एकदम नया चित्रित है जो तुलसी की आदर्श कौटुम्बिक भावना को हमारे सामने उपस्थित करता है।

लक्ष्मण

लक्ष्मण के चरित्र का मूल मंत्र तेज है। परन्तु उस तेज में भी वह गुरुजनों के सम्मान का ध्यान रखते हैं। यद्यपि उनका आत्माभिमान और आत्मसम्मान फूट कर ही रहता है। वह निर्भय, निःशंक, स्पष्ट-भाषी, भ्रातृभक्त, ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, और आत्मविश्वासी हैं। वह यथार्थवादी चित्रित हुए हैं। परिस्थिति के मूल में पैठ कर एक विशेष धारणा बनाने में युवकोचित शीघ्रता करना है। अदम्य साहस, निःस्वार्थ सेवा, उग्रता और असहिष्णुता—विरोधी प्रवृत्तिओं का मेल उनके चरित्र की विशेषता है। इसी के करण वह मानस के पाठक को इतने प्रिय हैं। "मानस के लक्ष्मण एक तेजपुञ्ज वीर हैं। गोस्वामी जी ने इन्हें चित्रित कर अपनी लेखनी को सार्थक किया है। परन्तु लक्ष्मणजी की ये सारी विशेषताएँ श्रीरामजी के प्रति उनके अनन्य सेवा-व्रत और उत्कट अनुराग से अनुप्रेरित हैं। श्रीरामजी का अपमान तो दूर रहा, अपमान की कल्पना भी उन्हें असह्य है। उनके चरित्र में यही बात सर्वत्र दिखाई देती है। श्रीराम के प्रति इस अनन्यता के कारण उनका चरित्र इतना आकर्षक और सर्वजन-प्रिय हो गया है। उनकी उग्रता और असहिष्णुता भी ग्राहक हो गई है।"[१]

कुछ विद्वानों ने लक्ष्मण-परशुराम संवाद को चरित्र-चित्रण की दृष्टि से दूषित कहा है। उनका कहना है कि उसमें लक्ष्मण ने जिस धैर्य, विनोद और विनयशीलता का परिचय दिया है, वह उनके उद्धत चरित्र के अनुकूल नहीं पड़ती। परन्तु सच तो यह है कि लक्ष्मण की वह व्यंगप्रियता उनके तेज का ही एक रूप है। उसके पीछे लक्ष्मण

१—'कल्याण' १३, २; पृ० २०३२

के चरित्र की मूल प्रवृत्तियाँ छिपी हुई हैं। अतः वह प्रसंग उनके चरित्र के विरोध में नहीं पड़ता।

शत्रुघ्न

शत्रुघ्न का विशेष चित्रण नहीं हुआ है, केवल अयोध्याकांड में उनके मंथरा पर क्रोध करने और उसके कूबर तोड़ने का उल्लेख है। स्पष्ट है कि उनका स्वभाव लक्ष्मण से भिन्न नहीं है।

हनुमान

निःस्वार्थ सेवाभाव और रामभक्ति, बुद्धिमत्ता, शौर्य, स्वामिभक्ति—इन गुणों से हनुमान का चरित्र विभूषित है। परन्तु शौर्य के वर्णन में अति प्रकृत कल्पनाओं को भी स्थान मिला है। राम की अलौकिकता और उनकी भक्ति की महानता के द्वारा हनुमान के प्रकृत कर्मों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। एक प्रकार से हनुमान का चरित्र दास्य-भक्ति का प्रतीक है। रामजी की ओजस्विता और विवेक, भरतजी का वैराग्य और रामभक्ति, लक्ष्मणजी का शौर्य और राम-सेवा, रावण का पौरुष और प्रवणता, कुम्भकरण का धैर्य और धड़क और निज का बुद्धिचातुर्य, अतुल बल और मनोजव, इन गुणों का समीकरण गोस्वामीजी के हनुमानजी हैं। इसी लिए स्वामीजी ने उन्हें इस विशिष्टता से मनाया है—

> महावीर बिनुवउं हनुमाना।
> राम जासु जस आपु बखाना॥
> प्रनवउं पवन कुमार खल बन पावक ग्यान घन।
> (शौर्य) (बुद्धि)
> जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धन॥
> (रामभक्ति)

इन सब गुणों के साथ हनुमान आदर्श सेवक की तरह निर्त्रस सदा तत्पर और अमानी हैं।

अंगद

बल और बुद्धि में अंगद हनुमान की भाँति चित्रित किये गये हैं परन्तु कदाचित् राजकुमार होने के कारण उनका स्वभाव उद्धत है। लंका की राज-सभा में उन्होंने दूत होते हुए भी रावण से जिस प्रकार का अमर्यादित वार्तालाप किया है, वह उनके लिये श्लाघ्य नहीं है। तुलसीदास ने अन्य पात्रों की तरह अंगद को भी रामभक्त चित्रित किया है। उत्तरकांड में विदा के समय राम का अंगद के प्रति विशेष स्नेह दिखला कर तुलसी ने मौलिकता का परिचय दिया है।

निषाद

निषाद के चरित्र-चित्रण का मूल है निष्कपट स्वामीभक्ति। परन्तु तुलसीदास ने उसमें रामभक्ति का अत्यन्त तीव्र पुट देकर उसे और भी अलंकृत कर दिया है। अन्य रामायणों की अपेक्षा तुलसी के निषाद का चरित्र अधिक स्पष्ट है और उसका एक अपना मधुर व्यक्तित्व है।

सुग्रीव

सुग्रीव के चरित्र में कोई विशेषता नहीं है। वह सतर्क, भीरु-हृदय, स्वार्थी, रामप्रेमी और मित्र एवं विलासप्रिय चित्रित किये गये हैं। वह वीर अवश्य हैं परन्तु हम उन्हें कुशल सेना-संचालक के रूप में नहीं पाते। "वे सुख विलास में फँस कर राम का कार्य भूल गये। जब हनुमान ने चेताया तब वे घबड़ाये और अपने कर्तव्य में दत्त-चित्त हुए।"

विभीषण

तुलसीदास ने विभीषण के निन्दनीय चरित्र को उनके सन्त-स्वभाव और रामभक्ति की वीथिका देकर अत्यन्त मधुर कर दिया है। तुलसी के विभीषण आर्त्त और अर्थीभक्त हैं। वह नम्रता, दीनता और स्नेह की मूर्ति हैं।

कुम्भकरण

तुलसी के कुम्भकरण में हम उच्च कोटि की रामभक्ति पाते हैं। उसके राक्षस स्वभाव का प्रदर्शन दबा कर, और उसमें दूरदर्शिता, कर्तव्य-बुद्धि, आश्चर्यमय युद्ध-कौशल और निरपेक्ष, निःसीम और नितान्त रामप्रेम की स्थापना कर तुलसी ने उसे एक अद्भुत चरित्र बना दिया है।

मेघनाद

मेघनाद को चित्रित करते समय तुलसी ने यह ध्यान रखा है कि वह लक्ष्मण का प्रतिपक्षी है। उसमें शौर्य, धैर्य, युद्ध-कौशल और आत्मोत्सर्ग लगभग उसी मात्रा में स्थापित किया गया है जिस मात्रा में वह लक्ष्मण में है, परन्तु उसमें क्रोध आदि तामसिक वृत्तियाँ अधिक मात्रा में हैं। महत्वपूर्ण राक्षस पात्रों में मेघनाद ही ऐसा है जिसमें तुलसी रामभक्ति की स्थापना करना भूल गये हैं। मेघनाद के चरित्र में उसकी ऐन्द्रजालिक शक्ति ने विशेष चमत्कार ला दिया है।

रावण

रावण के चरित्र में रजोगुण और तमोगुण का सुन्दर मेल है। वह इन्द्रिय-लोलुप, कुटिल राजनीतिज्ञ, क्रोधी और महान् बलशाली चित्रित किया गया है। उसमें व्यवहार-चतुरता उत्कृष्ट मात्रा में है जैसा रावण-अंगद-संवाद से सिद्ध होता है। वह विरोधी भक्त तो नहीं है, परन्तु उसने एक निश्चित अर्थ-सिद्धि के लिए राम का विरोध किया है। जैसा इन पंक्तियों से प्रगट होता है—

सुररंजन भंजन महिभारा। जो भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तो मैं जाई बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्राण तजे भव तरऊँ॥
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥
जो नर रूप भूप सुत कोऊ। हरिहौं नारि जीति नर दोऊ॥

परन्तु मेघनाद-वध के बाद वह पुत्रशोक से आकुल हो जाता है और इसके बाद बदला लेने की भावना ही उसमें प्रबल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रावण का चरित्र प्रतिनायक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, परन्तु तुलसी ने उसे प्रच्छन्न रामभक्त बना कर प्रतिनायकत्व की तीव्रता हटा ली है। फिर भी रावण की निरशंसता, कठोरता, व्यावहारिकता, आत्म-संमय, वीरता और ऐश्वर्य का तुलसी ने सुन्दर चित्रण किया है। इतना होने पर भी रामभक्ति के आवेश में उन्होंने अन्य पात्रों से रावण को निष्प्रयोजन गालियाँ दिला कर भूल की है।

मन्दोदरी

अध्यात्म और वाल्मीकि में मन्दोदरी का कोई विशेष व्यक्तित्व नहीं है। तुलसीदास की मन्दोदरी का अपना विशेष व्यक्तित्व है, जिसके मूल में उसकी रामभक्ति है। यह रामभक्ति मन्दोदरी को अपने पति का निरादर करने का भी कारण बनती है, परन्तु तुलसी नर-काव्य नहीं लिख रहे थे, अतः उन्होंने मन्दोदरी के इस व्यवहार को उचित समझा। वास्तव में पत्नी की दृष्टि से मन्दोदरी का चित्रण ठीक नहीं हुआ।

वशिष्ठ और जनक

वशिष्ठ और जनक का चित्रण लगभग एक सा हुआ है। दोनों में ब्रह्मज्ञान, व्यवहार-चतुरता और प्रेमपरता के दर्शन होते हैं। जनक स्नेही पिता भी चित्रित किये गये हैं। सीता के विदा-समय के चित्रण से उनके चरित्र में विशेषता आ गई है। इसके अतिरिक्त तुलसी ने अध्यात्म रामायण और वाल्मीकि के विरोध में जनक को चित्रकूट पहुँचा कर उनके चरित्र-चित्रण के लिए अच्छा अवसर उपस्थित किया है। वाल्मीकि और अध्यात्म में जनक का अयोध्या की इतनी महत्त्वपूर्ण घटना पर चुप रह जाना मौन रूप से उनके चरित्र पर कलंक लाता है।

यह तो हुई व्यक्तिगत चरित्र-चित्रणों की बात। तुलसी ने समाज के अनेक समूहों, पथ की नर-नारियों, यतियों, ऋषियों और ऋषि-पत्नियों एवं देवताओं के भी सुन्दर चित्रण उपस्थित किये हैं। ऐसे चित्रण अधिकांश रूप से किसी विशेष गुण या अवगुण को हमारे सामने रख देते हैं। तुलसी ने देवताओं और राम-विरोधियों के चित्रण संयत भाव से नहीं किये, ऐसा लोगों का कहना है। परन्तु इसमें तुलसी के दृष्टिकोण का दोष है, तुलसी का नहीं। तुलसी भक्त पहले हैं, कवि बाद में, यह भूलना ठीक नहीं। उन्होंने देवताओं को इसी लिए स्वार्थी आदि कहा है कि राम को उन्हीं के कारण वनवास भोगना पड़ा। स्वस्थ भक्त के दृष्टिकोण से तुलसी का चित्रण मौलिक और सबल है।

६—तुलसी की काव्य-सम्पदा

रस

रस की दृष्टि से रामचरितमानस का अध्ययन करने से पहले हमें भूमिका के रूप में कुछ कहना है। मानस भक्ति-रस-प्रधान काव्य है, अन्य रस इस रस के सहायक एवं पूरक हैं। केवल अयोध्याकांड में ही हम कवि को लौकिक रसों की ओर थोड़ा बहुत उन्मुख पाते हैं। सारे मानस में भक्ति रस के साथ शांत रस भी व्याप्त है। रस की परिणति शान्त रस में ही है। यहाँ हमारा तात्पर्य काव्य के शांत रस से है नाट्य से नहीं। रसों की दृष्टि से हम मानस का विभाजन नहीं कर सकते। प्रत्येक कांड में अनेक रस हैं। परन्तु फिर भी कुछ कांडों में कुछ विशेष रस प्रधान हैं। इस दृष्टिकोण से हम कांडों और उनके रसों की एक तालिका इस प्रकार बना सकते हैं—

१—बालकांड	वात्सल्य, रौद्र, शृङ्गार, अद्भुत।
२—अयोध्याकांड (पूर्वार्द्ध)	भयानक, करुण, रौद्र, वात्सल्य।
(उत्तरार्द्ध)	भक्ति, विरह।
३—अरण्य	भक्ति, करुण, वात्सल्य, शृङ्गार।

४—किष्किन्धाकांड	भक्ति,	वीर।
५—सुन्दरकांड	भक्ति,	अद्भुत।
६—लंकाकांड	वीर,	भयानक, रौद्र, करुण, वात्सल्य।
७—उत्तरकांड	अद्भुत,	करुण, शांत।

परन्तु यह विभाजन अन्य रसों के अस्तित्व को अस्वीकृत नहीं करता। हम डा० रामकुमार वर्मा के इन शब्दों से पूर्णतः सहमत हैं—"किसी कांड में कोई रस-विशेष नहीं है। सभी कांडों में रस-वैचित्र्य है। वीभत्स रस अवश्य केवल लंकाकांड और अरण्यकांड ही में परिमित है। अन्य रस प्रसंग के संकेत से ही प्रवाहित होने लगते हैं।"[१] सच तो यह है कि मानस में तुलसी एक अत्यंत रस-सिद्ध कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्हें किसी भी रस-विशेष की ओर से क्रमण करते हुए देर नहीं लगती। परन्तु कविता के अनेक रसों के साथ मानस में आद्योपांत प्रवाहित उत्कृष्ट भक्ति रस का भी मेल स्वतः हो जाता है, जो प्रकृत रसों को परिष्कृत कर ऊपर उठा देता है।

शृङ्गार रस

हमारे कवियों ने पर्वराग की प्रतिष्ठा की है और इस अवस्था को शृंगार-परिपाक की पहली सीढ़ी माना है। वाल्मीकि और अध्यात्म में सीता-राम के पूर्व राग का कोई निर्देश नहीं है, परन्तु तुलसी ने हनुमन्नाटक का अनुसरण करते हुए पूर्वराग भी दिखाया है।

तुलसी के शृंगार रस के चित्रण के लिए यही पूर्वराग, वनगमन और चित्रकूट के कुछ स्थल एवं राम का विरहोन्माद यह कुछ सामग्री उपलब्ध है। तुलसी के शास्त्रीय अध्ययन और उनकी कथित पत्नी-प्रियता ने उन्हें शृंगार की आवश्यक भूमि से परिचित अवश्य करा

१—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ४७८

दिया था, नहीं तो वे इतने सुन्दर और विस्तृत श्रृंगार-वर्णन में समर्थ नहीं होते।

मानस में तुलसी का श्रृंगार अत्यन्त मर्यादित है। "रामचरित-मानस में वर्णित श्रृंगार की यही विशेषता है कि वह सर्वथा निर्दोष है। उसमें कहीं भी सीमोल्लंघन की गन्ध तक नहीं मिल सकती।" "गोसाईं जी ने अपने परमेष्ट भगवान श्रीरामचन्द्र और जगज्जननी का श्रृङ्गारात्मक वर्णन किया है, वह भी साधारण नहीं। फुलवारी के श्रृङ्गारात्मक प्रकरण के पूर्वानुराग में लोकोत्तर विभावादि की अलौकिकता का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया है।"

पहले तुलसी राम-सीता के प्रथम दर्शन के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित करते हैं। उन्होंने नायक-नायिका के एक स्थल पर पहुँचने के लिए बड़ी पवित्र योजना की है। राम गुरु की आज्ञा पाकर फूल लेने आये हैं। सीता को उनकी माता ने गिरिजा-पूजन के लिए भेजा है। दोनों अकेले भी नहीं हैं। सीता के साथ सखियाँ हैं, राम के साथ छोटा भाई। दोनों ओर संकोच और बन्धन है। दोनों वाटिका के एक भाग में भी अचानक नहीं आ जाते।

इतनी योजना के बाद तुलसी उद्दीपन को सामने लाते हैं। समय वसंत का है। स्थान राजा जनक की फुलवारी है। यह तुलसी की मौलिकता है कि वह पुष्पोद्यान का उद्दीपन के रूप में चित्रण करते हुए भी इस प्रसंग को पुण्यमय बना देते हैं। वे कहते हैं—वहाँ बसंत ऋतु लुभा गई है (जहँ बसंतु ऋतु रही लुभाई)। साथ ही वह यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि राम अलौकिक हैं। उस उपवन की सार्थकता यही है कि वह राम को सुख देता है (परम रम्य आरामु यहु जो रामहि सुख देत)।

आलम्बन भी साधारण स्त्री-पुरुष नहीं है। इसी लिए तुलसीदास ने नखशिख की प्रचलित पद्धति को ग्रहण नहीं किया। उन्होंने अत्यन्त संक्षेप में दोनों नायक-नायिका के अपार्थिव रूप का वर्णन कर दिया है—

देखन बागु कुँअर दुइ आये। बय किसोर सब भाँति सुहाये।।
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।।

इसके बाद कवि अपनी योजना को आगे बढ़ाता है। पूर्वराग की पहली सीढ़ी है दूती के सन्देश से मिलनाकांक्षा की उत्पत्ति और उसकी उत्तरोत्तर तीव्रता। मानस में एक सखी सीता के लिए सन्देश लाती है। उसने राम-लक्ष्मण के दर्शन किए हैं। वह अपने अलौकिक अनुभव का वर्णन सखियों से करती है। इससे सीता के हृदय में उत्कण्ठा उत्पन्न होती है। सखियों में चर्चा होती है और यह स्थिर होता है कि चल कर देखा जाय। सीता की आकुलता बढ़ती है। सखियाँ सन्देश देने वाली सखी को आगे कर राजकुमारों की खोज में जाती हैं।

यहाँ तक कवि ने सीता का पूर्वराग वर्णन किया है। इसके बाद श्रीरामचन्द्र का पूर्वराग आता है। सीता के नूपुरों की ध्वनि सुन कर राम में उत्कंठा उत्पन्न होती है और तज्जननी चंचलता। इसके तुरन्त बाद ही सीता-राम का प्रथम सन्दर्शन है। राम के हृदय में सीता का सौन्दर्य बोध होता है परन्तु वे फिर भी सजग रहते हैं। इससे जहाँ राम का मर्यादा भाव बना रहता है, वहाँ लोक-शिक्षा का भी आयोजन हो जाता है। राम के साथ उनका छोटा भाई है, इस प्रथम दर्शन के अवसर पर भी न तुलसी इसे भूले हैं न तुलसी के राम। इसी लिए राम लक्ष्मण की ओर मुड़ गये—

सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन मन बचन समय अनुहारि।।

तात जनकतनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई।।
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकासु फिरइ फुलवाई।।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।।
सो सब कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।।
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ।।
मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी। जेहिं सपनेहु परनारि न हेरी।।

जिन्ह कै लहहि न रिपु रन पीठी। नहिं पावहि परतिय मनु डीठी॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं॥
करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान॥
मुख सरोज मकरंद छबि करइ मधुप इव पान॥

तुलसीदास ने सीता सन्दर्शन के समय राम में समाधि संचारी भाव की स्थापना की है और उसके बाद संकोच, छोभ, मोह और आकर्षण भावों और उनके अनुरूप अनुभावों का उल्लेख हुआ है। सीता स्वयम् राम को नहीं देखतीं। सखियाँ उन्हें लता की ओर से राजकुमार को दिखलाती हैं। तुलसी ने सीता में अतृप्ति और आसक्ति, हर्ष, निर्निमेष दृष्टि, प्रेमविह्वलता, संकोच, लज्जा और आकर्षण अनुभावों का सुन्दर चित्रण किया है—

लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छवि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषें॥
अधिक सनहँ देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितवत चकोरी॥
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥

यहाँ पर प्रथम दर्शन समाप्त हो जाता है।

इस अवसर पर तुलसी ने राम के नखशिख वर्णन (अयो० २३३) को उपयुक्त समझा है। इस रूप को देख कर सीता समाधि की अवस्था को प्राप्त होती हैं। अब तुलसी सखियों को सामने लाते हैं और उनके हास्य द्वारा सीता की परिस्थिति का ज्ञान कराते हैं। यह तुलसी की काव्य-कला का सुन्दर उदाहरण है—

धरि धीरजु एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप किसोर देखि किन लेहू॥
सकुचि सीयँ तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे॥
नख सिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा॥
परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भयउ गहरु सब कहहिं सभीता॥
पुनि आउब एहि बेरिआं काली। अस कहि मन बिहसी एक आली॥

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयउ बिलंबु मातु भय मानी॥
धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितुबस जाने॥
देखन मिस मृग विहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि॥
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

दोनों ओर आकर्षण है, दोनों ओर संकोच है। तुलसी ने इस प्रसंग को लज्जा और आकर्षण के बीच में यहीं समाप्त कर दिया है।

तुलसी मर्यादाभाव के पोषक थे, अतः नायक-नायिका की उच्छृङ्खलता (वही भी आदर्श स्त्री-पुरुष में) उन्हें प्रिय नहीं होती। उन्होंने पूर्वराग को अत्यन्त संयत ढंग से चित्रित किया है। केवल शृंगारी कवि बहक जाता है। किसी भी संस्कृत या हिन्दी कवि के पूर्वराग के चित्रण से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट होगी। तुलसी का काव्य-संयम इतना बढ़ा-चढ़ा है कि हमें आश्चर्य होता है। उनकी कवि-प्रतिभा और भक्ति-भावना में आश्चर्यजनक संतुलन है।

इसके बाद २३७—२३८ में राम के उद्दीपन का चित्रण है। उगते हुए चन्द्रमा को देख कर राम उसकी तुलना सीता से करते हैं। इसके पश्चात् सौन्दर्य और विवाह के अवसर पर शृंगार की व्यञ्जना है।

तुलसी का काव्य शृंगार-प्रधान नहीं है। वह धर्म-काव्य है। उसमें नायक-नायिका का प्रेम ऐकान्तिक नहीं है। इसी से उसका चित्रण नहीं हुआ है। हाँ, पति-पत्नी के प्रेम-संभाषण और अनुराग-प्रदर्शन का उल्लेख जहाँ-तहाँ है। ऐसा एक उल्लेख अरण्यकांड में इस प्रकार है—

एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥
सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥

विप्रलम्भ शृङ्गार के चित्रण के बहुत थोड़े अवसर मानस में आये हैं। तुलसी के राम आदर्श पति हैं। सीता आदर्श पत्नी हैं। ऐसी परिस्थिति में तुलसी ने वियोग के अवसर पर भी अत्यंत संयम से काम लिया है। सीता-हरण होने पर राम का जो उन्माद चित्रित हुआ है,

उसके पीछे गम्भीरता है। तुलसी ने इस स्थान पर काव्य-परिपाटी का पालन करते हुए राम से वनस्थली की जड़-चेतन वस्तुओं के प्रति ऐसी अनर्गल बातें कहलाई हैं जिनके मूल में सीता का नायिका रूप आता है, परन्तु इसे एक स्थल के सिवा (जो मनोविज्ञान के अनुकूल है और जिसकी समाप्ति पर तुलसी ने राम के देवत्व की घोषणा कर दी है) और कोई भी स्थल ऐसा नहीं है जहाँ वियोग का ऊहात्मक वर्णन हो जैसा कृष्ण-काव्य में। कृष्ण-काव्य काव्यशास्त्र के पीछे-पीछे चलता है, उसमें नायिकाओं के अनेक रूप और वियोग की दसों दशायें सामने आ जाती हैं परन्तु तुलसी काव्यशास्त्र से परिचालित नहीं हैं। वियोग की अनेक दशाओं में से तुलसी ने केवल उन्माद दशा का चित्रण किया है—

कह सीता विधि भा प्रतिकूला। मिलहि न पावक मिटिहि न सूला॥
देखिअत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा॥
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥
सुनहि विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जति करहि निदाना॥

सच तो यह है कि सीताराम का चित्रण नायक-नायिका के रूप में हुआ ही नहीं है। वे आदर्श दम्पति हैं। पूर्वराग और उन्माद आदि का चित्रण काव्यशास्त्र के अनुरूप अवश्य हुआ है परन्तु तुलसी इससे आगे नहीं बढ़े हैं। उन्होंने "दाम्पत्य रस" की सृष्टि की है। इस रस के आलम्बन पति-पत्नी हैं। उनके प्रेम-संलाप में गौरव और माधुर्य है और विरह में संयम एवं प्रिय की कुशलता की चिन्ता को ही प्रधान स्थान मिला है। पति पत्नी से आत्म-तृप्ति नहीं चाहता, आत्म समर्पण ही उसके लिये सब कुछ है। इन्हीं कारणों से तुलसी का शृंगार रस अन्य कवियों के शृंगार रस से नितान्त भिन्न है। यह आश्चर्य की बात है कि भारतीय जीवन में, विशेषकर हिन्दू जीवन में, संयम की इतनी अधिक प्रधानता होने पर भी, शृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिकाओं की ऐकान्तिक कल्पना की गई और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में वासना-

प्रधान उच्छृङ्खलता को प्रधानता मिली है। कवि क्षेत्र में काव्यशास्त्र की प्रधानता हो जाने के कारण हमारे कवियों का ज्ञान हमारे घरों की ओर नहीं गया और कुलवधू के आत्मोत्सर्ग और संयमित प्रेम से हमारा काव्य वंचित रहा।

अद्भुत रस

भक्त-काव्य में अद्भुत रस का सुन्दर समावेश हुआ है। इसका कारण यह है कि भगवान के अद्भुत और अलौकिक कार्यों से भक्त की निष्ठा उनमें दृढ़ होती है और वह संसारोन्मुख होने से बचा रहता है। इससे उसके नायक में देवत्व की स्थापना बनी रहती है और वह अनुभव करता है कि वह संसार के साधारण स्तर से उठा हुआ एक अपार्थिव सत्य का अनुभव कर रहा है।

रामचरितमानस में अद्भुत रस का विस्तारपूर्ण निरूपण राम के विराट रूप दर्शन में हुआ है जिसका प्रसंग दो बार आया है। राम ने एक बार कौशल्या को विराट रूप दिखलाया है, दूसरी बार काकभुशुंडि को। इन स्थलों पर अद्भुत रस के संचारी भाव भ्रम, विस्मय, रोमांचि, कम्प, धैर्यहीनता, आकुलता, पुलक और गद्गदावस्था का उल्लेख आया है। ये स्थल इस प्रकार हैं—

एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलना पौढ़ाए॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा॥
बहुरि मातु तहवां चलि आई। भोजन करत देख सुत जाई॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदय कँप मन धीर होई॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन विसेषा॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसकानी॥
देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

× × ×

तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरननि सिरु नावा॥
बिसमयवंत देखि महतारी। भए बहुरि सिसुरूप खरारी॥

(बा० का० २०१,२०२)

भ्रम तें चकित राम मोहिं देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा॥
तेहि कौतुक कर मरमु न काहूँ। जाना अनुज न मात पिताहूँ॥
जानु पानि धोए मोहि धरना। स्यामल गात अरुन कर चरना॥
तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥
जिमि-जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहं भुज हरि देखउँ निज पासा॥

ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं चितयउँ पाछ उड़ात।
जुग अंगुल करि बीच सब राम भुजहि मोहि तात॥
सप्तावरन भेद करि जहाँ लगें गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभु निरखि व्याकुल भयउँ बहोरि॥

मूदेउँ नयन त्रसित्व जब भयऊँ। पुनि चितवत कोसलपुर गयऊँ॥
मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहंसत तुरत गयउँ मुख माहीं॥
उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥

(उत्तरकांड ७६-८०)

परन्तु इन स्थलों के अतिरिक्त राम के अनेक अलौकिक कार्यों से अद्‌भुत रस प्रस्फुटित हुआ है। देवताओं की उपस्थिति, पुष्प-वर्षा, प्रकृति पर राम का अनुशासन, रामभक्त हनुमान के कृत्य, जैसे हनुमान सुरसा के प्रसंग में—

जोजन भर तेहिं बदन पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा॥
सोरह जोजन मुख तेहिं ठयऊ। तुरत पवन सुत बत्तिस भयऊ॥
जस जस सुरसा बदन बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा॥
सत जोजन तेहिं आनन किन्हा। अति लघु रूप पवन सुत लीन्हा॥
बदन पइठ पुनि बाहेर आवा। माँगी बिदा ताहि सिरु नावा॥

ऐसे कितने ही स्थल हैं जो राम के देवत्व को स्थापित करने के लिए लिखे गए हैं और अद्‌भुत रस की पुष्टि करते हैं।

भयानक रस

भयानक रस का सब से सुन्दर उदाहरण कवितावली का लंका-दहन प्रसंग है—

हाट बाट कोट ओट अट्टन अगार पौरि,
खोरि खोरि दौरि दौरि दीन्हीं अति आगि है।
आरत पुकारत संभारत न कोऊ काहू,
ब्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि है।
बालधी फिरावै बार बार झहरावै झरैं,
बूँदिया सी लंक पिघलाइ पागि पागि है।
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
चित्रहू के कपि सों निसाचर न लागि है॥

रामचरितमानस में भी युद्ध के प्रसंगों में भयानक रस का वर्णन मिलता है जैसे लंकाकांड का यह वर्णन—

रघुपति कोपि बान झरि लाई। घायल भै निसिचर समुदाई॥
लागत बान बीर चिक करहीं। घुर्मि घुर्मि जहँ तहँ महि परहीं॥
स्रवहिं सैल जनु निर्झर भारी। सोनित सरि कादर भयकारी॥
कादर भयंकर रुधिर सरिता चली परम अपावनी।
दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अबर्त बहति भयावनी॥
जल जुत गज पदचर तुरग खर बिबिध बाहन को गने।
सर सक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने॥
बीर परहिं जनु तीर तरु मज्जा बहु बह फेन।
कादर देखि डरहिं तहं सुभटन्ह के मन चेन॥

परन्तु युद्ध के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे स्थल भी हैं जहाँ तुलसी ने अत्यन्त कला-कुशलता का परिचय देकर इस रस का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए हम महाराजा दशरथ की मृत्यु पर अयोध्या की दशा का यह वर्णन ले सकते हैं—

असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभांति कुखेत करारा॥
खर सियार बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत मन सूला॥

श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगर विसेषि भयावन लागा॥
खग मृग हय गज जाहिं न जोए। राम वियोग कुरोग बिगोए॥
नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी॥

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवहि जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय विषाद मन माहिं॥

वीभत्स रस

तुलसी सौन्दर्य के प्रेमी थे। उनके काव्य में वीभत्स का प्रयोग कम है, परन्तु जहाँ है वहाँ वे पूर्णतः सफल हैं। वीभत्स रस के वर्णन सुन्दरकांड और लंकाकांड के युद्ध-प्रसंग में ही हैं। लंकाकांड का एक वर्णन है—

काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लै खाहीं॥
एक कहहिं ऐसिउ सौंघाई। सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई॥
कहँरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहुँ अर्धजल परे॥
खैंचहिं गीध आँत तट भए। जनु बंसी खेलत चित दए॥
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरी खेलहिं सरी माहीं॥
जोगिनि भरिभरि खप्पर संचहिं। भूत पिचास बधू नभ नचहिं॥

कवितावली के कई छन्द रामचरित-मानस से भी कहीं उत्कृष्ट ढंग पर इस रस की निष्पत्ति करते हैं। कदाचित् इस रस का सर्वोत्तम उत्कर्ष इस छन्द में है—

ओझरी की झोरी काँधे आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मूँड़ के कमंडलु खप्पर किये कोरि कै।
जोगिनी जमाति जोरि झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठीं सो समरसरि खोरि कै।
सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत है हाथ हाथ जोरि कै।

सच तो यह है कि दरिद्रता एव युद्धोपरांत युद्धभूमि के प्रसंग में ही वीभत्स रस का विकास संभव है। तुलसी ने जहाँ इस रस का निरूपण किया है वहाँ युद्ध-भूमि से ही इसे सम्बन्धित किया है। इस प्रकार वीभत्स का स्थान विशेषरूप से केवल उत्तरकांड में है। साधना के लिए जिन रसों की आवश्यकता है वे कोमल रस हैं, मधुर रस हैं, परुष रस नहीं। राम की वीर-मूर्ति के नाते तुलसी के लिए वीर रस भी संग्रहणीय है। वे उसमें भी अध्यात्म की स्थापना कर सकते हैं, परन्तु भयानक, वीभत्स और रौद्र रस केवल काव्य रस के रूप में ही तुलसी के काव्य में प्रतिष्ठित दिखलाई पड़ते हैं। उनका आध्यात्मिक महत्त्व कुछ भी नहीं।

रौद्र रस

प्रसंगवश मानस के अनेक स्थलों पर रौद्र रस की अवतरणा हुई है। सीता-स्वयम्बर के अवसर पर लक्ष्मण की यह उक्ति रौद्र रस का ही संचार करती है—

सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहउँ सुभाव न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हार अनुसासन पावऊँ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावऊँ॥
काचे घट जिमि डारउँ फोरी। सकउँ मेरु मूलक इव तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करउँ विलोकिअ सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावउँ। जोजन सत प्रमान लै धावउँ॥

तोरउँ छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करउँ प्रभु-पद-सपथ कर न धरउँ धनु हाथ॥

इसके अतिरिक्त लक्ष्मण-परशुराम-सम्वाद, कैकेयी-दशरथ प्रसंग, निषाद का सेना-संगठन और युद्ध के कितने ही प्रसंगों पर राम, लक्ष्मण, हनुमान, मेघनाद, रावण और अन्य योद्धाओं में रौद्र रस का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। कैकेयी के रोष के रौद्र रस-पूर्ण रूपक कवि ने बाँधे हैं। इनमें सब से सुन्दर है—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनी बाढ़ी ॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई ॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भवँर कूबरी बचन प्रचारा ॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला ॥

रौद्र रस का एक प्रसंग वह भी है जहाँ राम समुद्र के अनुनय-विनय पर न हटने पर सात्विक भाव के रोष में भर उसे सोखने के लिए बाण चलाते हैं। लंकाकांड में सात्विक रौद्र के अनेक अवसर आये हैं। नृसिंह-अवतार आदि के रूप में भगवान की रौद्रमूर्ति भी भक्तों को प्रिय है, एवं उनकी साधना का विषय है।

हास्य रस

"तुलसीदास जी हास्य रस के ऐसे प्रेमी जान पड़ते हैं कि उन्होंने उस रस का कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं दिया, यहाँ तक कि अपने सर्वोत्तम चरित्र नायक राम की भी हँसी की है।" हास्य रस के प्रसंगों में नारद-मोह, शिव-शृंगार, धनुर्भंग के अवसर पर राजाओं की पराजय और राम-केवट प्रसंग प्रमुख हैं। तुलसीदास का हास्य अनेक प्रकार से प्रगट हुआ है। राजबहादुर लमगोड़ा ने अपने ग्रन्थ में तुलसी के हास्य पर विशद विवेचन किया है। उन्होंने हास्य के कई प्रकार किये हैं। (१) कोमल (२) उदासीन (३) कठोर (४) निर्दय (५) बौड़म (६) उजड्ड (७) बक्की (८) घमंडी (६) सनकी (१०) झेंपू। इनमें से प्रत्येक के अन्तर्गत रामचरितमानस से अनेक उदाहरण दिये गये हैं। उनके विशेषण से सहमत होते हुए भी हमारा मन्तव्य है कि तुलसी का हास्य प्रधानतया संस्कृत नाटकों के विदूषकों के निरर्थक हास्य से नितान्त भिन्न है। वह सोद्देश्य है। नारद और परशुराम के प्रसंग में उसका प्रयोग मोह और अहंकार छुड़ाने के लिए हुआ है। तुलसी के हास्य के संबंध में दूसरी बात यह है कि उसमें भी मर्यादा का भाव सन्निहित है। वह "स्मित हास" की श्रेणी में आता है। तीसरी बात यह है कि उनके हास्य का प्रयोग नाटकीय कला के

साथ इतना लिपटा हुआ चलता है कि उसका अलग अस्तित्व नहीं रहता। शब्दों में, क्रिया में, चरित्र-चित्रण में, अतिरंजित चित्रों में और अव्यवहार्य कार्यों में हास्य की छटा अपनी अलग छटा रखती है।

तुलसी के प्रारम्भिक ग्रन्थों में हास्य अस्पष्ट और अशिष्ट भी हो गया है, परन्तु उनकी प्रौढ़तर रचनाओं में इस प्रकार की कोई त्रुटि नहीं है। इन ग्रन्थों का हास्य तुलसी के चरित्र पर विशेष प्रकाश डालता है। अन्य साधुओं के विरुद्ध तुलसी के चरित्र में अनेक विरोधी स्वभाव मिले हुए थे। उनके स्वभाव में गंभीरता के साथ-साथ विनोद-प्रियता का भी सुन्दर मेल हुआ था। वे अपनी श्रेणी के लोगों को भी हास्य रस का आलम्बन बनाने से नहीं चूके। राम के वनगमन के अवसर पर तुलसी मुनिओं को आलम्बन बना कर इस प्रकार हास्य की सृष्टि करते हैं—

विंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनिभे मुनिवृन्द सुखारे॥
ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनाथकजू करुना करि कानन को पगु धारे॥

ऐसा शुष्ठ हास्य तुलसी ही कर सकते थे।

वीर रस

यदि रामचरितमानस से भक्ति को हटा दिया जाय तो वह वीर रस-प्रधान महाकाव्य अथवा वीर-काव्य की श्रेणी में आता है। राम का सारा चरित्र युद्धकांड की ओर ही बढ़ रहा है। ताड़का-सुबाहु-वध और धनुर्यज्ञ के प्रसंगों में राम के सौर्य की प्रतिष्ठा कर दी है, परन्तु अरण्य और लंकाकांड में उसके प्रदर्शन के अवसर विशेष रूप से आये हैं।

परन्तु सच तो यह है कि राम केवल युद्धवीर ही नहीं हैं। उनके सभी असुर-संहार प्रसंगों के पीछे सद्धर्म-प्रतिष्ठा की भावना है। वे भक्तों, ऋषियों-मुनियों और सज्जनों के परित्राण के लिए ही युद्ध

करते हैं। इस दृष्टिकोण से वे धर्मवीर हैं। इसके अतिरिक्त प्रसंगवश राम की दया-वीरता और दान-वीरता का भी उल्लेख हुआ है। संक्षेप में, राम के चरित्र में वीर रस के चारों भेदों के उदाहरण मिल जाते हैं।[१]

वीर रस का प्रधान भाग है उत्साह। रामचरितमानस में राम और अन्य पात्रों के उत्साह का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन हुआ है। वीर रस का वर्णन उन्होंने तीन शैलिओं के भीतर दिखाया है—प्राचीन राजपूत काल के चारणों की छप्पयवाली ओजस्विनी शैली के भीतर इधर के फुटकर कवियों की दंडकवाली शैली के भीतर और अपनी निज की गीतिकावाली शैली के भीतर। नीचे तीनों का क्रमशः एक एक उदाहरण दिया जाता है—

(१) कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि, मर्दि गजराज करक्खत॥

१—युद्ध-वीरता—

हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं॥
रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥
जौ न होइ बलु घर फिरि जाहू। समर बिमुख मैं हतउँ न काहू॥

धर्म-वीरता—

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछि मुनिन्ह लागि अति दाया॥
जानतहूँ पूछिअ कस स्वामी। सबदरसी तुम्ह अन्तरजामी॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥
निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

दया-वीरता—

देखिये रामचरित-मानस और गीतावली के जटायु-प्रसंग

दान-वीरता—

जो संपति सिव रावनहि, दीन्ह दिये दस माथ।
सो सम्पदा विभीषनहि, सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥

चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत॥
लंगूर लपेटत पटकि भट "जयति राम, जय" उच्चरत।
तुलसीदास पवननन्दन अटल जुद्ध, क्रुद्ध कौतुक करत॥

(२) दबकि दबोरे एक, बारिध में बोरे एक,
गगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे, कर चरन उखारे एक,
चीर फारि डारे, एक मींजि मारे लात हैं॥
तुलसी लखत राम रावन, बिबुध बिधि,
चक्रपानि चंडीपति चंडिका सिहात हैं।
बड़े बड़े वानइत बीर बलवान बड़े,
जातुधान-जूथप निपाते बातजात हैं॥

(३) भए क्रुद्ध-जुद्ध-विरुद्ध रघुपति सेन सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥
मंदोदरी उर-कंप कंपित कमठ भू भूधर त्रसे।
चिक्कपहिं दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे॥

सच तो यह है कि भक्ति रस या उज्ज्वल रस के बाद तुलसी का मन जिस रस में सब से अधिक रमता है, वह वीर रस ही है। इस रस के निरूपण में तुलसी अद्वितीय हैं। लक्ष्मण, राम और हनुमान के वीररूपों एवं वीरकृत्यों पर वे मुग्ध हैं। वीरवेश में राम के चित्रण से वे थकते नहीं। कारण कि वे राम के बालरूप या किशोर-रूप के उपासक नहीं। उनका मानस 'वीर-काव्यों' की पंक्ति में भी सर्वोच्च आसन ग्रहण करता है। वह मध्ययुग का सर्वश्रेष्ठ वीरकाव्य है। मानस के बाद वीर रस निरूपण में कवितावली का नाम आता है।

वात्सल्य रस

रामचरितमानस के प्रारम्भ में कुछ चौपाइयाँ राम की बाल-लीला के संबंध में हैं परन्तु उसका विषद निरूपण गीतावली और

श्रीकृष्णगीतावली में किया गया है। इन स्थलों पर तुलसी सूर से प्रभावित हैं यद्यपि उन्होंने मौलिक उद्‌भावनायें भी कम नहीं की हैं।

मानस का बाल-वर्णन बहुत संक्षेप में है। मानस में राम के ब्रह्मत्व की प्रधानता है और उनके चरित्र पर लौकिकता की छाप जितनी कम हो सकती थी उतनी कम रखी गई है। इसी कारण उसमें अधिक बाल-लीलाओं को स्थान नहीं मिला है। साधारण शिशु के केवल कुछ ही चित्र हमें दिखाई पड़ते हैं—

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
कौसल्या जब बोलन आई। ठुमुकु-ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥
धूसर धूरि भरें तनु आये। भूपति बिहसि गोद बैठाये॥
भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥

परन्तु तुलसी का दृष्टिकोण इस चौपाई से स्पष्ट है जिसे तुलसी ने ऊपर उद्धृत चौपाइयों और दोहे की वीथिका में उपस्थित किया है—

मन क्रम बचन अगोचर जोई। दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई॥

और राम का सारा बाल-चरित्र इसी भावना से अनुप्राणित है—

गुरुगृह गये पढ़न रघुराई। अलप काल विद्या सब आई॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥
विद्या विनय निपुन गुनसीला। खेलहिं खेल सकल नृपलीला॥

अन्तिम चौपाई से यह स्पष्ट है कि राम की परिस्थिति-विशेष भी तुलसी के बाल-चित्रण और वात्सल्य निरूपण में बाधक है।

रामचरितमानस के अयोध्याकांड में दशरथ के अपने पुत्र के ब्रह्मत्व के ज्ञान ने वात्सल्य रस को प्रगट नहीं होने दिया है। इसके अतिरिक्त कदाचित् प्रबन्ध-काव्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण माताओं के पुत्र-वियोग का चित्रण भी नहीं हुआ है। गीता-वली में माताओं की दशा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और उसमें वात्सल्य रस बहुत सुन्दर रूप से प्रगट हुआ है।

करुण रस

करुण रस के प्रयोगों में तुलसी की लेखनी अत्यंत प्रभावशाली हो जाती है। रामचरितमानस में दशरथ का मानसिक संघर्ष एवं मरण, और लंकाकाण्ड में लक्ष्मण के शक्तिघात पर राम-विलाप के अवसरों पर करुण रस के दर्शन होते हैं। अयोध्या के भरत मूर्तिमान करुणा हैं—भवभूति के "एकोरसः करुण एव" के संबंध में विद्वानों में चाहे जो मतभेद हो, इसमें सन्देह नहीं कि करुण-रस-निरूपण के समय कवि को अपनी सहृदयता, मनोविज्ञान के अध्ययन और कल्पना का इतना अधिक विस्तार करना पड़ता है जितना अन्य किसी रस के निरूपण में नहीं।

करुण रस के अधिकांश प्रसंग अयोध्याकांड में हैं जिनमें कैकेयी वरदान-याचना, रामचन्द्र की वनविदा और दशरथ-मरण के अवसर पर रस का परिपाक अत्यंत उच्चकोटि का हुआ है। "शोक का चित्रण भी गोस्वामीजी ने अत्यंत हृदयद्रावक पद्धति से किया है। शोक के स्थल तुलीसी-वर्णित रामचरित में दो हैं—एक तो अयोध्या में राम-वन-गमन का प्रसंग और दूसरा लक्ष्मण को शक्ति लगने का।" तुलसी करुण रस की व्यंजना अधिक करते हैं, वर्णन कम, जैसे कौशल्या की यह उक्त करुणा की व्यंजना ही है—

मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥
ते बन बसहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस सहि छाती॥
राम सुना दुख कान न काऊ। जीवन तरु जिमि जोग बह्राऊ॥
ते अब फिरत बिपिन पदचारी। कंदमूल फल फूल अहारी।

दशरथ-मरण के अवसर पर अयोध्या की दशा का जो वर्णन हुआ है, वह भी इसी रस की व्यंजना करता है—

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥
घोर जंतु सम पुर-नर-नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी॥
घर मसान, परिजन जनु भूता। सुत हित भीत मनहुँ जमदूता॥
बागन्ह विटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरिता-सरोवर देखि न जाहीं॥

रामगीतावली में माताओं के वियोग-वर्णन में इस रस को हम फिर उत्कृष्ट रूप में पाते हैं—

जब जब भवन बिलोकति सूनो।
तब तब बिकल होति कौसल्या दिन दिन अति दुख दूनो॥
को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो माई?
श्याम-तामरस नयन स्रवत जल काहि लेहुँ उर लाई?

इसके अनंतर हम भरत के अत्यंत कारुणिक चित्र देखते हैं—

(१) जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन नित बारि उलीचा।
हंस बंसु दसरथु जनकु राम लखन से भाई।
जननी हूँ जननी भई बिधि सन कछु न बसाई॥
जबतें कुमति कुमत जियँ ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ।
(अमर्ष)

(२) देखत भरतु बिकल भये भारी। परे चरन तन दसा बिसारी॥
मातु तात कहँ देहि दिखाई। कहँ सिय रामु लखनु दोउ भाई॥
कैकइ कत जनमी जग माझा। जौं जनमित भइ काहे न बाँझा॥
कुल कलंकु जेहिं जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर बन रघुकुल-केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥
धिग मोहिं भयउँ बेनुबन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥
(आत्मग्लानि)

तुलसी ने इस प्रसंग को काव्य-कला से किस प्रकार पुष्ट किया है वह कौशल्या के इस चित्र से स्पष्ट है—

मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुख-भार।
कनक कलप वर बेलि बन मानहुँ हनी तुसार॥

करुण रस के अन्य दो प्रसंग सीता-हरण और लक्ष्मण-मूर्च्छा हैं—

लछिमन देखु विपिन कइ सोभा। देखत केहि कर मन नहिं छोभा॥
नारि सहित तब खग-मृग-बृंदा। मानहुँ मोरि करत हहिं निन्दा॥
(क्षोभ)

लक्ष्मण-मूर्च्छा के अवसर पर राम के विलाप से कदाचित् मानस का प्रत्येक पाठक परिचित होगा। यह विलाप तुलसी की रस-प्रसूत-लेखनी का अमूल्य रत्न है।

सच तो यह है कि तुलसीदास करुण रस के अवसरों के चित्रण में अद्वितीय हैं। जहाँ प्रबंध का बंधन कम है, जैसे गीतिकाव्यों में वहाँ वे इस रस का और भी अधिक सुन्दर निरूपण करते हैं।

शान्त रस

काव्य का शान्त रस नाटकों के शान्त रस से भिन्न है। जिसके लिए साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—

न तत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता।
न द्वेष रा: न च कार्यमन्य॥

तुलसी के अनेक रसों की परिणति शान्त रस में ही है। मानस के उत्तरकांड के ज्ञान-विज्ञान के अनेक सम्वादों और विनयपत्रिका से इस रस के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। रामचरितमानस के अन्त की तुलसी की यह उक्ति यह स्पष्ट करती है कि मानस-रचना के मूल में शांत रस की ही प्रधानता है—

मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये।
भाषाबद्ध मिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम॥

भक्ति रस

तुलसीदास के ग्रन्थों में भक्ति रस का प्राधान्य है, यह बात हम पहले कह चुके हैं। रामचरितमानस में भरत और ऋषिओं आदि के प्रसंगों में रामभक्ति का सुन्दर निरूपण हुआ है और अनेक प्रकार के भावों अनुभावों की सृष्टि की गई है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से भक्ति रस का अस्तित्व भले ही न हो, वास्तव में वह एक प्रकार की नई रीत है जिसमें लौकिक रसों को अलौकिक आलम्बन की सहायता से पुष्ट करके नया रूप दे दिया जाता है। इन अवसरों पर वात्सल्य रस वात्सल्य भक्ति, शृंगार रस मधुर भक्ति और वियोग शृंगार

विप्रलम्भ भक्ति में परिणत हो जाता है। आत्मलंबन के उत्साहपूर्ण (वीर-रस-प्रधान) अलौकिक (अद्भुत-रस-प्रधान), और हास-परिहासपूर्ण (हास्य-रस-प्रधान) कार्यों मे भी भक्त को लौकिक रसों के स्थान पर अलौकिक रसों का आस्वादन होता है। भक्त-काव्य की आलोचना करते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि भक्तों ने काव्य-शास्त्र के द्वारा निरूपित रसों का प्रयोग नई परिभाषा में किया है। उनके काव्य में जहाँ कोई विशेष स्थल किसी विशेष काव्य-रस की सृष्टि करता है वहाँ वही स्थल भक्तों के लिए उसी विशेष भक्ति रस की सृष्टि करता है। यह सच है कि गौड़ीय वैष्णव अलंकारिकों की तरह हिन्दी के भक्त कवियों ने अपने रस सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना कहीं नहीं की, परन्तु यह स्पष्ट है कि ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से वे काव्य-शास्त्र के रसों का कुछ उस प्रकार से ही प्रयोग कर रहे थे जिसकी व्याख्या "उज्ज्वल नीलमणि" में हुई है।

रामचरितमानस में संचारी भावों का बहुत सुन्दर प्रयोग हुआ है। उसमें हमें सभी संचारी भाव मिल जाते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने हिन्दी-साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास (४८०,४८१) में संचारी भावों के उदाहरणों को इस प्रकार एक स्थान पर एकत्रित किया है—

१—निवेदन—अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती।

२—ग्लानि—भई ग्लानि मोरे सुत नाहीं।

३—शंका—शिवहिं विलोक सशंकेऊ मारु।

४—असूया—तब सिय देखि भूप अभिलाखे। कूर कपूत मूढ़ मन माखे।

५—श्रम—थके नयन रघुपति छबि देखी।

६—मद—जग योधा को मोहिं समाना।

७—धृति—धरि बड़ धीर राम उर आनी।

८—आलस्य—रघुबर जाय सयन सब कीन्हा।

९—विषाद—सभय हृदय विनवति जेहि तेही।

१०—मति—उपज्यो ज्ञान बचन तब बोला।

११—चिन्ता—चितवत चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मनचीता।

१२—मोह—लीन्ह लाय उर जनक जानकी।

१३—स्वप्न—दिन प्रति देखहुँ रात कुसपने। कहऊँ न तोहि मोह बस अपने।

१४—विबोध—विगत निशा रघुनायक जागे।

१५—स्मृति—सुधि न तात सीता कै पाई।

१६—अमर्ष—जो राउर अनुशासन पाऊँ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ।

१७—गर्व—भुजबल भूमि भूप बिन कीन्हीं। विपुल बार महि देवन दीन्हीं।

१८—उत्सुकता—बेगि चलिय प्रभु आनिए, भुजबल रिपुदल जीति।

१९—अवहित्थ—तन सकोच मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेम लखि परे न काहू।

२०—दीनता—पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं।

२१—हर्ष—जानि राम अनुकूल, सिय हिय हर्ष न जाय कहि।

२२—व्रीड़ा—गुरुजन लाज समाज बड़ि, देख सीय सकुचानि।

२३—उग्रता—एक बार कालहु किन होई।

२४—निद्रा—ते सिय राम साथरी सोये।

२५—व्याधि—देखी व्याधि असाधि नृप, पर्‌यो धरणि धुनि माथ।

२६—राम राम कहि राम कहि, बाल कीन्ह तन त्याग।

२७—अप्समार—अस कहि मुरछि परे महि राऊ।

२८—आवेग—उठे राम मुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।

२९—त्रास—भा निरास उपजी मन त्रासा।

३०—उन्माद—लछिमन समझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती।

३१—जड़ता—सुनि मग माँझ अचल होइ वैसा। पुलक शरीर
वनस फल जैसा।

३२—चपलता—प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल।

३३—वितर्क—लंका निशिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन
कर बासा।

तुलसीदास के संचारी भावों के संबंध में आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल का मत है—"छोटे-छोटे संचारी भावों की स्वतंत्र व्यंजना भी गोस्वामीजी ने जिस मार्मिकता से की है, उससे मानवी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रगट होता है। उन्होंने ऐसे-ऐसे भावों का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहीं गया है।" उन्होंने ऐसे कितने ही भावों को तुलसी की रचनाओं से उपस्थित किये हैं। जिन्हें संचारिओं के भीतर नहीं गिनाया गया है। जैसे—

१—उदासीनता भाव—

हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन राती॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥

२—छोभपूर्ण आत्मनिन्दा भाव—

हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम आनन्द करहु मृगजाये। कंचन मृग खोजन ये आये॥

३—श्रम—

पुर तें निकसी रघुवीर-बधू धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकी भरि भालकनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझति है "चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।"
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि रस की दृष्टि से, चाहे काव्य रस हो, चाहे भक्ति रस, तुलसी का मानस अत्यन्त सफल काव्य है। जनता में जो वस्तु रामचरितमानस को इतना प्रिय बनाये है, वह न कथावस्तु है, न मनोविज्ञान, न दर्शन। वह चीज है रस। 'मानस' रसों का मान-सरोवर है। वास्तव में तुलसी ने 'रामचरित-मानस' सार्थक नाम

रखा है। बल मानसरोवर की अलौकिक स्थिति और उसमें अवगाहन के चमत्कारिक प्रभाव पर है। कथाप्रसंग में रुक-रुक कर तुलसी ने रसोद्रेक के लिए कहीं उपमा, कहीं उत्प्रेक्षा, कहीं सहजानुभूति द्वारा जो प्रयोग किये हैं, वे मानस को सब से प्रिय ग्रन्थ बना देते हैं। मानसिक संघर्षो के घात-प्रतिघात, रसों के संयत निरूपण और सब से ऊपर रामभक्ति रस (उज्ज्वल रस) के लिए तुलसी हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ हैं, विश्व-साहित्य में भी वे किसी से छोटे नहीं पड़ेंगे।

७—तुलसी की मौलिकता

तुलसी की मौलिकता पर विचार करने से पहले हम विद्वानों के कुछ उद्धरण देकर यह बताना चाहेंगे कि अब तक इस विषय में क्या धारणा है—

(१) आचार्यश्री श्यामसुन्दरदास जी का कहना है—

"श्रीरामकथा का आदि स्रोत 'वाल्मीकीय' रामायण है। गोसाईं जी ने प्रधान आश्रय इसी ग्रंथ का लिया था। आदि रामायणकार होने के कारण गोसाईं जी ने इन कवीश्वर की भी वन्दना की है और इन्हीं के साथ साथ हनुमन्नाटककार कवीश्वर की भी। क्योंकि हनुमन्नाटक से भी सहायता ली है। इसके अतिरिक्त योगवाशिष्ठ, अध्यात्म रामायण, महारामायण, भुशुण्डि रामायण, याज्ञवल्क्य रामायण, भगवद्‌गीता, श्रीमद्‌भागवत, भरद्वाज रामायण, प्रसन्नराघव, अनर्घ्य रामायण, रघुवंश आदि सैकड़ों ग्रन्थों की छाया रामचरितमानस में मिलती है।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि गोसाईं जी ने रामचरितमानस लिखने के लिए इन ग्रंथों को पढ़ा था। वे भगवान राम के अन्यतम भक्त थे। इसलिए उन्होंने राम संबंधी सभी लभ्य साहित्य पढ़ा था। सबके विवेकोचित त्याग और सार-ग्रहणमय अध्ययन से राम का जो मंजुल लोक-रक्षक चरित्र उन्होंने निर्धारित किया उसी

को उन्होंने रामचरितमानस के रूप में जगत् के सामने रखा। इसी परित्याग और ग्रहण मे उनकी मौलिकता है जिसका रूप उनकी प्रबन्ध-पटुता के योग में अत्यन्त पूर्णता के साथ खिल उठता है।"[१]

(२) डा० बड़थ्वाल—(पीताम्बरदत्त) लिखते हैं—

"इसमें सन्देह नहीं कि गोस्वामीजी ने ऐसे (प्रकृति सम्बन्धी) अधिकांश स्थलों को अन्य ग्रन्थों से विशेषकर श्रीमद्‌भागवत से लिया है। वर्षा और शरद्-वर्णन तो पूरे-का-पूरा श्रीमद्‌भागवत से लिया गया है। परन्तु इससे उनका महत्व बढ़ता ही है, घटता नहीं। उन्होंने अपने ग्रंथ का निर्माण लोक-कल्याण के लिए किया है, अपने महत्त्व के लिए नहीं। इसी से मौलिकता प्रदर्शन करने से उन्होंने नानापुराणनिगमागमसम्मत बात कहना अच्छा समझा।"[२]

(३) श्री रामनरेश त्रिपाठी, तुलसीदास और उनकी कविता, आलोचना-ग्रंथ में लिखते हैं—

"संस्कृत के सैकड़ों ग्रंथों के श्लोकों को चुन-चुन कर, उनका रूपान्त करके, उन्होंने मानस में भर दिया है। कहीं-कहीं एक चौपाई के भाव किसी एक पुराण से लिये गये हैं तो उसके आगे की चौपाई के भाव किसी दूसरे पुराण के हैं और उसके भी आगे की चौपाई में किसी नाटक या नीतिग्रंथ के भाव हैं। ऐसे स्थानों पर तो तुलसीदास के मस्तिष्क की महिमा देखते ही बनती है। मानो संस्कृत के सैकड़ों ग्रंथों के लाखों श्लोकों पर एक सम्राट की तरह उनका अधिकार था, वे जिसे जहाँ चाहते थे, उसे वहीं नियुक्त कर देते थे।"[३]

तुलसीदास के रामचरितमानस से यह स्पष्ट है कि वे बहुपाठी-पंडित-भक्त कवि थे। भक्ति प्रधान थी, पांडित्य उनके विनम्र व्यक्तित्व में मिश्री की तरह घुल गया है। इसी से 'मानस' में पांडित्य

१—'गोस्वामी का काव्य-सौन्दर्य' ('कल्याण') पृ० ६६६, १३।२

२—(वही) पृ० ६६१

३—पृ० २६१, पहला भाग।

अथवा प्रयास की किंचित भी गन्ध नहीं आती। तुलसी की मौलिकता पर विचार करते हुए हमें यह समझ लेना चाहिये कि तुलसी अपने से पहले के लगभग सारे महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों के ऋणी निकलेंगे। वास्तव में, मानस—मधु—है, परन्तु मधुसचय चाहे हमें कैसा ही कष्ट-साध्य लगे, मधुप के लिए आनन्द-कर्म है, वह उसका मौलिक प्रयास ही है। तुलसी की मौलिकता इसमें है कि उन्होंने केशवदास की तरह सहस्रशः मौलिक होने का हास्यास्पद प्रयत्न नहीं किया और अपने पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों को अपने व्यक्तित्व के मधु से सींच कर मानस में स्थान दिया।

जिन मुख्य ग्रंथों से तुलसी ने सहायता ली है, वे हैं—वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, श्रीमद्भागवत और प्रसन्नराघव एवं हनुमन्नाटक। परन्तु इनके सिवा किस उपनिषद्, पुराण, नाटक, चम्पू, काव्यग्रन्थ पर तुलसी की दृष्टि नहीं गई ? वास्तव में तुलसी में यह प्रतिभा थी कि कथा लिखते समय उनका हाथ परदे के ठीक स्वर पर रहा, जहाँ जैसा स्वर चाहिए, वैसा ही लगा, ज़रा भी विक्षेप नहीं। हनुमन्नाटक का एक श्लोक है—

पथि पथिकबधूभिः सादरं पृच्छ्यमाना
कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति।
स्मितविकसितगण्डं व्रीड विभ्रान्त नेत्रम्
मुखभवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता॥

रामचरितमानस में तुलसी ने इसे अधिक कला-कौशल के साथ इस प्रकार रखा है—

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूँछत अति सनेह सकुचाहीं॥
बार बार सब लागहिं पाएँ। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभाव कछु पूँछत डरहीं॥
स्वामिनि अविनय छमब हमारी। बिलगु न मानव जानि गवाँरी॥
राजकुँअर दोउ सहज सलोने। इन्ह तें लहि दुति मरकत सोने॥

स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरी नाथ मुखु सरद सरोरुह नैन॥

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे॥
सुनि स्नेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महँ मुसुकानी॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकत धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥—
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरिछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सनयनि॥

(अ० ११६, ११७)

स्पष्ट है कि मूल की प्रेरणा को तुलसी की मौलिकता एवं प्रतिभा ने एकांततः नया रूप दे दिया है। अब क्या कहा जाय कि तुलसी इस स्थल पर हनुमन्नाटक के कितने ऋणी हैं। उन्होंने जो उधार लिया था, उससे कहीं अधिक साहित्य को चुका दिया। इसी प्रकार—

पदकमलरजोभिर्मुक्त पाषाणदेह—
मलमत पदहल्यां गौतमोधर्मपत्नीम्।
त्वयि चरति विशीर्ण ग्रावविन्ध्याद्रिपादे
कति कति भवितारस्तापसा दारवन्तः॥

(हनुमन्नाटक)

अब तुलसी की कला देखिए—

विन्ध्य के वासी उदासी तपो—
व्रतधारी महा बिनु नारी दुखारे।
गौतमतीय तरी तुलसी
सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥
ह्वैहैं सिला सब चंद्रमुखी
परसे पदमंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायकजू
करुनाकरि कानन को पगुधारे॥

कहीं कहीं तो अत्यन्त नगण्य और प्रकीर्णक स्थान से वस्तु को उठा कर मानस में स्थान दिया गया है जैसे संस्कृत के इस मुक्तक को—

मयूखनखरत्रुटत्तिमिर कुम्भिकुम्भस्थलो-
च्छलत्तरल तारकागणविकीर्ण मुक्तागणः
पुरन्दरहरिद्दरी कुहरगर्भ सुप्तोत्त्रित—
स्तुषारकर केसरी गगन काननं गाहते।

मानस में इसे तुलसी ने इस तरह रखा है—

पूरब दिसि गिरिगुहा निवासी।
परम प्रताप तेज बलरासी॥
मत्तनाग तम कुंभ बिदारी।
ससि केसरी गगन बनचारी॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा।
निसि सुन्दरी करे सिंगारा॥
(लंका० १२)

महत्त्वपूर्ण भक्तिग्रंथ होने के कारण गीता से भी अनेक स्थलों पर सहायता ली गई है। गीता के प्रसिद्ध श्लोक हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

मानस में हो गया है—

जब जब होइ धर्म के हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब हरि धरि बिबिध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

सच तो यह है, जैसा विद्वानों ने कहा है, मानस में २००-२५० संस्कृत ग्रंथों की छाया, अनुवाद, सहायता मिलेगी। तुलसी आधुनिकों की भाँति शत-प्रति-शत मौलिकतावादी नहीं थे। उन्होंने ऐसे ग्रंथ का

निर्माण किया जो अकेला ही सारे संस्कृत धर्मग्रंथों का सारभूत है, और जो पूर्ववर्ती काव्य के सर्वश्रेष्ठ भावों, उपमाओं और शब्द-माधुरी से परिपुष्ट है। इस दृष्टिकोण से भी हम तुलसी की महत्ता का ही परिचय पाते हैं और उनको युग-चेतना के मध्य में संस्थित महान् क्रांति-चेत्ता के रूप में देखते हैं। विद्वानों ने 'बिंब-प्रति-बिंब', 'भाव-साम्य', 'तुलसी पर संस्कृत काव्यों का ऋण', 'भागवत का प्रभाव' आदि की बात कही है, परन्तु तुलसी के लक्ष्य और उनके विशेष दृष्टिकोण को देखते हुए, उनके आलोचकों के मौलिकता-सम्बन्धी मापदंड छोटे पड़ जाते हैं।

देखना यह चाहिये कि मानस में 'ऋण' कितना है, मौलिकता कहाँ है, कितनी है, क्यों है, कितनी सफल है। व्यापकरूप से ग्रंथ पर भागवत का प्रभाव है। विशेषकर ग्रंथ की योजना, राम के रूप-वर्णन और कलिकाल-निरूपण पर। 'उद्धवगीता' की तरह मानस में 'रामगीता' की योजना की गई है। ढाँचा अध्यात्म पर खड़ा किया है, वाल्मीकि से केवल कहीं-कहीं उक्तियों से ही पुष्ट करने की चेष्टा है। राम के बालजीवन के लिए तुलसी भागवत और अध्यात्म के ही ऋणी हैं। प्रसन्नराघव से राम-सीता-वाटिका-मिलन, परशुराम-संवाद और अंगद-रावण-संवाद की अनेक बातें ग्रहण की गई हैं। हनुमन्-नाटक का प्रभाव अधिक व्यापक है। अंगद-रावण-संवाद के लिए तो तुलसी इस ग्रन्थ के विशेष ऋणी हैं। इतना सब 'ऋण' होने पर भी मानस बड़े अंश में मौलिक रह जाता है। यह मौलिकता कहाँ है—

१—व्यापकरूप से सारे ग्रन्थ को रामभक्ति में डुबो कर लिखा गया है। यह दृष्टिकोण अध्यात्म में भी नहीं है।

२—मानस का चरित्र-चित्रण इतना मौलिक है कि उनके चरित्र वाल्मीकि और अध्यात्म को बहुत पीछे छोड़ गए हैं। लगभग सभी चरित्रों को नया रूप मिला है।

३—बालकांड का अधिकांश मौलिक है। प्रारंभ की कथाओं की

बात जाने दीजिये, विवाह-प्रसंग का दूसरे स्थानों पर इंगित मात्र है और तुलसी ने रामसीता-परिणय को इतने विस्तार से कहा है।

४—मानस का अयोध्याकांड नितांत मौलिक है। पूर्वार्द्ध का संघर्ष तुलसी की मौलिकता की छाप लिये है। उत्तरार्द्ध का भरत-चरित्र तो उनका अपना है ही।

५—उत्तरकांड सर्वथा मौलिक है। तुलसी ने ज्ञान-विज्ञान के अनेक प्रसंग एवं सम्वाद उपस्थित किये हैं जिन पर अध्यात्म रामायण का प्रभाव अवश्य है, परन्तु दर्शन के प्रत्येक अंग पर तुलसी का अपना मौलिक मंतव्य है।

यह रही साधारण विवेचना की बात। काव्य में प्रसादात्मकता और सुष्ठुता के लिए तुलसी किसी के ऋणी नहीं हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस अनेक ग्रन्थों का समाहार होते हुए भी तुलसी की मौलिकता पर कोई लांछना नहीं लाता।

८—अलंकार

तुलसी के काव्य में अनेक काव्याङ्गों का प्रयोग हुआ है, परन्तु उनके लिए काव्य कभी प्रधान नहीं हुआ। वह गौण ही रहा है। भक्ति ही प्रधान है। तुलसी के काव्य में अन्य काव्याङ्गों की तरह अलंकार भी हैं, परन्तु उन्हें साधन बनाया गया है, ध्येय नहीं। केवल अलंकार मात्र का अध्ययन करने से तुलसी के व्यक्तित्व पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

तुलसी ने सादृश्यमूलक अलंकारों का ही अधिक प्रयोग किया है। इनमें भी उपमा और रूपक, उत्प्रेक्षा और उदाहरण प्रधान हैं। कहीं कहीं उन्होंने दो अलंकारों को बड़ी सफलता से एक केन्द्र पर मिला दिया है। तुलसी की अन्य रचनाओं में भी अलंकारों की प्रचुरता है, परन्तु उन सब में अलंकार-निरूपण को उद्देश्य नहीं बनाया गया है। केवल एक ग्रंथ बरवै रामायण में इस प्रकार का प्रयत्न दिखलाई पड़ता है।

तुलसी ने अपने अप्रस्तुत को अत्यन्त विस्तृत बनाया है। उनके

अप्रस्तुत के आधार कल्पना, प्रकृति, अनुभूति, धर्म-भाव, आचार-विचार, लौकिक प्रसंग, अनुभव, नीति और दर्शन हैं। इतने विभिन्न क्षेत्रों से अप्रस्तुत विधान की योजना करना तुलसी जैसे प्रतिभावान का ही काम था। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग भी इतने अधिक दृष्टि-कोणों से किया है, जितने दृष्टिकोणों से किसी अन्य कवि ने नहीं किया। रसोद्रेक के लिए, क्रिया को स्पष्ट और चित्रमय बनाने के लिए, चरित्र-चित्रण के लिए, सौन्दर्य या दृश्य-चित्रण के लिए और विचार को स्पष्ट करने के लिए—हम सर्वत्र तुलसी को अलंकार का प्रयोग करते हुए पाते हैं।

१—उदाहरण

इस अलंकार का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है, विशेषकर किष्किन्धा के वर्षा और शरद् वर्णन में। इन स्थलों पर उदाहरण के लिए अप्रस्तुत का आयोजन भागवत के अनुकरण में किया गया है। परन्तु इसके साथ ही नीति के धर्मशीला रूप की प्रतिष्ठा भी हो गई है। मूर्त्त चित्रों को अमूर्त्त भावों के आधार पर खड़ा करना सचमुच तुलसी जैसे ऊँचे कलाकार का ही काम है। उन्होंने अपनी मर्यादा भावना और नीतिप्रिय प्रकृति को अप्रस्तुत विधान की सामग्री चुनने में स्वतंत्रता दे दी और अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर एक नवीन सृष्टि की। "परन्तु धर्मनीति से अप्रस्तुत सामग्री का चयन है अत्यन्त कठिन काम। अपने साधु स्वभाव और लोक-कल्याण-कामना के कारण ही कवि तुलसी इसमें सफल हुए हैं।" अरण्यकांड में पम्पासुर का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने धर्मशीला नीति के क्षेत्र से ही अप्रस्तुत विधान की सामग्री का चयन किया है। जैसे,

लछिमन देखु मोरगन नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरत रत हरष जस बिष्नु भगत कहुँ देखि॥

दामिनि दमक रही घन माहीं।
खल कै प्रीत यथाथिर नाहीं॥

वरषहिं जलद भूमि निअराए।
जथा नवहिं बुध विद्या पाए॥

अथवा,

जहँ तहँ पिअहिं विविध मृगनीरा।
जनु उदार गृह जाचक मीरा॥

कभी-कभी तुलसीदास दर्शन के क्षेत्र से भी अप्रस्तुत विधान चुनते हैं। जैसे—

भूमि परत भा डावर पानी,
जिमि जीवहिं माया लपटानी,
फूले कमल सोह सर कैसा।
निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा॥

२—रूपक

लाला भगवानदीन ने तुलसी को "रूपकों का बादशाह" कहा है इतने रूपक और किसी कवि ने नहीं कहे। नखशिख-वर्णन और सौन्दर्य-चित्रण के लिए तुलसी उपमा और उत्प्रेक्षा का प्रयोग करते हैं, परन्तु जहाँ गम्भीर भावना अथवा किसी प्रभावपूर्ण व्यवहार-क्रिया का चित्रण करना होता है वहाँ वह किसी रूपक का प्रयोग करते हैं। तुलसी ने सांग और निरंग दोनों प्रकार के रूपकों का प्रयोग किया है। अयोध्याकांड में रूपक का विशेष प्रयोग है। तुलसी के सारे काव्य में हम छोटे बड़े एक सौ से अधिक रूपकों से परिचित होते हैं। उनमें मुख्य रूपक ये हैं—

संत समाज का प्रियाग रूपक
कविता और मुक्ता
रामचरितमानस
रामागम का सूर्योदय रूपक
रंगमंच आरूढ़ राम का रवि रूपक
परिछन्न के अवसर का आर्तीधूम आदि से सम्पन्न सावन घटा का रूपक

शंकर-चाप जहाज रूपक
अवध और अम्बुधि
कैकेयी सर्पणि रूपक
कैकेयी रोष तरवार
कैकेयी रोष तरङ्गिणी
तीर्थराज प्रयाग का राजा रूपक
चित्रकूट अहेरी रूपक
नगर बन रूपक
भरत महिमा जल-राशि रूपक
भरत विवेक बारह रूपक
भरत पयोधि रूपक
भरत कीर्ति-चन्द्रकला रूपक
बनसुराज रूपक
जनकागम नदी सिन्धु-संगम रूपक
बन मदन युद्धागमन रूपक
विरह-अग्नि रूपक
विश्वराम रूपक
रावण कज्जलि गिरि रूपक
विजय-रथ रूपक
वानर सेना प्रलय-काल रूपक
राम-प्रताप सूर्योदय रूपक
विज्ञान-दीपक रूपक
रामभक्ति चिन्तामणि रूपक
मानस-रोग रूपक ।

रामचरितमानस के इतने सुन्दर रूपकों में से किसी एक को छाँट कर उपस्थित करना तुलसी की रूपक-रचयिता प्रतिभा के प्रकाशन के लिए किसी प्रकार भी अनुचित होगा, परन्तु सब बड़े-बड़े रूपकों का

उद्धरण भी नहीं दिया जाता है। यहाँ हम केवल कुछ उद्धरण देकर उनकी शैली पर प्रकाश डालेंगे।

'मानस' का सब से बड़ा रूपक रामचरितमानस का रूपक है, जो इस प्रकार है—

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी॥
करइ मनोहर मति अनुहारी। सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी॥
सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीत लताई॥
सो जल सुकृत सालि हित होई। राम भगत जन जीवन सोई॥
मेधा महिगत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीन रुचि चारु चिराना॥

सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।
ते एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥
राम सीय जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥
छंद सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥
सुकृत पुंज मंजुल अलिमाला। ग्यान बिराग बिचार मराला॥
धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती॥
अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान बिग्यान बिचारी॥
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥
सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहग समाना॥
संतसभा चहुँ दिसि अवँराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥
भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया द्रुम लता बिताना॥

संयम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥
औरउ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहुबरन बिहंगा॥

पुलक बाटिका बाग बन सुख सुविहंग विहारु।
माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु॥

जे गावहिं यह चरित संभारे। तेइ यहि ताल चतुर रखवारे॥
सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरवर मानस अधिकारी॥
अति खल जे विषई बग कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥
संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न विषय कथा रस नाना॥
तेहि कारन आवत हियँ हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥
आवत एहिं सर अति कठिनाई। राम कृपा बिनु आइ न जाई॥
कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला॥
गृह कारज नाना जंजाला। ते अति दुर्गम सैल बिसाला॥
वन वहु विषम मोह मद माना। नदी कुतर्क भयंकर नाना॥

जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ॥

जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नीद जुड़ाई होई॥
जड़ता जाड़ विषम उर लागा। गएहुँ न मज्जन पाव अभागा॥
करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवइ समेत अभिमाना॥
जौं बहोरि कोउ पूछन आवा। सर निन्दा करि ताहि बुझावा॥
सकल विघ्न व्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा विलोकहिं जेही॥
सोइ सादर सर मज्जनु करई। महा घोर त्रयताप न जरई॥
ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह के राम चरन भल भाऊ॥
जो नहाइ चह एहिं सर भाई। सो सतसंग करउ मन लाई॥
अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
चली सुभग कविता सरिता सी। राम विमल जस जल भरिता सी॥
सरजू नाम सुमङ्गल मूला। लोक वेद मत मंजुल कूला॥
नदी पुनीत सुमानस नन्दिनि। कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि॥

श्रोता त्रिबिध समाज पुर ग्राम नगर दुहुँ कूल।
संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल॥

रामभगति सुरसरितहिं जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥
सानुज राम समर जसु पावन। मिलेउ महानदु सोन सुहावन॥
जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥
त्रिबिधि ताप त्रासक तिमुहानी। राम सरूप सिंधु समुहानी॥
मानस मूल मिली सुरसरिही। सुनत सुजन मन पावन करिही॥
बिच बिच कथा बिचित्र बिभागा। जनु सरि तीर तीर बन बागा॥
उमा महेस विवाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती॥
रघुबर जनम अनन्द बधाई। भवँर तरंग मनोहरताई॥

बाल चरित चहु बंधु के, बनज बिपुल बहुरंग।
नृप रानी परिजन सुकृत, मधुकर बारि बिहंग॥

सीय स्वयंबर कथा सुहाई। सरित सुहावन सो छवि छाई॥
नदी नाव पटु प्रस्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका॥
सुनि अनुकथन परस्पर होई। पथिक समाज सोह सरि सोई॥

इस रूपक से यह स्पष्ट है कि तुलसी की कल्पना कितनी प्रौढ़ थी और उनकी निरीक्षण शक्ति कितनी तीव्र। सांगरूपक बाँधने में वे अद्वितीय हैं। उनकी दृष्टि किसी भी अङ्ग को नहीं छोड़ती, सब चीजों को समेटती हुई चलती है।

परन्तु यह न समझना चाहिये कि वे चुनाव पर विशेष ध्यान नहीं दे सकते। उनके छोटे रूपकों से यह स्पष्ट है कि वे किस प्रकार सुन्दरतम साम्य उपस्थित करते हैं—

(१) उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग।
विकसे संत-सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥

नृपन्ह केरि आसा निसि नाशी। बचन नखत अवलीन प्रकाशी॥
मानी महिप कुमुद समुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने।
भए बिसोक कोक मुनि देवा। बरिसहिं सुमन जनावहिं सेवा॥

(२) अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोषतरंगिनि बाढ़ी॥
पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोधजल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥

उनके लघुतम रूपक की रचना और भावप्रकाशन में तुलसी की सतर्कता देखिये—

संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहु बलु।
बूड़ सो सकल समाजु चढ़ा जो प्रथमहिं मोह बस॥

मानस में रूपकों का प्रयोग कई दृष्टिकोणों से हुआ है और उनके लगभग सभी प्रकार अनेक अलंकारों से मिश्रित हुए हैं। यह ध्यान से देखने की बात है कि तुलसी अपने अलंकारों को रूपक के किसी न किसी भेद से किस प्रकार पुष्ट करते हैं। उन्होंने रूपवर्णन, घटना-चित्रण और भावों के आघात-प्रतिघात के लिए रूपक का ही आश्रय लिया है और उसके द्वारा अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण को पुष्ट किया है।

३—उपमा

तुलसी के काव्य में उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की संख्या कई सहस्र होगी, परन्तु उनका विशेष अध्ययन नहीं हुआ है। उपमानों के चुनाव में तुलसी ने ज्ञान, अनुभव और कल्पना के किसी भी क्षेत्र को नहीं छोड़ा। उनके अधिक उपमान परम्परागत हैं परन्तु मानस और अन्य ग्रन्थों में कहीं कहीं नये उपमान भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए कवितावली में तुलसी ने लंका को रांड की झोपड़ी कहा है। परन्तु इन नये उपमानों की संख्या बहुत कम है। अधिकांश उपमान परम्परा या प्रकृति से लिये गए हैं। नखशिख-वर्णन में उपमा और उत्प्रेक्षा की प्रधानता है।

अध्ययन से पता चलता है कि तुलसी ने उपमानों का प्रयोग बड़ी सतर्कता से किया है। उदाहरण के लिए हम नेत्र सम्बन्धी उपमान ले सकते हैं। मध्य युग के काव्य में नायक-नायिका के नेत्रों का वर्णन

एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। तुलसी ने नेत्र के लिए प्रधान रूप से कमल को उपमान चुना है। बाल-वर्णन के लिए उन्होंने नीले कमल का प्रयोग किया है—

नील कमल दोउ नयन बिसाला।
नील कंज लोचन भवमोचन। आदि

राम के वीर-वेष-वर्णन के समय तुलसी लाल कमल या रक्त कमल का प्रयोग करते हैं—

भुज प्रलंब कंजरुपलोचन।
स्यामल गात प्रनत भयमोचन॥
चाप मनोहर तूण धरं।
जलजारुण लोचन भूप वरं॥

राम के शांत वेष का चित्रण करते समय नेत्रों के उपमान के लिए श्वेत कमल का प्रयोग किया गया है। साधारण अवसरों पर नीरज नयन, शरद सरोरुह नयन आदि कह कर छोड़ दिया गया है। शृंगार रूप-चित्रण करते समय अंजनयुत नयनों की खंजन से उपमा दी गई है—

तुलसी जन रंजन रंजित अंजन नयन सुखंजन जातक से।
सजनी ससिमें समसील उभय नव नील सरोरुह से बिकसे॥

नीचे हम विभिन्न क्षेत्रों से लिए हुए उपमानों के आधार पर कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं—

(१) प्रकृति—

लता भवनतें प्रगट भये, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु युग विमल विधु, जलद पलट विलगाइ॥
अरुन उदय सकुचे कुमुद, उड़गन जोति मलीन।
तिमि तुम्हार आगमन सुनि, भये नृपति बलहीन॥

प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे॥
सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥
नीदहु बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना॥

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरव परेउ जनु पानी॥
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥
सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ॥

जाइ दीख रघुबंसमनि, नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहिं, मनहुँ बृद्ध गजराजु॥
सहज सरल रघुबर बचन, कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जिमि बक्र गति, जद्यपि सलिल समान॥

असमय गुनइ राउ नहिं बोला। पीपर पात सरिस मन डोला॥
सुनि भये बिकल सकल नर नारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥
सहमि सूखि सुनि सीतल बानी। जिमि जवास पर पावस पानी॥

(२) कल्पना—

तड़ित बिनिन्दक पीतपट, उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेत जनु, जमुन भँवर छवि छीनि॥

अवधपुरी सोहाइ एहि भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती॥
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि वनी सन्ध्या अनुमानी॥
अगर धूप जनु बहु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी॥
मन्दिर मनि समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इन्दु उदारा॥
झलका झलकहि पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओस कोस कन जैसे॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥

(३) नीति, धर्म, दर्शन—

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज संघाती॥ (दर्शन)
भूमि परत भा डाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी॥ (दर्शन)
समरथ को नहिं दोष गुसाईं। रवि पावक सरिता की नाईं॥ (नीति)
डगइ न सम्भु सरासन कैसे। कामिइ बचन सती मन जैसे॥ (धर्म)

४—उत्प्रेक्षा

तुलसी ने उत्प्रेक्षा के सभी भेदों का प्रयोग किया है और उसे बहुधा सांगरूपक, भ्रान्तिमान आदि अलंकारों से पुष्ट भी किया है। उत्प्रेक्षा के कई भेदों का एक ही साथ मिला हुआ प्रयोग होता है।

उत्प्रेक्षा का प्रयोग भावोद्रेक और रसोद्रेक के लिए सफलतापूर्वक हुआ है। परन्तु उसके सब से अधिक सुन्दर उदाहरण नखशिख-वर्णन से लिये जा सकते हैं।

आगें दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥
(कैकेयी का क्रोध)

सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिर पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं॥
भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनीं तमाल पर बैठी विपुल सुख आपने॥
(राम का सौन्दर्य)

आज उनींदे आये मुरारी
आलसवन्त सुभग लोचन सखि, छिन मूंदत छिन देत उघारी॥
मनहुँ इन्दु पर खंजरीट दोउ, कछुक अरुन विधि रचे संवारी॥
कुटिल अलक जनु मारफंद कर गेह सजग है रह्यो संभारी॥
मनहुँ उड़न चाहत अति चंचल पलक पंख छिन देत पसारी॥
(गीतावली)

सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई॥
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि देत जयमाला॥
(सीता द्वारा जयमाल पहनाया जाना)

राम सीय सुन्दर प्रतिछाहीं। जगमगात मनि खभन माहीं॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत राम बिआहु अनूपा॥
दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी॥
(भाँवरी के अवसर पर)

५—प्रतीप

इस अलंकार का प्रयोग रूप-वर्णन के ऐसे अवसरों पर हुआ है जहाँ कल्पना प्रधान है। राम और सीता के सौन्दर्य-वर्णन के लगभग प्रत्येक अवसर पर इस अलंकार के दर्शन होते हैं—

सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनि अति नाहीं॥
विष्नु चारि भुज बिधि-मुखचारी। विकट वेष मुख पंच पुरारी॥
अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिअ जाही॥

(राम)

प्राची दिसि ससि उमउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा॥
बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥
जनमु सिंधु पुनि बंधु विषु, दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि, चंदु बापुरो रंक॥
घटइ बढ़इ बिरहिन दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाईं॥
कोक सोकप्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही॥
बैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोषु बड़ अनुचित कीन्हे॥

६—अपह्नुति और काव्यलिंग (मिश्रित)

यह वपु जलधि तरत कत बारा। अस सुनि पुनि कह पवन कुमारा॥
प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोषेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥
तव रिपु नारि रुदन जलधारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहिं खारा॥

७—उल्लेख

जिन्हकें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥
देखहिं रूप महारनधीरा। मनहुँ वीर रसु धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप वेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥
पुरबासिन्ह देख दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥
नारि विलोकहिं हरषि हियँ, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥

८—व्यतिरेक

(रूपक द्वारा पुष्ट) अलौकिक सुन्दरता की व्यंजना के लिए।

जो छबि-सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
सोभा-रज्जु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज चारू॥

एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख-मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल ॥

तुलसी के अलंकारों का अध्ययन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होंने अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त सतर्कता से किया है। उनके अलंकार-विधान में हमें परिपाटी का अनुकरण और सामरिक अलंकार-निरूपण का प्रभाव अधिक है, परन्तु उन्होंने प्रकृति और दर्शनशास्त्र एवं धर्म से अपने अप्रस्तुत विधानों की सामग्री लेकर अपनी मौलिकता भी सिद्ध कर दी। पिछले प्रकार के अप्रस्तुत विधानों में उन्हें विशेष सफलता मिली है क्योंकि उनमें उनकी आत्मानुभूति भी मिल गई है। कुछ स्थलों पर तुलसी ने ऐसे अप्रस्तुत भी रख दिये हैं जो अनुचित जान पड़ते हैं। ऐसे स्थलों पर चाहे तात्पर्य के विषय में पूरा सादृश्य हो, अन्य किसी बात में सादृश्य नहीं होता।[१] कहीं-कहीं उपमान की हीनता भी आलोचक को खटती है।[२] उनके कुछ सांग रूपकों को इतना विस्तार मिल गया है कि मूल सामग्री अप्रस्तुत विधान के रूप में छिप गई है।[३] कवितावली में उन्होंने विराट के उर में रावण राजरोग की कल्पना की है जो सब प्रकार से उहात्मक है।[४] अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार की अलंकार-विषयक त्रुटियाँ अधिक मिलती हैं। यहाँ हम केवल दो उदाहरण देंगे। विनयपत्रिका में काशीकामधेनु का रूपक बाँधा है जो अत्यन्त विस्तृत है। परन्तु यह रूपक काशी की महत्ता का निर्देश नहीं कर सकता। एक दूसरे स्थान पर शब्दों की कलाबाजी के आधार पर भी इसी प्रकार की

१—सुरसरि धार मदाकिन नाऊँ × × × जो सब पातक-पोतक डाकिनि।
सुनिय तासु गुण ग्राम जासु नाम अघ खग बधिक।
सेवहिं सीय लखन रघुबरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि।

२—राम रुख निरखे हरषे हिय हनुमान
मानो खेलवार खेली सीस ताज बाज की।

३—देखिए मानस रूपक।

४—रावण सौ राजरोग। (कवितावली)

चेष्टा की गई है और राम को समुद्र बनाया गया है।[१] परन्तु ऐसे स्थल मानस में न्यून हैं।

तुलसी ने ऐसे अप्रस्तुतों का भी उपयोग किया है जो प्रस्तुत दृश्य के चित्रण में सहायक नहीं हैं। वर्षा शरद् ऋतु चित्रण में प्रकृति वर्णन शिथिल है और नीति का उपदेश प्रबल है। वर्णनीय विषय अर्थमात्र को ग्रहण करता है, बिम्ब को नहीं। ऐसे स्थल पर काव्य हीन हो जाता है। और उस समय उपमाओं में काव्यानन्द नहीं आता कवि उपदेशक बन जाता है।

६—गुण

तुलसी के काव्य में तीनों गुण—प्रसाद, माधुर्य और ओज—के दर्शन होते हैं। "रस की अभिव्यक्ति गुण के सहारे कितनी अच्छी हो सकती है, इसके उदाहरण मानस में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। शृंगार रस के अन्तर्गत माधुर्य गुण, वीर और रौद्र रस के अन्तर्गत ओज गुण और अद्भुत, शांत तथा अन्य कोमल रसों के अन्तर्गत प्रसाद गुण बड़ी कुशलता से प्रयुक्त हुए हैं।"[२]

प्रसाद गुण तो तुलसीदास की अन्तिम पूर्ण कृति विनयपत्रिका को छोड़कर अन्य सभी रचनाओं में मिलता है। रामचरितमानस में तो यह गुण इतना उत्कृष्ट है कि साधारण से साधारण शिक्षा-प्राप्त—नहीं, अशिक्षित भी—उसके चरित्रों की विशेषता और उसके भावों को समझ लेता है। उत्तरकांड में जहाँ भाव दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों के कारण अत्यन्त क्लिष्ट होने चाहिए थे, प्रसादपूर्ण प्रचलित लोक-भाषा के प्रयोग के कारण पाठक को कोई कठिनाई नहीं पड़ती। संवादों में यह गुण विशेषता से मिलता है। यद्यपि

१—विविध वाहिनी विलसत सहित अनंत।
जलधि सरिस को कहै राम भगवन्त॥

२—हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास। ५१९-५२०

कितने ही संवादों में वक्रता का प्रयोग हुआ है, दूर-दूर तक संज्ञा के स्थान पर सर्वनाम का प्रयोग है,[१] परन्तु चरित्र और कथोपकथन की रूपरेखा स्पष्ट होने के कारण हम तुरन्त जान लेते हैं कि किस पात्र ने कहा, क्या कहा।

माधुर्य गुण वैसे तो सभी कृतियों में है, परन्तु पदों में यह गुण विशेष मात्रा में है।[२] तुलसी के काव्य में कर्ण-कटु अक्षरों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। उनकी वर्णमाला इस प्रकार है—

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं

व्यंजन—क ष ग घ
च छ ज झ
ट ठ ड ढ
त थ द ध न
प फ ब भ म
य र ल व
स ह ड़ ढ़

इस वर्णमाला का सहारा लेकर तुलसी ने अनेक तत्सम शब्दों को तद्भव बनाकर मधुर कर लिया है। अनुप्रास, यमक आदि के प्रयोगों से भाषा में और भी अधिक माधुर्य आ गया है। कहीं-कहीं केवल ह्रस्व वर्णों का ही प्रयोग हुआ है, इससे अनेक स्थलों पर प्रवाह और माधुर्य आ गये हैं। यदि रामचरितमानस का अध्ययन चौपाइयों की रचना-सङ्गठन के परिवर्तन की दृष्टि से किया जाय तो यह पता लगेगा कि किस प्रकार तुलसी ने दीर्घ और ह्रस्व वर्णों के समुचित प्रयोग से सैकड़ों चौपाइयों में बराबर चलते हुए पाठ को नीरस होने से बचाया है।

ओज गुण वीर, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों वाले स्थलों पर प्रकाशित हुआ है। समासयुक्त पदावली द्वित्व, संयुक्त वर्ण,

---

१—देखिए रामचरितमानस का परशुराम-लक्ष्मण संवाद।

२—देखिए गीतावली और कृष्णगीतावली।

दीर्घ स्वरों की आवृत्ति, टवर्ग आदि कर्कश वर्णों की बहुलता—इनके द्वारा भाषा में ओज लाया गया है। ऐसे स्थलों पर जो छन्द चुने गये हैं, वे भी इस गुण की स्थापना में सहायता देते हैं। तुलसी के युद्ध के ओज-पूर्ण वर्णन किसी भी चारण कवि की कविता से होड़ ले सकते हैं।

परन्तु तुलसी में प्रसाद और माधुर्य गुण ही अधिक हैं उनके लिए उन्होंने विशेष प्रयत्न किया है और वे सफल भी हुए हैं। विनय-पत्रिका के वे स्थल जो स्पष्ट नहीं हैं कवि की कम शब्दों में अधिक बात कहने और अपनी प्रौढ़तम भावनाओं को रूप देने की इच्छा के कारण है। सच तो यह है कि उस काव्य में तुलसी के आगे पाठक-समाज इतना नहीं था जितना उनकी अपनी अनुभूतिओं को प्रकाश में लाने की भावना। इसी लिए विनयपत्रिका में भावों की जटिलता और प्रकाशन की वैयक्तिकता है जो कवि को साधारण जनों के लिए कठिन बना देती है।

१०—रामचरितमानस के वर्णन

रामचरितमानस मूलतः वर्णनात्मक काव्य है जैसा प्रत्येक महा-काव्य होता है, यद्यपि कवि ने नाटक शैली पर सम्वादों की भी अच्छी योजना की है और उसमें भी सफल हुआ है।

किसी भी महाकवि के लिए यह आवश्यक है कि उसके वर्णन के प्रत्येक अंग स्पष्ट हों, विस्तारपूर्ण हों (साथ ही चुने हुए अंगों पर बल हो) और यह सब होते हुए भी नीरसता न आये, न पाठक ऊब जाय। कह देने भर से इस बात भी महत्ता अधिक नहीं जान पड़ती, परन्तु यही एक बात है जहाँ बड़े-बड़े कवि गिर जाते हैं। गीति-काव्य के लेखकों के लिए वर्णन के दूर तक फैले, समतल धरातल पर सुन्दरता से देर तक चलना कितना कठिन है, यह उस समय पता चलता है जब हम किसी गीति-कवि को प्रबन्ध-काव्य पर हाथ चलाता देखते हैं। यह तुलसी की विशेषता है कि वे गीति-काव्य और वर्णनात्मक काव्य दोनों में इतने सफल हो सके हैं।

तुलसी के वर्णनों के अध्ययन के लिए नहछू, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, रामचरितमानस और कवितावली महत्त्वपूर्ण हैं। नहछू में उत्सव समारोह और आचार-विधि का वर्णन तुलसी के अन्य वर्णनों से अलग महत्त्व रखता है। तुलसी की सौन्दर्य-भावना और चित्र-प्रियता ने उस सरल वर्णन को अत्यन्त सजीव कर दिया है। जानकीमंगल पार्वतीमंगल और मानस तीनों में विवाह-वर्णन के प्रसंग हैं, परन्तु कवि ने कभी भी पुनरावृत्ति नहीं होने दी है। इस दृष्टिकोण से मानस और पार्वतीमंगल के शिव-बरात के वर्णनों की भी तुलना की जा सकती है। कवितावली के हनुमान द्वारा लंकादहन का वर्णन इतना विस्तृत और सजीव है कि स्वयं तुलसी के मानस का लंका-दहन इसके आगे शिशु-कृति लगता है। केवल इसी वर्णन को लिखकर तुलसी अपने को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध कर सकते थे। यह वर्णन कई छन्दों में है, परन्तु भाग-दौड़, प्रश्नोत्तर, भावों के घात-प्रतिघात, छन्द-प्रवाह और कवि की नाद-सौन्दर्य उपस्थित करने की प्रतिभा के कारण पाठक एक छन्द से दूसरे छन्द की ओर बढ़ता—नहीं, फिसलता—चला जाता है।

परन्तु यहाँ हमें विशेष रूप से मानस के वर्णनों पर विचार करना है।

मानस का ढाँचा कई प्रकार के संवादों पर खड़ा है, यह हम पहले कह चुके हैं। इन संवादों के अतिरिक्त कुछ स्थल मनो-वैज्ञानिक परिस्थिति को स्पष्ट करते हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त तथा स्तुतियों और अन्य भक्तिपूर्ण स्थलों को छोड़कर जो रह गया, वह सब 'वर्णन' के अन्तर्गत आ जाता है।

प्रकृति-चित्रण के शीर्षक के नीचे हम तुलसी के प्राकृतिक वर्णनों के सम्बन्ध में दूसरे दृष्टिकोण से विचार कर चुके हैं। यहाँ हम उन वर्णनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे वर्णन लेते हैं जिन्हें साहित्य-दर्पण-कार महाकाव्य के लिए आवश्यक मानता है—

संभोग विप्रलंभौ च मुनिस्वर्गपुराधुराः ।
रणप्रयाणोपयंमन्त्र पुत्रोदयादयः ॥

(संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, रण, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय) । प्रकृति-चित्रण वाले अध्याय में हम कह चुके हैं कि तुलसी ने महाकाव्य के प्रसंगों को लेते हुए भी अपनी ओर से अनेक प्रकार की स्वतंत्रता का उपयोग किया है । हमने विवेचना द्वारा सिद्ध किया है कि उनके प्राकृतिक वर्णन सांगोपांग नहीं हैं । (साहित्य-दर्पणकार के अनुसार महाकाव्य के वर्णनों को सांगोपांग होना चाहिए ।) परन्तु जैसा हम देखेंगे तुलसी के अन्य वर्णनों में से कुछ सांगोपांग भी हैं ।

ऊपर वर्णन के जो विषय दिये गये हैं उनमें से संयोग, वियोग, नगर, संग्राम, यात्रा, विवाह और अभ्युदय के वर्णन ही रामचरित-मानस में हैं । मुनि अनेक आये हैं, परन्तु उनका सांगोपांग वर्णन कवि को इष्ट नहीं है । स्वर्ग, यज्ञ, मन्त्र और पुत्र वर्णन भी राम-कथा के अन्तर्गत आते हैं, वाल्मीकि में भी हैं, परन्तु तुलसी ने अपनी रामकथा को जिस नये ढंग पर काटा-छाँटा है, उसके अनुसार इनका कोई अवसर नहीं रह गया है ।

संयोग और वियोग के वर्णनों की मार्मिकता और सुष्ठता का विस्तारपूर्ण विवेचन शृंगार रस के प्रसंग में किया जा चुका है । यहाँ हमें यही कहना है कि इस प्रकार के वर्णन की भित्ति नायक-नायिका का अन्तर्जगत थी, अतः कवि की सफलता ने उसे प्रथम श्रेणी का मनोवैज्ञानिक सिद्ध किया है । दोनों स्थलों पर कवि संक्षेप शैली और संयत भाषा का आदर्श अपने सामने रखे हुए है ।

नगर के वर्णन-प्रसंग में तुलसी ने अवध, जनकपुरी और लंका—रामकथा के तीन केन्द्र नगरों—का विस्तृत वर्णन किया है । अवध का वर्णन उस समय हुआ है जब महाराज दशरथ को धनुर्भंग का समाचार मिलता है, अतः यह वर्णन एक उत्सव के साथ हुआ है, जैसा होना चाहिये था । वर्णन इस प्रकार है—

जद्यपि अवध सदैव सुहावनि । रामपुरी मंगलमय पावनि ।।
तदपि प्रीति कै रीति सुहाई । मंगल रचना रची बनाई ।।
ध्वज पताक पट चामर चारू । छावा परम विचित्र बजारू ।।
कनक कलस तोरन मनि जाला । हरद दूब दधि अच्छत माला ।।
मंगलमय निज-निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ ।
बीथी सींची चतुरसम चौकें चारु पुराइ ।।
जहँ तहँ जूथ-जूथ मिलि भामिनि । सजि नव सप्त सकल दुति दामिनि ।
बिधु बदनी मृग-सावक-लोचनि । निज सरूप रति मानु विमोचनि ।।
गावहिं मंगल मंजुल बानी । सुनि कलरव कलकंठिं लजानी ।।
भूप भुवन किमि जाइ बखाना । विस्व विमोहन रचेउ बिताना ।।
मंगल द्रव्य मनोहर नाना । राजत बाजत विपुल निसाना ।।
कतहुँ बिरद बंदी उच्चरहीं । कतहुँ वेदधुनि भूसुर करहीं ।।
गावहिं सुन्दर मंगल गीता । लै लै नामु राम अरु सीता ।।
बहुत उछाहु भवनु अति थोरा । मानहुँ उमगि चला चहुँ ओरा ।।
सोभा दशरथ भवन कइ को कबि बरनै पार ।
जहाँ सकल सुरसीसमनि राम लीन्ह अवतार ।।[१]

जनकपुरी के वर्णन में कवि ने अपना दृष्टिकोण भी स्वयं स्पष्ट कर दिया है—

बसहिं नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारि वर वेषु ।
तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहि सारद सेषु ।।[२]

यह वर्णन अत्यन्त ऐश्वर्यपूर्ण है। शिल्पी नगर को विवाहोत्सव के लिए सँवार रहे हैं—

विधिहिं बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा । बिरचे कनक कदलि के खंभा ।।
हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल ।
रचना देखि विचित्र अति मनु विरंचि कर भूल ।।

१—रामचरितमानस २९६—२९७

२—वही, २८६ दोहा

बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे । सरल सपरन परहि नहिं चीन्हे ॥
कनक कलित अहिबेलि बनाई । लखि नहिं परइ सपरन सुहाई ॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाये । बिच बिच मुकुता दाम सुहाये ॥
मानिक मरकत कुलिश पिरोजा । चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥
किये भृंग बहुरंग बिहंगा । गुंजहिं कुजहिं पवन प्रसंगा ॥
सुर प्रतिमा खंभन गढ़ि काढ़ीं । मङ्गल द्रव्य लिये सब ठाढ़ीं ॥
चौकें भाँति अनेक पुराई । सिंधुर मनिमय सहज सुहाई ॥

सौरभ पल्लव सुभग सुठि, किए नीलमनि कोरि ।
हेम बौर मरकत घवरि, लसत पाट मय डोरि ॥

रचे रुचिर वर बंदनवारे । मनहुँ मनोभव फंद सँवारे ॥
मंगल कलस अनेक बनाए । ध्वज पताक पट चमर सुहाये ॥
दीप मनोहर मनिमय नाना । जाइ न बरनि विचित्र बिताना ॥
जेहिं मंडप दुलहिन बैदेही । सो बरनै असि मति कवि केही ॥
दूलहु रामु रूप गुन सागर । सो वितानु तिहुँ लोक उजागर ॥
जनक भवन कै सोभा जैसी । गृह गृह प्रति पुर देखिय तैसी ॥
जेहि तेरहुति तेहि समय निहारी । तेहि लघु लगहिं भुवन दसचारी ॥
जो संपदा नीच गृह सोहा । सो बिलोकि सुरनायक मोहा[१] ॥

लंका का वर्णन सुन्दरकांड में इस प्रकार है—

कनक कोट विचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना ।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु पुर बहु विधि बना ॥
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनै ।
बहुरूप निसिचर जूथ अति बल सेन बरनत नहिं बनैं ॥
बन बाग उपवन बाटिका सर कूप वापीं सोहहीं ।
नर-नाग-सुर-गन्धर्व-कन्या रूप मुनि-मन मोहहीं ॥
कहुँ मल्ल देह विसाल सैल समान अति बल गर्जहीं ।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहु विध एक एकन्ह तर्जहीं ॥

१—रामचरितमानस अयोध्या २८७—२९९

करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहु महिष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं[1] ॥

विवाह के दो प्रसंग मानस में हैं—शिव-विवाह और राम-विवाह। दोनों का वर्णन दो भिन्न दृष्टिकोणों से हुआ है। शिव-विवाह में विचित्र प्रकार के बराती और उनकी वेश-भूषा विचित्र है। यह प्रसंग तुलसी के विनोदी वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है—

सिवहिं संभुगन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहिमौरु संवारा॥
कुंडल कंकन पहिरे व्याला। तन विभूति पट केहरि छाला॥
ससि ललाट सुन्दर सिर गंगा। नयन तीन उपवीत भुजंगा॥
गरल कंठ उर नरसिर माला। असिव वेष सिवधाम कृपाला॥
कर त्रिसूल अरु डमरु विराजा। चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा॥
देखि सिवहि सुरत्रिय मुसुकाहीं। बर लायक दुलहिन जग नाहीं॥

परन्तु राम-विवाह की बात भिन्न है। उसमें कवि ने अपने लोकाचार के अध्ययन, कल्पना, काव्यकला और प्रतिभा से पूर्ण सहयोग प्राप्त कर एक अभिनव सृष्टि की रचना की है। तुलसी ने इस प्रसंग को अत्यन्त विस्तार से लिखा है। उनका उद्देश्य ही था कि नर-नारी इसे गायें—

सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं॥
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलयातन रामजसु॥

बालकांड के ३०५वें दोहे से लेकर कांड की समाप्ति तक अनेक दोहों, चौपाइयों और छन्दों में राम-विवाह को लिख कर कवि ने उसे मूल कथानक से अलग करने और थोड़ा-बहुत स्वतंत्र रूप देने की चेष्टा की है और उसे खंड-काव्य के ढङ्ग पर अत्यन्त सतर्कता से लिखा है। दोनों ओर के लोकाचारों, समधिओं, मुनियों आदि के मिलन, बालकों और युवतियों के कौतूहल, माताओं और पुरजनों-परिजनों के हृदय-भावों आदि का इतना सुन्दर चित्रण हुआ है कि

१— वही, सुन्दरकांड २

कालिदास के वर्णन भी पीछे पड़ जाते हैं। यहाँ हम केवल दो वर्णन देते हैं जिनसे हम कवि की वर्णन-शैलियों से परिचित हो जायेंगे।

१---विवाह के समय के लोकाचारों का वर्णन

वर कुअँरि करतल जोरि साखोचारु दोउ कुलगुर करैं।
भयो पानिगहनु बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनन्द भरैं॥

× × ×

करि होम बिधिवत गाढि जोरी होन लागीं भावरीं॥
जयधुनि बंदी बेदधुनि मंगलगान निसान।
सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध सुरतरु सुमन सुजान॥

कुँअरु कुँअरि कल भावँरि देहीं। नयन लाभु सब सादर लेहीं॥
जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहौं सो थोरी॥
राम सीय सुंदर प्रतिछाहीं। जगमगात मनि खंभन माहिं॥
मनहुँ मदन रति धरि बहुरूपा। देखत राम बिआहु अनूपा॥
दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटन दुरत बहोरि-बहोरी॥
भये मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे॥
प्रमुदित मुनिन्ह भावँरी फेरी। नेग सहित सब रीति निबेरी॥
राम सीय सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जाति बिधि केहीं॥
अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमीके॥
बहुरि बसिष्ठ दीन्ह अनुसासन। बरु दुलहिन बैठे एक आसन॥

बैठे बरासन रामु जानकि मुदित मन दसरथु भये॥
तुनि पुलक पुनि पुनि देखि अपने सुकृत सुरतरु फल नये॥
भरि भुवन रहा उछाहु राम बिवाहु भा सबहीं कहा॥
केहि भाँति बरनि सिरात रसना एक यहु मंगल महा॥

इस वर्णन को कवि ने अलङ्कारों से पुष्ट किया है।

२---ज्योंनार वर्णन

पुनि जेवनार भई बहु भाँती। पठए जनक बोलाइ बराती॥
परत पाँवड़े बसन अनूपा। सुतन समेत गवन कियो भूपा॥

सादर सबके पाय पखारे। जथाजोग पीढ़न्ह बैठारे ॥
धोये जनक अवधिपति चरना। सीलु सनेह जाइ नहि बरना ॥
बहुरि राम-पद-पंकज धोए। जे हर-हृदय-कमल महुँ गोए ॥
तीनिउ भाइ रामसम जानी। धोए चरन जनक निज पानी ॥
आसन उचित सबहि नृप दीन्हे। बोलि सूपकारी सब लीन्हे ॥
सादर लगे परन पनवारे। कनक कील मनि पान सँवारे ॥
सूपोदन सुरभी सरपि सुंदर सवादु पुनीत ॥
छन महुँ सब के परुसिगे चतुर सुआर विनीत ॥
पंच कवल करि जेवन लागे। गारि गान सुनि अति अनुरागे ॥
भाँति अनेक परे पकवाने। सुधा सरिस नहिं जाहिं बखाने ॥
परुसन लगे सुआर सुजाना। बिंजन विविध नाम को जाना ॥
चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई ॥
छरस रुचिर बिजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती ॥
जेंवत देहि मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी ॥
समय सुहावनि गारि विराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा ॥
एहि बिधि सबहीं भोजनु कीन्हा। आदर सहित आचमनु दीन्हा ॥
देइ पान पूजे जनक दसरथ सहित समाज।
जनवासेहि गवन मुदित सकल भूप सिरताज ॥

यहाँ अनलंकारिक भाषा में कार्य-व्यवहार का क्रमशः वर्णन-मात्र कर दिया गया है।

राम और भरत की यात्राओं के वर्णन लम्बे हैं, इसलिए हम उन्हें यहाँ सम्पूर्ण उद्धृत नहीं कर सकते, परन्तु ग्राम-बधुओं, बड़ी-बूढ़ियों आदि के प्रसंग, ग्रामीण जनों के वार्तालाप और इसी तरह की अनेक मनोरंजक बातों के कारण वे रुक्ष नहीं हो पाते। ऐसे स्थलों पर कम प्रतिभावान् कवि असफल हो जाते हैं। भरद्वाज मुनि से मिल कर राम-लक्ष्मण-सीता आगे बढ़ रहे हैं। वाल्मीकि मुनि के आश्रम तक पहुँचने के विस्तृत वर्णन को कवि ने अनेक मौलिक प्रसंगों से [illegible] करके रसस्निग्ध बनाया है।

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट अब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाज बिसारी॥
राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं॥
रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं संग लागे॥
एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बरबानी॥

एक देखि बट छाँह भलि अति मृदुल तन पात।
कहहिं गवाँहअ छिनुकु श्रमु गवनब अबहिं कि प्रात॥

एक कलस भरि आनहिं पानी। अंचइअ नाथ कहहिं मृदुबानी॥
सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। राम कृपाल सुसील बिसेखी॥
जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलम्बु कीन्ह बट छाहीं॥
मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥

× × ×

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूँछत अति सनेहँ सकुचाहीं॥
बार बार सब लागहिं पाएँ। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभायँ कछु पूँछत डरहीं॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी॥
राजकुँअर दोउ सहज सलोने। इन्हं ते लही दुति मरकत सोने॥

स्यामल गौर किसोर वर सुन्दर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुखु सरद सरोरुह नैन॥

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी॥
सकुच सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥

खंजन मंजु तिरीछे निज नयननि। पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि ॥
भई मुदित सब ग्रामबधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं ॥
अति सप्रेम सिय पायँ परि बहुबिधि देहिं असीस ॥
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस ॥

× × ×

लखन जानकी सहित तब गवनु कीन्ह रघुनाथ।
फेरे सब प्रिय बचन कहि लिए लाइ मन माथ ॥

संग्राम के अत्यन्त यथार्थवादी और ओजपूर्ण वर्णन कवितावली की विशेषता है। परन्तु रामचरितमानस के लंकाकांड के अनेक युद्धों के वर्णन अत्यन्त विस्तृत और सुन्दर हैं। यह अवश्य है कि एक ही प्रकार के युद्ध-व्यवहार की अनेक बार आवृत्ति हुई है, परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि कदाचित् उस समय तक तुलसीदास का युद्ध-वर्णन शास्त्र-ज्ञान पर ही आश्रित था।

राम के अभ्युदय के चित्र रामराज्य के वर्णन में हैं जिसे अन्य प्रसंग में उद्धृत कर दिया गया है।

संक्षेप में, तुलसी के काव्य में अनेक सुन्दर वर्णन हैं। वे प्रवाहशील और सांगोपांग हैं और मूर्तिमता से भरे हैं। कहीं-कहीं अत्यन्त नगण्य वस्तु पर भी तुलसी की दृष्टि चली गई है। वर्णन प्रत्येक प्रकार के हैं—स्थिर, चल, चहल-पहल के वर्णन, रीति रिवाज, सौंदर्य। सौंदर्य वर्णन के प्रति तुलसी की प्रवृत्ति आरम्भ से ही जान पड़ती है। उन वर्णनों की चित्रमयता अद्भुत है। हमारे सामने जीवित जाग्रित चित्र उपस्थित होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मनोभावों और क्रियाकलापों के साथ वातावरण को पीछे रखते हुए अत्यन्त क्षिप्रता से चलता है और प्रत्येक बात सम्बद्ध कही जाती है। तुलसी की दृष्टि बाह्य जगत और अन्तर्जगत् का सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन पकड़ लेती है। राम की तो जरा सी भ्रू-भङ्गिमा भी नहीं छूटने पाती। प्रत्येक वर्णन के सब अंगों पर ध्यान दिया गया है और उनमें विस्तार का सन्तुलन स्थापित किया गया है। उदाहरण के लिए, राम-विवाह वर्णन में कवि क्रमशः

आगमन, लोकाचार, विवाह और विदा के प्रसंगों को लेता है और प्रत्येक प्रसंग की छोटी से छोटी बात भी नहीं छूटने पाती। कला की दृष्टि से रामचरितमानस के दो वर्णन—राम-सीता का पूर्व राग और प्रथम मिलन तथा निषाद की सेना का वर्णन—अद्वितीय हैं।

संवाद

रामचरितमानस संवादों का समूह है। संवादों को निकाल लेने पर उसमें कुछ भी नहीं रह जाता, इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है।

संवाद चार प्रकार के हैं। सारा रामचरितमानस आदि से अन्त तक तुलसीदास और श्रद्धालु भक्त पाठक का संवाद है। बालकांड से लेकर अन्त तक उमा-शम्भु-संवाद है, फिर बालकांड से लेकर अन्त तक भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद है, सारी कथा गरुड़-काकभुशुंडि-संवाद है। यह संवादों का एक प्रकार है। पुराणों में कथा संवाद के रूप में कही जाती है और अनेक संस्कृत रामायणों में से केवल कुछ—जैसे वाल्मीकि—को छोड़ कर शेष सब संवाद में हैं। वाल्मीकि में महाकाव्य-शैली पर रचना की है, अन्य रामायण पुराणों की शैली पर हैं। "पुराणों में वक्ता और श्रोताओं की श्रृंखलायें जुड़ती चली जाती हैं। ठीक इसी पद्धति पर प्रस्तावना में चार वक्ता-श्रोता दिखाई पड़ते हैं। मानस धर्मग्रन्थ भी है और काव्यग्रन्थ भी। इसी लिए उसमें धर्मग्रन्थ पुराणों की तरह श्रृंखलाबद्ध संवाद रखे गये हैं।"[1]

इन संवादों के अतिरिक्त कुछ संवाद चरित्रों के बीच में ही भक्ति, धर्म, ज्ञान आदि प्रसंग पर होते हैं। इनका आधार भी पुराण है। हिन्दू-तंत्र और पुराण इस प्रकार के संवादों से भरे पड़े हैं। इनके लिए कवि ने अध्यात्म रामायण से बहुत कुछ सहारा लिया है। इन संवादों को हमने गीताएँ कहा है और इनकी विशेषताएँ उसी शीर्षक के अन्तर्गत देखी जा सकती हैं। तुलसी के धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि-कोण के अध्ययन के लिए ये संवाद (गीतायें) महत्वपूर्ण हैं।

१—'मानस के संवाद'; 'कल्याण' भाग १३, संख्या २

तीसरे प्रकार के संवाद कथा के भाग हैं। इनमें से कुछ संघर्ष-प्रधान मनोवैज्ञानिक सामग्री को हमारे सामने रखते हैं। कुछ में विशेष परिस्थितियों में पड़े मनुष्यों का चित्रण करके केवल घटनाचक्र को आगे बढ़ाया है।

चौथे प्रकार के संवादों का केवल निर्देश मात्र है। उनका वर्णन नहीं मिलता। ऐसे निर्देश कथा-भाग को मुख्य घटनाओं की ओर सीमित करने में सहायक होते हैं। बालकांड और अयोध्याकांड को छोड़कर सारी रामायण समास शैली में है और इसी लिए बहुत से स्थानों पर संवादों के निर्देश मिलते हैं।

पहले प्रकार के संवादों के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। इन चार संवादों के श्रोता-वक्ता इस प्रकार हैं—

वक्ता—	श्रोता—
तुलसी	भक्त, संतजन, पाठक
याज्ञवल्क्य	भरद्वाज
शिव	पार्वती
काकभुशुंडि	गरुड़

इन संवादों की योजना में बड़ी विचित्रता है। प्रश्न यह होता है कि तुलसी ने किसी एक ही वक्ता से रामकथा क्यों न कहलवाई अथवा उन्हें कथा को संवाद रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता ही क्या थी। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इन संवादों के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञान, कर्म, भक्ति एवं दैन्य के प्रतिपादन के लिए चार संवादों की रचना की गई है। कुछ लोगों का कहना है कि चार दार्शनिक सिद्धान्तों (अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत) के प्रतिपादन के लिए ये संवाद लिखे गये हैं और इनमें से प्रत्येक संवाद एक विशेष प्रकार के दर्शन-सिद्धान्त का समर्थक है। कुछ अन्य लोग कहते हैं—"गरुड़, पार्वती, भरद्वाज तीनों श्रोताओं को दाशरथि राम के ईश्वरावतार होने में सन्देह है। वक्ताओं ने इसी सन्देह का निराकरण किया है। श्रोताओं का सन्देह

तो एक ही है, पर वक्ताओं के प्रतिपादन में सूक्ष्म भेद भी लक्षित होता है। काकभुशुंडि का प्रतिपादन उपासनापरक, शिव का ज्ञान-परक और याज्ञवल्क्य का कर्मकांडपरक है। स्वयं तुलसीदास की उक्ति शीलपरक मानना चाहिये।"[१] कुछ विद्वानों का कहना है कि एक ही कथा प्रत्येक संवाद में चल रही है और उसमें एक ही प्रकार की ज्ञान-कर्म-व्यवस्थित भक्ति का निरूपण है, इसलिए अध्यात्म वैभिन्य से मतलब नहीं है।[२] वास्तव में मानस के संवादों की योजना के पीछे एक दूसरी ही वस्तु है। तुलसी ने परम्परागत कथावस्तु को स्वीकार करते हुए भी अपनी रामकथा में विचित्रता और नवीनता का समावेश रखा है।[३] इसलिए यह आवश्यक था कि वे अश्रद्धालुओं के लिए रामकथा के प्रसिद्ध वक्ताओं और परम्परा का सहारा लेते और उनके तर्क बन्द करते। इसीलिए तुलसी ने कहा कि मेरी कथा मूलरूप में वही है जो परम्परागत चली आ रही है।

संभु कीन यह चरित सोहावा।
बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीना।
राम-भगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा।
तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥

१—'मानस के संवाद'; 'कल्याण' १३, २ (विश्वनाथप्रसाद मिश्र)

२—'मानस के संवाद और सोपान'; ना० प्र० प०—श्री चन्द्रबली पाण्डेय।

३—कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई।

जिहि यह कथा सुनी नहि होई।
जनि आचरज करै सुनि कोई॥
कल्पभेद हरि चरित सुहाए।
भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥

ते श्रोता बकता समशीला।
समदरशी जानहि हरिलीला॥

× × ×

औरो जे हरिभगत सुजाना।
कहहि सुनहिं समुझहिं विधि नाना॥

× × ×

भाषाबद्ध करब मैं सोई।
मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥
जस कछु बुध विवेक बल मोरे।
तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे॥

इस प्रकार तुलसी अपने मानस की कथा की परम्परा इस तरह स्थापित करते हैं—

शङ्कर
|
काकभुशुंडि
|
याज्ञवल्क्य
|
भरद्वाज
|
तुलसी
|
पाठकवृन्द

यदि तुलसी का अर्थ ज्ञान का प्रतिपादन होता तो वे उसे उपनिषदों के परिचित ज्ञानी याज्ञवल्क्य से कहलाते, शङ्कर से क्यों कहलाते इसी प्रकार की बात अन्य संवादों के विषय में भी कही जा सकती है। वास्तव में तुलसी अलग-अलग ज्ञान, कर्म, भक्ति और दैन्य का प्रतिपादन करने नहीं बैठे हैं, न उन्हें अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत के झमेलों को सुझाया है, न उन्हें उपासना, ज्ञान, कर्मकांड

और शील का अलग-अलग अस्तित्व ही मान्य है। वे पुराणों की शैली को अपना रहे हैं और कथा-भेद के लिए तर्क उपस्थित करते हुए अपनी कथा का समर्थन महापुरुषों के मुख से करा रहे हैं।

रामचरितमानस का ध्येय भक्ति का निरूपण है। तुलसी की विनय-पत्रिका की भक्ति दैन्य-दास्य-भावनाओं से भरी और तन्मयता एवं आकुलता-प्रधान है। (चातक की स्वाति आशा उसकी प्रतीक है)। परन्तु मानस की भक्ति भरत की भक्ति है जिसमें ज्ञान और कर्म का पूर्ण समुच्चय है। उस भक्ति का रूप भी संवादों से स्थिर नहीं किया गया है, उसके लिए सोपानों का प्रयोग हुआ है—

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
विमलसन्तोषसम्पादनो नाम प्रथमः सोपानः समाप्तः।

(बालकाड)

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
विमलविज्ञानवैराग्यसम्पादनो नाम द्वितीयः सोपानः समाप्तः।

(अयोध्याकाड)

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
विमलवैराग्यसम्पादो नाम तृतीयः सोपानः समाप्तः॥

(अरण्यकांड)

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
विशुद्धसन्तोषसम्पादनो नाम चतुर्थः सोपानः समाप्तः।

(किष्किन्धाकाड)

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
ज्ञानसम्पादनो नाम पञ्चमः सोपानः समाप्तः।

(सुन्दरकाड)

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
विमलविज्ञानसम्पादनो नाम षष्ठः सोपानः समाप्तः।

(लङ्काकांड)

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने अविरलहरिभक्तिसम्पादनो नाम सप्तमः सोपानः समाप्तः ॥

(उत्तरकाड)

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि तुलसी रामभक्ति का विकास इस क्रम से मानते हैं—

(१) विमल सन्तोष
(२) विमल विज्ञान-वैराग्य
(३) विमल वैराग्य
(४) विशुद्ध सन्तोष
(५) ज्ञान
(६) विमल विज्ञान
(७) अविरल हरिभक्ति

इस अविरल भक्ति का रूप क्या होगा, इस विषय में भी तुलसी का मन्तव्य स्पष्ट है—

पुण्यं पापहरम् सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम् । श्रीमद्रामचरितमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये ते संसार पतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्तिनो मानवाः ॥ (रामचरितमानस उत्तरकांड की पुष्पिका)। उन्होंने "विज्ञानभक्ति" को अपना लक्ष्य मान रखा है।

सब संवादों के आदि अन्त भिन्न हैं। इनके अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी की योजना के मूल में क्या प्रवृत्ति काम कर रही है।

गीताओं पर हम पहले विचार कर चुके हैं। उनका कथा से कोई सम्बन्ध नहीं जैसा हम कह आये हैं, उनका ढंग पौराणिक है। इस प्रकार के संवादों में हमें चार प्रकार के विषय मिलते हैं। (१) दार्शनिक उपदेश, (२) धार्मिक उपदेश, (३) नीति-कथन, (४) दृश्य-वर्णन। एक पाँचवें प्रकार के भी दो संवाद हैं—अनुसूइया सीता का नारी-धर्म पर संवाद और राम नारद का विवाह के दुर्गुणों पर संवाद—जिनका विषय आचार है। इस अन्तिम प्रकार के संवादों के विषय

में हमें यह कहना है कि वे अप्रासंगिक हैं। न तो सीता को नारी-धर्म सीखने की आवश्यकता थी, न राम को नारद ऋषि को विवाह के विरुद्ध शिक्षा देने का कोई अवसर था। सच तो यह है कि इन स्थलों पर तुलसी की अपनी स्त्री-विषयक भावना प्रगट हुई है। पहले संवाद में तुलसी का दृष्टिकोण एक हिन्दू गृहस्थ का दृष्टिकोण है और दूसरे संवाद में एक गृह-त्यागी संत का।

कथा-भाग को बढ़ाने वाले अथवा मनोवैज्ञानिक स्थलों को उपस्थित करने वाले संवाद महत्वपूर्ण हैं। ऐसे संवादों को पं० विश्वनाथ मिश्र ने दो श्रेणियों में विभाजित किया है—सभा-संवाद और गोष्ठी-संवाद-सभा-संवाद कम हैं। इनमें लक्ष्मण-परशुराम-संवाद, भरत-सभा-संवाद, जनक-सभा-संवाद, अंगद-रावण-संवाद, हनुमान-रावण-संवाद आदि मुख्य हैं। गोष्ठी-संवाद अनेक हैं—जनकपुर की सखिओं का संवाद, मन्थरा-कैकेयी-संवाद, राम-सीता-संवाद, केवट-संवाद, रावण-मन्दोदरी-संवाद, शूर्पनखा राम-लक्ष्मण संवाद, आदि आदि। वास्तव में दोनों प्रकार के संवादों में कोई विशेष भेद नहीं है। दोनों मनोविज्ञान पर आश्रित हैं, परन्तु सभा-संवाद में सामूहिक मनोविज्ञान और राजकीय शिष्टाचार का भी ध्यान रखा गया है।

इन संवादों को हमने तीसरी श्रेणी में रखा है। पात्रों के चरित्र-निरूपण के लिए इन संवादों का अध्ययन आवश्यक है। सच तो यह है कि चरित्रों को भिन्न बनाने और उन्हें विशिष्ट रूप से चित्रित करने की चेष्टा ही यहाँ हुई है और यही तुलसी का उद्देश्य था। इसके अतिरिक्त पात्र की आयु, उसकी सामाजिक स्थिति, विशेष मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास और प्रसंग की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही ये संवाद लिखे गये हैं।

नीचे हम लक्ष्मण-परशुराम संवाद को उद्धृत करते हैं। इससे तुलसी के संवादों की नाटकीयता और उनके पीछे शील-निरूपण की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेगी।

परशुराम—(जनक से)

कहहु काह अति भीर।

[जनक स्वयम्वर की बात और राम के धनुभंग की कथा कहते हैं।]

परशुराम—(जनक से अत्यन्त क्रोधित होकर)

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा।

बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू।

[सारी सभा में सन्नाटा है। जनक डर के मारे उत्तर नहीं देते। लोगों को भयभीत और जनक को भीरु जानकर रामचन्द्र सामने आते हैं।]

रामचन्द्र—(अत्यन्त विनम्रता से)

नाथ संभुधनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥
आयुस काह कहिअ किन मोही।

परशुराम—(क्रोधित होकर)

सेवकु सो जो करै सेवकाई। अरि करनी करि करिअ लराई॥
सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। न त मारे जैहहिं सब राजा॥

[लक्ष्मण हँसते हुए सामने आते हैं।]

लक्ष्मण (व्यंग्य से)

बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्ह गोसाईं॥
एहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू॥

परशुराम—(अत्यन्त क्रोधित होकर)

रे नृप बालक कालबस बोलत तोहि न संभार।
धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार॥

लक्ष्मण—(हँसते हुए)

··· हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥

का छति लाभु जून धनु तोरें। देखा राम नयन के भोरें ॥
छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू। मुनि बिनु काज करिअ कस रोसू ॥

परशुराम—(क्रोध से अपने परशु की ओर देखते हैं और फिर लक्ष्मण की ओर)

रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा ॥
बालकु बोलि बधउँ नहिं तोही। केवल मुनि जड़ जानहि मोही ॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही। विश्व विदित क्षत्रियकुल-द्रोही ॥
भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। विपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही ॥
सहसबाहु भुज छेदनिहारा। परसु बिलोकु महीपकुमारा ॥

मातु पितहि जनि सोचबस करसि महीसकिसोर।
गर्भन्ह के अर्भक दलन परशु मोर अति घोर ॥

लक्ष्मण—(हँसकर कृत्रिम विनम्रता दिखाते हुए व्यंग्य के स्वर में कहते हैं)

अहो मुनीसु महा भट मानी ॥
पुनि-पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू ॥
इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं ॥
भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी ॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई ॥
बधें पापु अपकीरति हारें। मारतहूँ पा परिअ तुम्हारें ॥
कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा। व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा ॥

जो बिलोकि अनुचित कहेउं छमहु महामुनि धीर।

परशुराम—(क्रोध से परन्तु गम्भीरता बनाये रखकर विश्वामित्र को संबोधित करते हैं)

कौसिक सुनहु मंद यहु बालक। कुटिल कालबस निज कुल घालक ॥
भानुबंस राकेस कलंकू। निपट निरंकुस अबधु असंकू ॥
काल कवल होइहि छन माहीं। कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं ॥
तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा। कहि प्रताप बलु रोष हमारा ॥

लक्ष्मण—(व्यंग्य से)

मुनि सुजसु तुम्हारा। तुम्हहि अछत को बरनै पारा॥
अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥
नहिं संतोषु त पुनि कछु कहहू। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥
बीर ब्रती तुम्ह धीर अछोभा। गारी देत न पावहु सोभा॥

सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु कायर, कथहिं प्रतापु॥

तुम्ह तौ कालु हाँक जनु लावा। बार बार मोहि लागि बोलावा॥

परशुराम—(क्रोध से परशु को हाथ में ले लेते हैं और राजसभा की ओर देख कर कहते हैं)

अब जनि देइ दोसु मोहि लोगू। कटुबादी बालकु बधजोगू॥
बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा। अब यहु मरनिहार भा साँचा॥
कौसिक कहा छमिअ अपराधू। बाल दोष गुन गनहिं न साधू॥
खर कुठार मैं अकरुन कोही। आगें अपराधी गुरुद्रोही॥
उतर देत छोड़उँ बिनु मारें। केवल कौसिक सील तुम्हारें॥
न त एहि काटि कुठार कठोरें। गुरहि उरिन होतेउँ श्रम थोरें॥

गाधिसुनु कह हृदयँ हसि मुनिहि हरि अरइ सूझ।
अयमय खाँड़ न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ॥

लक्ष्मण—(व्याज-निन्दा करते हुए तीखा व्यंग्य वचन बोलते हैं)

मुनि सीलु तुम्हारा। को नहिं जान बिदित संसारा॥
माता पितहि उरिन भए नीकें। गुररिनु रहा सोचु बड़ जीकें॥
सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा। दिन चलि गए ब्याज बड़ बाढ़ा॥
अब आनिअ व्यवहरिआ बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥

[परशुराम अपना परशु तानते हैं। सारी सभा में हाय हाय मच जाती है, परन्तु लक्ष्मण का स्वर तीव्र हो जाता है और उसमें कटुता साफ झलकने लगती है।]

भृगुबर परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचउँ नृपद्रोही॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े॥

[लोग 'अनुचित' 'अनुचित' चिल्ला उठते हैं। राम इशारे से लक्ष्मण को शांत कर देते हैं।]

इस संवाद में, लक्ष्मण का चरित्र उद्धत राजकुमार का है। तुलसी ने ध्यान रखा है कि लक्ष्मण का यही चरित्र हमारे समाने आये। वह संयम रख ही नहीं सकते। राम के अपमान अथवा उपेक्षा के प्रत्येक अवसर पर लक्ष्मण इसी रूप में सामने आते हैं। गंभीर अवसरों पर वे चुप रहते हैं। इसके अतिरिक्त लक्ष्मण युद्ध के तनिक अवसर को भी टालना नहीं चाहते। वे राजनीति की चालें नहीं जानते, नम्रता और शिष्टाचार का ढोंग नहीं करते। "शठम्-शाठ्यम्" यह उनका मोटो है।

लक्ष्मण-परशुराम संवाद के विरुद्ध भरत-सभा और जनक-सभा के संवाद रखे जा सकते हैं। इनमें भरत उज्ज्वलतम रूप में हमारे सामने आते हैं। इन सभा प्रसंगों में तुलसी राजकीय पद्धति के अनुसार पूर्व गोष्ठिओं का भी उल्लेख करते हैं और लोक-सभा में पात्रों को अत्यंत सतर्क रूप में सामने लाते हैं। प्रत्येक वक्ता उत्तरदायित्व से बचना चाहता है। इन संवादों में जहाँ एक ओर भरत हैं वहाँ दूसरी ओर राम। वास्तव में यह प्रसंग राजनीति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

हनुमान-रावण और अंगद-रावण संवादों की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी किस प्रकार विभिन्न पात्रों के साथ एक ही प्रसंग में संवादों को जड़-मूल से बदल देते हैं। हनुमान संयत और गंभीर हैं। अंगद राजकुमार हैं, वयस में छोटे हैं और उद्धत हैं, अतः कभी-कभी शिष्टाचार विरुद्ध बात भी बोल जाते हैं। अंगद-रावण का संवाद उजड्ड गँवारों के संवाद जैसा है, जहाँ दोनों ओर से बात-बात में गाली चलती है; परन्तु दोनों गालियों को पी जाते हैं और व्यंग्यपूर्ण बातें कहते रहते हैं। हनुमान-रावण-संवाद में हनुमान रावण के उद्दंड प्रश्न पर क्रोधित न होकर अत्यन्त संयम और सावधानी से राम की गुणगाथा कहने लगते हैं। अपनी कृतियों के लिए अत्यन्त विनम्रता से अपने कपि-स्वभाव की दुहाई देते हैं।

वे रावण को उसके उज्ज्वल पुलस्त्य-वंश की याद दिलाते हैं और उससे कहते हैं कि राम की विमुखता छोड़ देने पर उसका राज्य अचल हो जायगा। स्वयं तुलसीदास की आलोचना है—

जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी॥

इसके बाद का संवाद इस प्रकार है—

रावण—(हँसता हुआ गर्व से)

मिला हमहिं गुरु कपि बड़ ग्यानी

(कुछ ठहर कर क्रोध से तेवर बदलता हुआ)

मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोही॥

हनुमान—

उलटा होइहिं। मति भ्रम तोर प्रगट मैं जाना॥

रावण—(खिसियाकर राक्षसों से)

बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना।

अंगद-रावण का संवाद दूसरे ही प्रकार का है। अंगद अत्यन्त गर्व के साथ सिंह की चाल चलते हुए राजसभा में प्रवेश करते हैं। यह आवश्यक ही है कि इस बात से रावण को क्रोध आये। रावण से आज्ञा लिये अथवा उसे अभिवादन किये बिना ही वे बैठ भी जाते हैं।

रावण—

कवन तैं बंदर।

अंगद—

मैं रघुबीर दूत दशकन्धर।

मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हित कारन आयउँ भाई॥
उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती॥
बर पायहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा॥
नृप अभिमान मोहबस किंबा। हरि आनिहु सीता जगदंबा॥
अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा॥

दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजन सहित संग निज नारी ॥
सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे ॥
प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि-त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगे तोहि ॥

रावण—(अंगद के इस उपेक्षापूर्ण व्यंग से क्रोधित होकर)
रे कपिपोत बोलु संभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी ॥
(अंगद की पहली उक्ति—मम जनकहि तोहि रही मिताई को याद कर कुछ नम्रता से)
कहु निज नाम जनक कर भाई। केहि नातें मानिये मिताई ॥

अंगद—(व्यंग्य से)
अंगद नाम बालि कर बेटा। तासों कबहुँ भई ही भेंटा ॥

रावण—(इस प्रसंग को लाना नहीं चाहता। मन में सकुचाता है और अंगद के गर्व को उभार कर उसे फोड़ना चाहता है।)
रहा बालि बानर मैं जाना ॥
अंगद तुहीं बालि कर बालक। उपजेहु बंस अनल कुलघालक ॥
गर्भ न गयहु व्यर्थ तुम्ह जायहु। निज मुख तापस दूत कहायहु ॥
अब कहु कुसल बालि कहँ अहई।

अंगद—(हँसकर व्यंग्य से)
दिन दस गएँ बालि पहँ जाई। बूझेउ कुसल सखा उर लाई ॥

× × ×

रावण—(आँखें तरेर कर)
खल तव कठिन बचन सब सहऊँ। नीति धर्म मैं जानत अहऊँ ॥

अंगद—(व्यंग्य से)
······धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत परत्रिय चोरी ॥
देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्म-व्रत-धारी ॥
(व्याज-निन्दा करते हैं)
कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी ॥
धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरसु हमहुँ बड़भागी ॥

रावण—(अत्यन्त क्रोधित हो उठता है और आत्मसंयम खो बैठता है)

जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि सठ बिलोकु मम बाहु।
लोकपाल बल बिपुल ससि ग्रसन हेतु जिमि राहु॥

× × ×

(शांत होकर व्यंग्य का सहारा लेता है। उसे राजसभा में अपना गौरव रखना है।)

तुम्हरे कटक माझ सुनु अंगद। मो सन भिरहि कवन जोधा बद॥
तव प्रभु नारि बिरहँ बलहीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना॥
तुम्ह सुग्रीव कूलद्रुम दोऊ। अनुज हमार भीरु अति सोऊ॥
जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सो किमि होइ अब समरारूढ़ा॥
सिल्पि कर्म जानहिं नल नीला। है कपि एक महाबलसीला॥
आवा प्रथम नगरु जेहिं जारा। [अंगद बात काट देता है और व्यंग्य करता है]

अंगद—

सत्य बचन कहु निसिचर नाहा। साँचेहुँ कीस कीन्ह पुर दाहा॥
रावन नगर अल्प कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥

[अंगद का कथन चलता है। रावण मौन रह कर अपना गौरव बनाये रहता है। अन्त में विनोद का आश्रय लेता है और अंगद पर चुटकी कसकर उसे हतप्रभ करना चाहता है।]

रावण—

धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचइ परिहरि लाजा॥
नाचि कूदि कर लोग रिझाई। पति हित करइ धर्म निपुनाई॥
अंगद स्वामिभक्त तव जाती। प्रभुगुन कस न कहसि एहि भाँती॥
मैं गुनगाहक परम सुजाना। तव कटु रटनि करउं नहिं काना॥

[अंगद अपना ढंग बदल देता है। विनम्र भाषा में व्यंग्य से उत्तर देता है।]

अंगद—

तव गुन गाहकताई। सत्य पवनसुत मोहि सुनाई॥
बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा। तदपि न तेहिं कछु कृत अपकारा॥

× × ×

रावण—(अंगद को चुपता हुआ न देखकर उसके व्यक्तित्व पर चोट करके हँसता है) जो असि मति पितु खाए कीसा।

[इस आक्रमण का उत्तर अंगद रावण को बलि के हाथ से उसकी दुर्दशा की याद दिलाकर देता है, जिस पर रावण क्रोधित हो जाता है। संवाद पूरी तीव्रता से आगे बढ़ता है।]

स्त्रियों के संवादों में उनकी भीरुता, सरलता, कुत्सा, चंचलता, सहृदयता आदि गुणों का बहुत सुन्दर परिचय मिलता है। इनसे तुलसी स्त्री-प्रकृति के विशेषज्ञ सिद्ध होते हैं। उन्होंने स्त्रियों की कुतूहल-वृत्ति का बड़ा अच्छा चित्रण किया है। जहाँ एक ओर राजमन्दिर में पत्नी स्त्रियाँ हैं, वहाँ दूसरी ओर सरल ग्राम-बधूटियाँ हैं। जहाँ नीच वर्ण की दासी मन्थरा है जो अपनी मत्सरता और कुटिलता से बवंडर खड़ा कर देती है, वहाँ दूसरी ओर कौशल्या जैसी राजमाता है जो न सपत्नी से द्वेष रखती हैं, न पुत्र स्नेह को कर्तव्य पर श्रेय देती हैं और सुमित्रा जैसी वीर क्षत्राणियाँ और आत्मोत्सर्ग-तत्परा नारियाँ हैं। स्त्रियों के संवादों का अध्ययन करने के लिए जनकपुर में सखियों का संवाद कैकेयी-मन्थरा-संवाद और चित्रकूट प्रसंग में ग्राम-बधूटियों के संवाद महत्वपूर्ण हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से महाराजा दशरथ और कैकेयी का संवाद सर्वोत्कृष्ट है। अन्य संवादों का आधार मूलतः पात्रों का चरित्र है, परन्तु इस संवाद में चरित्र-निरूपण अप्रधान है और मनोविज्ञान का स्पष्टीकरण मुख्य है।

दशरथ—(अत्यन्त प्रेमपूर्ण मृदुल वाणी से)

प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी।
कारन मोहि सुनाऊ गजगामिन निज कोप कर।

[कैकेयी चुप है ।]

अनहित तोर पिया केइ कीन्हा । केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा ॥
कहु केहि रंकहि करौं नरेसू । कहु केहि नृपहि निकासौं देसू ॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी । काह कीट बपुरे नर नारी ॥

× × ×

बिहँसि माँगु मनभावति बाता ।

× × ×

[कैकेयी हँसती हुई उठती है और भूषण वस्त्रों से सजती है]

भामिनि भयउ तोर मन भावा । घर घर नगर अनंद बधावा ॥

कैकेयी—(सकटाक्ष हँस कर)

मागु मागु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु ।
देन कहेउ बरदान दुइ तेउ पावत संदेहु ॥

दशरथ—

तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई ॥
थाती राखि न माँगेहु काऊ । बिसरि गयउ मोहि भोर सुभाऊ ॥
झूठेहु हमहि दोषु जनि देहू । दुइ कै चारि माँगि मकु लेहू ॥

कैकेयी—(प्रसन्न होकर) ।

सुनहु प्रानप्रिय भावत जीका । देहु एक बर भरतहि टीका ॥
माँगउँ दूसर बर करजोरी । पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ॥
तापस वेष बिसेषि उदासी । चौदह बरिस राम बनवासी ॥

[राजा सोचमग्न होकर चिन्ता करने लगते हैं । कुछ समय के बाद कैकेयी नीरवता को तोड़ती है ।]

भरत कि राउर पूत न होहीं । आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं ॥
जो सुनि सरु अस लाग तुम्हारे । काहे न बोलहु बचनु सँभारे ॥
देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं । सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं ॥
देन कहेहु अब जनि बरु देहू । तजहु सत्य जग अपजसु लेहू ॥
सत्य सराहि कहेउ बरु देना । जानेहु लेइहि माँगि चबेना ॥

दशरथ—(अत्यन्त विनयपूर्वक)

प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥
मोरे भरतु राम दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकर साखी॥

× × ×

मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूछे। तेहि तें परेउ मनोरथु छूछें॥
रिस परिहरु अब मंगल साजू। कछु दिन गएँ भरत जुवराजू॥
एकहि बात मोहि दुखु लागा। बर दूसर असमंजस माँगा॥

× × ×

[कैकेयी क्रोध से खड़ी हो जाती है और अपनी बात पर हठ करने लगती है। दशरथ उसका पाँव पकड़ कर उसे विनयपूर्वक बिठाते हैं।]

मागु माथ अबहीं देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही॥

कैकेयी—(कठोरता से व्यंग करती है)

जौं अंतहुं अस करतबु रहेऊ। मागु मागु तुम्ह केहिं बल कहेऊ॥
दुइ कि होइ एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला॥
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रौताई॥
छाड़हु बचनु कि धीरजु धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू॥

[दशरथ मर्माहत हो जाते हैं। समझ गये कि काल सर पर नाच रहा है।]

दशरथ—(अपनी मृत्यु को अवश्यम्भावी समझ कर हताश हो जाते हैं)

अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचन ओट बैठु मुहु गोई॥
जब लगि जिऔं कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥
फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारू लागी॥

इन संवादों में हम तुलसी को नाटककार के रूप में देखते हैं। यही चरित्र-चित्रण के उपयोगी स्थल हैं। इन संवादों के लिए तुलसी ने कहीं कहीं प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक का सहारा अवश्य लिया है, परन्तु इनमें से अधिकांश मौलिक हैं और उनसे यह प्रगट होता

है कि तुलसी मानव-मनोविज्ञान के कितने बड़े पारखी थे और कठिन परिस्थिति में पड़े हुए पात्र का चित्रण कितने प्रकार से कर सकते थे। उन्होंने भिन्न-भिन्न पात्रों का सच्चा स्वांग भरकर और कहीं कहीं विरोधी उक्तियों को उपस्थित करके आलोचकों को चकित कर दिया है। परन्तु प्रत्येक नाटककार के लिए ये दोनों बातें आवश्यक हो जाती हैं। यह बताना कठिन हो जाता है कि वह किस पात्र के छद्मवेष में है, अथवा नहीं है। तुलसी के संवादों का अध्ययन करने के बाद हम यह कह सकते हैं कि कितनी ही लांछित उक्तियों के लिए वे दोषी नहीं हैं, उनके पात्र का दृष्टिकोण ही उन उक्तियों के लिए जिम्मेदार है। हम यह भी कह सकते हैं कि भरत के चरित्र और उनके संवादों एवं कितनी ही गीताओं में तुलसी का व्यक्तित्व छिपा हुआ है। इससे अधिक निश्चयपूर्वक हम कुछ नहीं कह सकते।

संवादों के अध्ययन से हम इन सिद्धान्तों पर पहुँचते हैं—

(१) तुलसी संवादों के मार्मिक स्थल पहचानते हैं। उन्हें पता है कि पात्र कब चुप रहेगा, कब क्या उत्तर ठीक होगा।

(२) वे पात्र की विभिन्नता के साथ संवाद के रूप में भी विभिन्नता ला देते हैं। उदाहरण के लिए हम हनुमान और अंगद के रावण से संवाद ले सकते हैं।

(३) पात्र की भाषा के प्रयोग, मुद्रा, चेष्टा—सभी विशेषताओं को वे प्रकाशित करते चलते हैं और जहाँ संभव होता है आप भी आलोचना कर देते हैं। वास्तव में यदि रामचरितमानस नाटक है तो तुलसी यूनानी कोरस की तरह सदैव रंगमंच पर उपस्थित हैं।

(४) तुलसी की दृष्टि जन-समाज पर है और उन्होंने अपने पात्र के व्यवहार और उसकी भाषा में जन-साधारण के व्यवहारों और भाषा की विशेषताएँ लाकर अपने काव्य को जन-प्रिय बनाने की चेष्टा की है।

(५) संवादों के पीछे प्रगट या अप्रगट रूप से पात्रों की मनःभूमि चित्रित है।

(६) जहाँ तुलसीदास आवश्यक समझते हैं वहाँ अलंकार आदि काव्य-गुणों का मेल भी कर देते हैं। नहीं तो अधिकांश संवाद अलंकारों से हीन प्रसादपूर्ण, अभिधात्मक या व्यंग्यात्मक एवं प्रवाहमय हैं।

(७) लम्बे संवाद भी विशेष गुणों के कारण अरुचिकर नहीं हैं। ये विशेष गुण हैं—

(क) उनके बीच में कार्य-व्यवहार।
(ख) युक्ति-युक्त कथन और तर्कपूर्ण वर्तालाप का आनन्द।
(ग) कवि की आलोचना।
(घ) श्रोताओं पर प्रभाव का वर्णन या वातावरण का चित्रण।
(ङ) हृदय-बुद्धि का मेल।
(च) अन्तर्कथाओं का निर्देश।
(छ) कहीं-कहीं शब्दों और अर्थों के मनोरंजक दाँव-पेंच चलते हैं।
(ज) सूक्ष्म मनोविकारों और परिस्थिति का उतार-चढ़ाव।
(झ) भाषा-वैचित्र्य एवं समास की आनन्ददायिनी पद्धति का प्रयोग।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी संवाद लिखने में बड़े पटु हैं। उन्होंने केशव की तरह बहुविज्ञता के प्रदर्शन का प्रयत्न कहीं भी नहीं किया परन्तु उनके संवादों में उनके विस्तृत जीवन अनुभव एवं उनके कला-चातुर्य पर प्रकाश पड़ता है। संवादों को मनोविज्ञान, वस्तुस्थिति एवं रस में भरकर उपस्थित करना और साथ ही उसके द्वारा कथा का विकास करते चलना कला की सर्वोच्च कसौटी है। वर्णन लिखना इतना कठिन नहीं। उसके लिए दृश्य-विषय का ज्ञान एवं विस्तृत शब्दकोष चाहिए। संवादों के लिए अधिक जागरूकता की आवश्यकता है। तुलसी इस विषय में भी पीछे नहीं।

११—प्रकृति-चित्रण

तुलसी मानव-स्वभाव के चित्रण, मर्यादा-भाव की स्थापना, राम-भक्ति की महत्ता और स्वयं राम के दैवी गुणों के प्रकाशन में इतनी तन्मयता से लगे हैं कि रामचरितमानस में उन्हें प्रकृति को अलग से देखने का अवसर नहीं मिला है। परन्तु उनकी अन्य रचनाओं से उनकी निरीक्षण शक्ति और उनके प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों के विम्ब रूप से प्रत्यक्षीकरण के पर्याप्त उदाहरण मिल सकते हैं। उदाहरण के लिए हम 'गीतावाली' का चित्रकूट का वर्णन ले सकते हैं—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि।
मनहुं आदि अंभोज विराजत सेवित सुरमुनि भृंगनि॥
सिखर-परस घन घटहिं मिलति बग पाँति सो छवि कवि बरनी।
आदि बराह विहरि वारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरिनी॥
जल जुत विमल सिलनि झलकत नभ बन-प्रतिबिम्ब तरंग।
मानहुं जग रचना विचित्र बिलसति बिराट अंग अंग॥
मंदाकिनिह मिलता झरना झरि-झरि भरि-भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम भगति के पाछे॥

"मंद-मंद गरजते हुए काले बादल गेरू से रँगे (लाल) शृंगों से लगे दिखाई देते हैं और उन शिखरस्पर्शी घटाओं से मिली श्वेत बकपंक्ति दिखाई दे रही है। केवल 'जलद' न कहकर उसमें वर्ण और ध्वनि का भी विन्यास किया गया है। वर्ण के उल्लेख से "जलद" पद में बिंबग्रहण कराने की जो सामर्थ्य आई थी वह रक्ताभ शृंग के योग में और भी बढ़ गई और बगलों की श्वेत पंक्ति ने मिल कर तो चित्र को पूरा ही कर दिया। यदि ये तीनों वस्तुयें—मेघमाला, शृंग और बकपंक्ति—अलग-अलग पड़ी होतीं, उनकी संश्लिष्ट योजना न की गई होती तो कोई चित्र ही कल्पना में उपस्थित न होता। तीनों का अलग-अलग अर्थ-ग्रहणमात्र हो जाता, बिंबग्रहण न होता। इसी प्रकार काली शिलाओं पर फैले हुए जल के भीतर आकाश और

वनस्थली का प्रतिबिम्ब देखना भी सूक्ष्म निरीक्षण सूचित करता है।"
यह उस चित्रकूट का वर्णन है जिसके लिए गोस्वामी जी ने लिखा है—

अब चित्त चेत चित्रकूटहि चलु।
भूमि बिलोकु राम-पद अंकित
बन बिलोकु रघुवर-विहार-थलु।

परन्तु मानस में कवि का उद्देश्य ही भिन्न है। उसके सामने एक ही लक्ष्य है, और वह सीधा, धनुष से छूटे तीर की भाँति, उसकी ओर ज्यादा दिखलाई देता है। इधर-उधर देखने के लिए न उसके पास समय है न ऐसी चाह। यही कारण है कि मानस में प्रकृति स्वतंत्र नहीं है। वह या तो मनोभावों के स्पष्टीकरण के लिए उपस्थित हुई है या अलंकार योजना के लिए अथवा दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों विशेषतः रामभक्ति के प्रतिपादन के लिए। उसका अपना व्यक्तित्व दबा हुआ है और जो कुछ है भी वह परम्परा से प्रभावित और कवि-रूढ़ियों से ग्रस्त। चित्रकूट का वर्णन मानस में इस प्रकार है—

लखन दीख पै उतर करारा।
चहुँ दिश फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
नदी पनचसर सम दम दाना।
सकल कलुष कलि साउज नाना॥

चित्रकूट जनु अचल अहेरी।
चुकइ न घात मार मुठभेरी॥

यह चित्र संश्लिष्ट होते हुए भी अपूर्ण रह जाता है। यही नहीं, धर्म-भावना की अकारण उपस्थिति मूर्त्त चित्र को भी पूरी तरह उभरने नहीं देती। यद्यपि इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण से चित्रकूट का धार्मिक महात्म्य अवश्य स्पष्ट हो जाता है। इसी तरह की बात किष्किन्धा-काण्ड के अन्तर्गत वर्षा और शरद ऋतु वर्णन में मिलती है।

भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध, अध्याय विंश में वर्षा-वर्णन इस प्रकार है—

"वर्षा के आरम्भ में अत्यन्त नील मेघों से ढका हुआ और बिजली के शब्दों से परिपूर्ण आकाश, जिसकी ज्योति स्पष्ट नहीं है उस सगुण ब्रह्म के समान देख पड़ने लगा ॥४॥ जैसे राजा, सदैव अपनी प्रजा से कर लेकर समय पड़ने पर उसी प्रजा के लिए उस धन को खर्च करता है वैसे ही आठ महीने तक सूर्य ने पृथ्वी से जो जलरूप धन खींचा था वही वर्षा ऋतु आने पर अपनी किरणों से छोड़ने लगे ॥५॥ जैसे दयाशील लोग सन्तप्त जन को देखकर दया के मारे उसकी तृप्ति (शान्ति) के लिए अपना जीवन तक दे देते हैं वैसे ही प्रचंड वायु द्वारा संचलित एवं दामिनी-दाम-मंडित महामेघ-मंडल ग्रीष्म की गर्मी से तपे हुए विश्व की तृप्ति के लिए जीवन रूप जल की वर्षा करने लगा ॥६॥ जैसे किसी कामना के लिए तप करने से किसी तपस्वी का शरीर दुर्बल होकर फिर उस कामना के पूर्ण होने पर हृष्टपुष्ट हो जाय वैसे ही ग्रीष्म ऋतु में कृश हो गई पृथ्वी वर्षा का जल पाकर हरी-भरी हो गई ॥७॥ सायंकाल में घोर अंधकार के कारण केवल जुगनुओं की ज्योति देख पड़नी लगी और चन्द्र आदि ग्रहों का प्रकाश छिप गया, जैसे कलियुग में पाप के प्रताप से पाखण्ड-पथ इधर-उधर प्रकाशित होंगे और वेद-मार्ग लुप्त हो जायगा ॥८॥ जैसे नित्य-कर्म समाप्त होने पर अपने आचार्य के शब्द को सुन कर शिष्य लोग भी पीछे-पीछे स्वाध्याय पाठ करने लगते हैं वैसे ही मेघनाद को सुनकर मेंढक भी अपना शब्द करने लगे ॥९॥ जो पहले जल के बिना सूख रही थीं वे छोटी छोटी नदियाँ इन्द्रियों के वशवर्ती पुरुष की देह, धन और सम्पत्ति के समान कुमार्ग में जाने लगीं ॥१०॥ यह पृथ्वी, कहीं हरी घास के कारण हरी होकर, कहीं वीरबहूटियों से लाल होकर और कहीं छत्र रूपी छत्रक की छाया धारण करके राजाओं की सेना-सम्पत्ति के समान शोभित हुई ॥११॥ लोग हरि की सेवा करके जैसे सौन्दर्यमयी बातें पाते हैं वैसे ही सब जल

और स्थल के रहने वाले जीवों ने नवीन जल के सेवन से मनोहर रूप पाया ॥१३॥ वायु के संग से चंचल हुई तरंगों से पूर्ण समुद्र नदियों से मिल कर कच्चे योगी के विषय-वासनापूर्ण और भोग-संगत चित्त के समान क्षोभ को प्राप्त हुआ ॥१४॥ जिनका चित्त भगवान में लगा हुआ है वे अनेक संकटों के आ पड़ने पर जैसे व्यथित नहीं होते, वैसे ही पर्वत समूह वर्षा की बड़ी बड़ी बूँदों की चोट खाकर भी विचलित नहीं हुए ॥१५॥ बढ़ी हुई घास ढँके हुए सब संस्कार विहीन मार्ग संदिग्ध हो गये, जैसे बहुत समय से ब्राह्मणों के द्वारा जिनका अभ्यास नहीं हुआ वे मंत्र नष्ट प्राय और संदिग्ध हो जाते हैं ॥१६॥ गुणी पुरुषों पर भी जैसे कुलटाओं का प्रेम स्थिर नहीं रहता, वैसे ही चंचल बिजलियाँ भी लोकों का उपकार करने वाले मेघों के निकट स्थिर होकर नहीं दीख पड़ती ॥१७॥ गुण समष्टिमय इस प्रपंच में जैसे निर्गुण ब्रह्म (पुरुष) विराजमान है वैसे ही घनगर्जन से पूर्ण आकाश में गुण (प्रत्यञ्चा) हीन इन्द्र-धनुष सुशोभित हुआ ॥१८॥ जैसे जीवात्मा अपने ही चैतन्य से प्रकाशित जो अहंकार है उससे आच्छन्न होने के कारण भली भाँति प्रकाशित नहीं होता, वैसे ही चन्द्रमा भी अपनी कान्ति से प्रकाशित मेघों से आच्छन्न होने के कारण भली भाँति प्रकाशित नहीं होता था ॥१९॥ गृह में रहते-रहते जिनका अन्तःकरण सांसारिक तापों से तप गया है वे विरक्त पुरुष जैसे अपने घर में हरिभक्त के आगमन से संतुष्ट होते हैं, वैसे ही मयूरवृन्द मेघों के आगमन से प्रसन्न होकर नृत्य आदि के द्वारा हृदय की प्रसन्नता प्रगट करने लगे ॥२०॥ घोर तप के श्रम से कृशित ऋषि लोग जैसे अनुष्ठान के पीछे तप के द्वारा प्राप्त भोगों का उपभोग करके नाना भाँति के अनेक वस्त्र धारण करते हैं वैसे ही ग्रीष्म के घोर घाम में तपे, मुर्झाये और सूखे हुए सब वृक्ष भी जड़ से जल पान करके भाँति भाँति के रूपों में सुशोभित हुए ॥२१॥ यद्यपि गृहस्थाश्रम में भयानक कर्मों का अभाव नहीं है तो भी जैसे दुराशय नीच व्यक्ति उसी में रहना अच्छा समझते हैं, वैसे ही यद्यपि

वर्षा में सरोवरों के किनारे कीचड़, कंकड़ों और काँटों की अधिकता होती है तो भी चक्रवाक (चकई चकवा) पक्षी वहीं रहने लगे ॥२२॥ जैसे कलियुग में पाखण्डियों के भ्रष्ट तर्कों से वेदमार्ग नष्ट हो जाएँगे वैसे ही इन्द्र के बरसने पर जल के वेग से सेतु (पुल) टूट गये ॥२३॥ जैसे नरपतिगण पूजनीय पुरोहित ब्राह्मणों की प्रेरणा से समय समय पर प्रजा की अनेक कामनायें पूरी करते हैं वैसे ही मेघगण वायु-संचालित होकर प्राणियों के लिए अमृत (जल) की वर्षा करने लगे ॥२४॥

मानस में वर्षा-वर्णन इस प्रकार है—

वर्षा काल मेघ नभ छाये। गरजत लागत परम सुहाए॥

लछिमन देखहु मोरगन नाचत वारिद पेखि।

गृही विरत रत हर्ष जस विस्नु भगत कहुँ देखि॥

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥
दामिनि दमक रहन घन माहीं। खल कै प्रीत जथा थिर नाहीं॥
बरसहिं जलद भूमि नियराये। जथा नवहिं बुध बिद्या पाये॥
बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥
छुद्र नदी भरि चलीं उतराई। जस थोरेहुँ धन खल बौराई॥
भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥
सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहँ आवा॥
सरिता जल जलनिध महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥

हरित भूमि तृन संकुलित समुझि परहिं न पंथ।

जिमि पाखंड बाढ़त गुप्त होहि सदग्रन्थ॥

दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई॥
नव पल्लव भए विटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका॥
अर्क जवास पात बिनु भएऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ॥
खोजत कतहुँ मिलइ नहि धूरी। करइ क्रोध जिमि धरमहिं दूरी॥
ससि संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै सम्पति जैसी॥
निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन कर मिला समाजा॥

महावृष्टि जलि फूट कियारी। जिमि सुतंत्र भयें बिगरहिं नारी॥
कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥
देखिअत चक्रवाक खग नाहीं। कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं॥
ऊसर बरषै तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा॥
बिबिध जंतु संकुल महिभ्राजा। प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा॥
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रियगन उपजे ग्याना॥

कबहुँ प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
जिमि कपूत के उपजे कुल सद्धर्म नसाहिं॥
कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसङ्ग॥

शरद् ऋतु का वर्णन श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध, अध्याय विंश में इस प्रकार है—

"वर्षा बीतने पर शरद् ऋतु का आविर्भाव हुआ। तब आकाश में मेघों का नाम भी नहीं रहा, जल विमल और वायु का वेग भी शांत हो गया ॥३२॥ फिर जैसे योगाभ्यास करने से भ्रष्ट योगियों के चित्त शुद्ध हो जाते हैं वैसे ही कमल उपजाने वाली शरद् के फिर आने से सरोवरों के जल निर्मल और स्थिर हो गये ॥३३॥ जैसे श्रीकृष्ण की भक्ति हर एक आश्रम में स्थित व्यक्ति के अमंगल को हर लेती है वैसे ही शरद् ने आकाश के मेघों को, पृथ्वी की कीचड़ को और जल के मल को हर लिया ॥३४॥ जैसे पापों से मुक्त मुनि-जन सब वासनाएँ छोड़ कर शांत रूप से शोभा पाते हैं वैसे ही मेघ-वृन्द अपना सर्वस्व (जल) देकर शुद्ध (श्वेत) रूप से सुशोभित हुए ॥३५॥ जैसे ज्ञानी लोग समयानुसार ज्ञान रूपी अमृत (उपदेश के द्वारा) देते हैं और नहीं भी देते हैं, वैसे ही पर्वत समूह (झरनों द्वारा) कहीं निर्मल जल देते हैं और कहीं-कहीं नहीं भी देते ॥३६॥ जैसे मूढ़ परिवारी मनुष्य अपनी आयु का नित्य क्षीण होना नहीं जानते, वैसे ही थोड़े जल में रहने वाले जल-जीव जल के नित्य घटने को नहीं जानते ॥३७॥ दीन, दरिद्र, इन्द्रिय परवश कुटुम्बी

पुरुष के समान थोड़े जल में रहने वाले जीवों को शरद् काल के सूर्यताप की तपन व्यथित करने लगी ॥३८॥ जैसे धीर जन, आत्मा से भिन्न जो देह आदि हैं उनमें अहंभाव रूप ममता को धीरे-धीरे छोड़ देते हैं; वैसे ही भूमि अपनी कीचड़ को और लताएँ अपनी कचाई को धीरे-धीरे छोड़ने लगीं ॥३९॥ जैसे सम्पूर्ण रूप से कर्म-निवृत्ति होने पर मुनि लोग वेदपाठ छोड़ समाधिस्थ और शांत हो जाते हैं वैसे ही शरद् ऋतु के आने पर समुद्र का जल निश्चल और शब्दहीन हो गया ॥४०॥ इन्द्रियों के द्वारा नष्ट हो रहे प्राण (शक्ति) को जैसे योगी लोग इन्द्रिय मार्गों को छोड़ कर सुरक्षित रखते हैं वैसे ही किसान लोगों ने इधर-उधर बहे जा रहे जल को मेंड़ बाँध कर खेतों में ही रोक लिया ॥४१॥ जैसे विद्या (ज्ञान), देहाभिमान और गोपाल के दर्शन से गोपिकाओं का विरहताप मिट जाता है वैसे ही चन्द्रमा की शीतल किरणों के स्पर्श से शरद् ऋतु की प्रचंड तपन से तपे हुए लोगों का ताप शांत हो जाता है ॥४२॥ जैसे पृथ्वीमण्डल में वृष्णिमण्डल के बीच यदुपति श्रीकृष्णचन्द्र की शोभा हो वैसे ही तारामण्डल मण्डित होने से आकाश में अखण्ड मंडल चन्द्रमा शोभायमान हुआ ॥४४॥ जो कर्म केवल ईश्वर की आराधना के लिए निष्काम भाव से किये जाते हैं उनके फल बलपूर्वक उनका अनुसरण करते हैं जिससे वे कर्म आप ही भोग-गर्भ (सब भोगों के उपजाने वाले) हो जाते हैं। वैसे ही शरद् ऋतु में स्वामियों के बलपूर्वक अनुगमन से गऊ, चिड़ियाँ, हरिणियाँ और स्त्रियाँ अपनी इच्छा न रहने पर भी गर्भिणी हो गईं ॥४६॥ जैसे राजा को देख कर सब लोग संकुचित और प्रसन्न रहते हैं, वैसे सूर्य के उदय में कुमुद (कोका-बेली) के सिवा सब कमल फूल उठे ॥४७॥ और जैसे मन्त्र आदि के सिवा प्रभाव से योगसिद्ध लोग जब तक आयु पूर्ण नहीं होती तब तक उसी शरीर में रहकर समय आने पर योग-सिद्धियों के द्वारा मिलने वाले अपने-अपने देव, गन्धर्व आदि शरीरों को पाते हैं, वैसे ही चौमासे के कारण किसी एक ही स्थान में चार महीने रुके हुए

वणिक्जन (बनिज करने वाले), राजा, तपस्वी और यात्रीजन अपने-अपने काम में लग गये ॥४९॥

तुलसीदास ने इस ऋतु का वर्णन इस प्रकार किया है—
(किष्किन्धाकाण्ड १५; १—१७)

बरषा बिगत सरद ऋतु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई॥
फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई॥
उदित अगस्ति पंथ जल सोखा। जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥
रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहि जिमि ग्यानी॥
जानि सरद रितु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए॥
पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप कै जसि करनी॥
जल संकोच बिकल भइ मीना। अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥
कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥
चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥
सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥
फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुण ब्रह्म सगुन भएँ जैसा॥
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा। सुंदर खग रव नाना रूपा॥
चक्रवाक मन दुख निसि पेखी। जिमि दुर्जन पर संपति देखी॥
चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही॥
सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई॥
देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई॥
मसक दंस बीते हिम त्रासा। जिमि द्विज द्रोह किएँ कुल नासा॥
भूमि जीव संकुल रहे गए सरद ऋतु पाइ।
सदगुर मिले जाहि जिमि संसय भ्रम समुदाइ॥

दोनों अवतरणों की वैज्ञानिक तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने भागवत्कार की शैली अपना ली है, परन्तु

एकाध स्थान को छोड़ कर कहीं भी मौलिकता को हाथ से नहीं जाने दिया है। भागवत्कार को मर्यादा का विशेष ध्यान नहीं है। उन्होंने प्राकृतिक घटनाओं को एक साथ योग, निवृत्ति[२], ज्ञान[३], हरिभक्ति[४], निष्काम कार्य[५], और लोक-व्यवहार[६], पर चरितार्थ करने की चेष्टा है जिसका फल यह हुआ है कि उनके इस वर्णन से न तो शरद् ऋतु का कोई चित्र ही हमारे सामने पूरा उतरता है, न मन किसी एक विशेष नीति-शिक्षा अथवा धर्म-शिक्षा पर केन्द्रित होता है। तुलसी केवल सगुण भक्ति, संतों के गुण और धर्मप्राण लोक-व्यवहार को लेकर चलते हैं। वह प्रकृति को एक धर्मप्राण, नीतिशीला व्यक्तित्व के रूप में प्रगट कर सकते हैं। वर्णन भी अधिक पूर्ण है। यदि चौपाइयों के पहले चरणों को एक स्थान पर इकट्ठा किया जाये तो उससे कहीं अधिक पूर्ण चित्र बनेगा जो भागवत्कार ने उपस्थित किया है—

"सारी पृथ्वी प्रकाश से आच्छादित हो गई है। अगस्त का तारा उदय हो गया है। पंथ जलहीन हो गये हैं। सरिता, सर या तो सूख गये हैं या जल कम और स्थिर होने के कारण निर्मल दिखलाई पड़ते हैं। धूल का नाम नहीं। आकाश निर्मल है, हाँ कहीं-कहीं थोड़ी सी वर्षा हो जाती है। सरोवरों में कमल उग आये हैं। उन पर भौंरे गूँजते हैं। खंजन भी दिखलाई पड़ने लगा है। चक्रवाक रात में और चातक दिन रात दुखी है। रात्त का चन्द्रातप दिन के ताप को शांत करता है। भूमि जीव-संकुल हो गई है। समय जानकर, राजा, तापस,

---

१—देखिए ऊपर का अवतरण श्लोक ४६

२—वही ३३. ४१, ४६

३—वही ४०

४—वही ३६

५—वही ३४-३२, ५—वही ४६

६—वही ३८, ४७

वणिक और भिखारी यात्रा, व्यवसाय और पर्यटन के लिए निकल खड़े हुए हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्षा-शरद ऋतु वर्णन में भागवत्-कार की शैली का आश्रय लेते हुए, परन्तु अपनी मौलिकता बनाये रख कर, कवि ने प्रकृति को धर्मशीला चित्रित किया है। उसकी प्रकृति परोपकारी है। सबको समान भाव से दान देने वाली है, निःस्वार्थ है। उसने धर्म-सादृश्य, प्रकृति-चित्रण और अलंकार-योजना का साथ-साथ निर्वाह किया है।

परन्तु तुलसी का प्रकृति-चित्रण यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। उन्होंने प्रकृति को अनेक प्रकारों से भी ग्रहण किया है। सीता-वियोग के अवसर पर प्रकृति विप्रलंभ के उद्दीपन के रूप में उपस्थित होती है तथा उसका प्रयोग उपमा और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के रूप में किया जाता है।

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥
कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥

यह प्रयोग हिंदी कविता में रूढ़ि का स्थान रखता है और इससे कवि की विशेष प्रतिभा प्रगट नहीं होती। इस पर भागवत् की भी थोड़ी छाया है।

परन्तु मानस में ऐसे स्थल भी हैं जहाँ प्रकृति की सरल सुन्दरता के प्रति कवि सहज ही में आकर्षित हो गया है।

बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
सुन्दर खगगन गिरा सोहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥

अथवा—

जहँ तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक भीरा॥

वस्तुतः तुलसीदास की प्रकृति धर्म-प्रवण एवं धर्म-रक्षक है। वह प्रत्येक धर्म-कार्य में सहायता देती है एवं प्रत्येक मंगल अवसर पर शुभ-कामना के लिए उपस्थित है—

कियें जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात॥[१]

प्रकृति-वर्णन के अन्य स्थल वे हैं, जहाँ केवल वस्तुमात्र की तालिका बना दी गई है। ये स्थल भी कवि परिपाटी से प्रभावित हैं कोई विशेष मौलिकता उपस्थित नहीं करते—

बाग-वर्णन (बसंत)

लगे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥
नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥
मध्य बाग सर सोह सुहावा। मनि सोपान बिचित्र बनावा॥
बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जल खग कूजत गुंजत भृंगा[२]॥
भरना भरहि सुधा सम बारी। त्रिविध तापहर त्रिबिध बयारी॥
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसूनप ल्लव बहु भाँती॥
सुंदर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं॥

सरनि सरोरुह जल बिहग, कूजत, गुंजत भृङ्ग।
बैर-बिगत बिहरत विपिन मृग बिहँग बहुरंग[३]॥
बिटप बेलि नव किसलय, कुसुमति सघन सुजाति।
कंद मूल जल थल रुह अगनित अनबल भाँति॥
मंजुल मंजु, बकुल कुल, सुरतरु, तरल तमाल।
कदलि कदम्ब सुचंपक पाटल, पनस रसाल॥
सरित सरन सरसी रुह फूले नाना रंग।
गुंजत मंजु मधुप गन कूजत विविध बिहंग॥

१—अयो०—२१६
२—बा०—२२६. ४—८
३—अ०—२४९

नीचे हम प्रकृति-चित्रण के कुछ अन्य स्थल उपस्थित करेंगे—

(१) राम-जन्म के समय

सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर संतन्ह मन चाऊ॥
बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा। स्रवहिं सकल सरिताऽमृतधारा॥
गगन विमल संकुल सुर यूथा। गावहिं गुन गंधर्व बरूथा॥
बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगहि गगन दुंदभी बाजी॥[१]

इसमें प्रकृति के लौकिक चित्रण के साथ देवताओं के अलौकिक उल्लास को चित्रित करके प्रकृति को भी ऐहिकता के स्तर से ऊँचा उठा दिया गया है।

(२) अयोध्या का सायंकाल वर्णन

अवधपुरी सोहइ एहि भांति। प्रभुहि मिलन आई जनु राती॥
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥
अगर धूप बहु जनु अंधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी॥
मंदिर मनि-समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सोइं दुउ दारा॥
भवन वेद-धुनि अति मृदु बानी। जनु खग-मुखर समय जनु सानी॥[२]

इसमें रूपक का प्रयोग करते हुए अगर-धूम्र-वेष्टित अयोध्या का वर्णन किया है।

(३) नवीनता का उपयोग करके कवि ने कई स्थानों पर रूपक द्वारा प्रकृति-चित्र का प्रयोग करते हुए विशेष परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण किया है। जनक के चित्रकूट आगमन का वर्णन एक ऐसा स्थल उपस्थित करता है—

आश्रम सागर सांत रस पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुना सरित लिएँ जाहिं रघुनाथ॥

१—बाल० १६१, ३—७

२—बा० १६४, ३—७

बोरति ग्यान बिराग करारे। बचन ससोक मिलत नद नारे॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरुवर कर भंगा॥
बिषम विषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा॥
केवट बुध विद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा॥
बनचर कोल किरात बिचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे॥
आश्रम उदधि मिली जब आई। मनहु उठेउ अंबुधि अकुलाई[१]॥

तुलसी ने मानस के अनेक स्थलों में प्रकृति को परम्परागत रूढ़ कल्पनाओं के भीतर से देखा है और कवि प्रसिद्धियों से उसके स्वरूप-निर्माण की चेष्टा की है। मानस में ऐसे अनेक स्थल हैं। 'चन्द्रोदय' के दो वर्णन इसी प्रकार के हैं—

(१) प्राची दिसि ससि उगेउ सुहावा। सियमुख सरिस देखि सुख पावा॥
बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥
जनम सिंधु पुनि बंधु-बिषु दिन मलीन सकलंकु।
सियमुख समता पाव किमि चंद्र बापुरो रंकु॥
घटइ बढ़इ बिरहिन दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई॥
लोक सोकप्रद पंकज द्रोही। औगुन बहुत, चन्द्रमा तोही॥[२]
बैदेही मुख पटतर दीन्हें। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हें॥

(२) पूरब दिसा विलोकि प्रभु देखा उदित मयंक।
कहत सबहिं देखहु ससिहिं मृगपति सरिस असंक॥
पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥
निथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥
कह प्रभु ससि महं मेचकताई। कहहु काहु निज निज मति पाई॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महं प्रगट भूमि कै झाई॥
मारेहु राहु ससिहि कह कोई। उर महुँ परी स्यामता सोई॥

१—अयो० २७५, २७६।
२—बाल० २३७, २३८।

कोउ कह जब बिधि रतिमुख कीन्हा। सारभाग ससि कर हरि लीन्हा ॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं। तेहि मग देखिअ नभ परिछाहीं ॥
प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा ॥
विष-संजुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवंत नरनारी ॥
कह मारुत सुत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार निज दास।
तव मूरति विधु उर बसति, सोइ स्यामता अभास' ॥

इस वर्णन में कवि ने ऊहात्मक नवीन कल्पनाओं से काम लिया है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह चन्द्रमा के सौन्दर्य या चन्द्रोदय के सौन्दर्यांकन में सफल हो गया है। यह बात अवश्य है कि तुलसी की लेखनी यहाँ भी सतर्क है और प्रत्येक व्यक्ति को चन्द्रमा-विषयक कल्पना उसकी हृदयगत आकांक्षा पर प्रकाश डालती है।

अन्त में तुलसी के मानस के प्रकृति सम्बन्धी स्थलों को अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि (१) रामचरितमानस में उन्होंने प्रकृति को गौण रूप दिया है।

(२) प्रकृति का प्रयोग कई प्रकार से हुआ है। (क) परम्परागत (ख) कवि-प्रसिद्धियों के भीतर से (ग) भक्तिभावना के साथ (घ) अलंकारों को सजाने अथवा मूर्त्तिमत्ता के लिए (ङ) परिगणनात्मक रूप से (च) नीति-धर्म के विचारों को स्पष्ट करने के लिए। प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र, मौलिक नवीन उद्भावनापूर्ण वर्णन, ग्रामीण चित्र-मानवीय भावनाओं का आरोपण आदि बातें हमें रामचरितमानस में नहीं मिलतीं। परन्तु कवि-प्रसिद्धियों और परंपराबद्ध कल्पनाओं के भीतर से रूपक गढ़ने में तुलसी अद्वितीय हैं। उदाहरण के लिए—

(क) भवन चारिदास भूधर भारी। सुकृत मेघ बरसहि सुख बारी ॥
मनिगन पुर नर नारी सुजाती। सुचि अमोल सुन्दर सब भाँती ॥
रिधि-सिधि संपत्ति नदी सोहाई। उमगि अवध-अंबुधु कहँ आई ॥

१—लंका० १२

(ख) उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृङ्ग॥
नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखत अवली न प्रकासी॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने।
भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा॥

(३) साहित्य-दर्पण में महाकाव्य के अन्तर्गत प्रकृति के चित्रण के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—

संध्यासूर्येन्दु रजनीप्रदोषध्वान्त वासराः।
प्रातर्मध्याह्न मृगया शैल तुर्वन सागराः॥
× × ×
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गाऽभी इह॥

तुलसीदास ने रामचरितमानस में इन सभी स्थलों को ले लिया है, परन्तु स्वतन्त्र रूप से उनका चित्रण नहीं किया है। इन सब स्थलों का जिस प्रकार का चित्रण मानस में है वह साङ्गोपाङ्ग नहीं कहा जा सकता। वहाँ कवि प्रकृति-वर्णन से अनेक उद्देश्य पूरे करता है। कहीं रूपक के द्वारा राम का ऐश्वर्य प्रताप चित्रित करता है, कहीं उदाहरण के रूप में धर्मनीति अथवा दर्शन-ज्ञान की विवेचना। जहाँ प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन है भी वहाँ केवल किसी चमत्कार एवं विनोद की सृष्टि की गई है या योंही प्राकृतिक वस्तुओं की गणना पर कर दी गई है। जो हो, संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र सभी का थोड़ा-बहुत दर्शन रामचरितमानस में हो जाता है।

सच तो यह है कि तुलसी का उद्देश्य महाकाव्य की सृष्टि नहीं था, वरन् भक्ति-काव्य की रचना था, अतः उनकी प्रकृति का रूप किसी भी अंश में खिल न सका। वाल्मीकि में इन सभी प्रसंगों पर प्रकृति के साङ्गोपाङ्ग-चित्र-प्रधान सश्लिष्ट वर्णन हैं, परन्तु तुलसी में नहीं। वाल्मीकि की प्रकृति का प्रभाव नायक-नायिका पर स्पष्ट रूप से पड़ता दिखलाई देता है। तुलसी के राम प्रकृति के ऊपर हैं, प्रकृति

उनकी इच्छा पर चलती है, उन्हें अलौकिक समझ कर उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करती है; परन्तु स्वयम् राम उसके प्रभाव से मुक्त हैं केवल कहीं एकाध स्थल पर प्रभाव का संकेत भर कर दिया गया है।

(४) परन्तु गीतावली और विनयपत्रिका आदि में तुलसी ने प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णन भी किये हैं, उसे ग्रामीण चित्रों और फाग आदि उत्सवों के साथ भी साङ्गोपाङ्ग देखा है एवं कहीं-कहीं अत्यंत क्लिष्ट और अस्वाभाविक कल्पनाएँ भी की हैं। गीतावली का चित्रकूट का एक वर्णन इस प्रकार है—

देखत चित्रकूट बन मन अति होत हुलास।
सीताराम लषन प्रिय, तापसवृंद निवास॥
सरित सोहावनि पावनि, पाप हरनि पय नाम।
सिद्धि साधु सुर सेवित देति सकल मन काम॥
बिटप बेलि नव किसलय कुसुमित सघन सुजाति।
कंदमूल, जलरुह अगनित अनबन भांति॥
मंजुल मंजु बकुल कुल सुरतरु ताल तमाल।
कदलि कदम सुचंपक पाटल पनस रसाल॥
भूरुह भूरि भरे जनु छवि अनुराग सुभाग।
बन बिलोकि लघु लागहि बिपुल बिबुध बन आग॥
जाइ न बरनि राम बन चितवन चित हरि लेत।
ललित लता द्रुम संकुल मनहुँ मनोज निकेत॥
सरित सरनि सरसी रुह फूले नाना रंग।
गुंजत मंजु मधुप गन कूजत बिबिध बिहंग॥
लषन कहेउ रघुनंदन देखिय बिपिन समाज।
मानहु चयन मयनपुर आयउ प्रिय ऋतुराज॥
चित्रकूट पर राउर जनि अधिक अनुरागु।
सखा सहित जनु रतिपति आयउ खेलन फागु॥

झिल्लि झांझ झरना डफ नव मिरदङ्ग निसान।
भेरि उमंग भृंग रव ताल कीर कल गान॥
हंस कपोत कबूतर बोलत चकक चकोर।
गावत मनहुँ नारि नर मुदित नगर चहुँ ओर॥
चित्र विचित्र बिबिध मृग डोलत डाँगर डाँग।
जनु पुर बीथिन बिहरत छैले संवारे स्वाँग॥
नचहि मोर पिक गावहिं सुर वर राग बंधान।
निलज तरुन तरुनी जनु, खलहिं समय समान॥
भरि भरि सुंड करि निकरि जहँ तहँ डारहिं बारि।
भरत परस पर पिचकनि मनहुँ मुदित नर नारि॥
पीठि चढ़ाइ सिसुन्ह कपि कूदत डारहि डार।
जनु मुँह लाइ गेरु मसि भये खरनि असवार॥
लिये पराग सुमन रस डोलत मलय समीर।
मनहुँ अरगजा छिरकत भरत गुलाल अबीर॥
काम कौतुकी यहि विधि प्रभुहित कौतुक कीन्ह।
रीझि राम रतिना थहि जग विजयी कर दीन्ह॥
दुखबहु मोरे दास जमि, मानेहु मोरि रजाइ।
'भलेहि नाथ' माथे धरि आयसु चलेउ बजाइ॥
मुदित किरात किरातिन रघुबर रूप निहारि।
प्रभु गुन नाचत चले जोहारि जोहारि॥

इसमें चित्रण बहुत कुछ स्वतंत्र और संश्लिष्ट है, परन्तु तुलसी का दृष्टिकोण यहाँ भी उतना ही स्पष्ट है, जितना अन्यत्र। यह प्राकृतिक सौन्दर्य छल है, परन्तु राम के लिए, उनकी प्रसन्नता के लिए है, इसलिए अग्राह्य नहीं—

काम कौतुकी यहि विधि प्रमुदित कौतुक कीन्ह।

उनकी यह भावना उनके प्रकृति-चित्रण को एक विशेष श्रेणी में रख देती है।

१२—समाज

तुलसीदास की दृष्टि में समाज ही सबसे अधिक था, राजसत्ता नहीं, यह बात अनेक प्रकार से स्पष्ट हो जाती है। उन्हें अपने धार्मिक सिद्धान्त समाज के सामने ही रखने थे, अतः वे उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। उसकी अवनति का उन्हें पूर्णतः अनुभव था और उसका सुधार उनका लक्ष्य था।

तुलसी के समाज-सुधार का मेरुदण्ड मर्यादा है। क्या पारिवारिक जीवन, क्या सामाजिक जीवन, क्या राजनैतिक जीवन—उन्होंने सभी में मर्यादा भाव की प्रतिष्ठा की है। अपने युग की उच्छृङ्खलता के प्रति यह उनकी प्रतिक्रिया थी। यही उनका उत्तर था। परन्तु सुधार के क्षेत्र में मर्यादावादी होते हुए भी तुलसी स्मृति (स्मृति नियमों को मानने वाले) और रूढ़ि-प्रिय थे। इस क्षेत्र में वे एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़ सके हैं। नीचे हम विभिन्न शीर्षकों में तुलसी के समाज सम्बन्धी विचारों को उपस्थित करेंगे।

१—पिता

कुटुम्ब या पारिवारिक जीवन

पिता को पुत्र प्राणों के समान प्रिय हो परन्तु उसका यह स्नेह मोह का कारण न हो। जहाँ धर्म और पुत्र-स्नेह में संघर्ष उपस्थित हो जाय, वहाँ धर्म की ही विजय हो। संक्षेप में, पिता के पुत्र-स्नेह को विवेक से मर्यादित होना चाहिए।[१]

२—पुत्र

पुत्र प्रत्येक अवस्था में पिता की आज्ञा का पालन करे। उसके औचित्य अनौचित्य पर विचार करना उसका धर्म नहीं है।[२]

१—तुलसी के पिता-संबंधी आदर्श दशरथ के चरित्र से स्पष्ट हो जाते हैं।

३—भाई

राम-लक्ष्मण के चरित्र में तुलसी ने आदर्श भ्राता को चित्रित किया है। भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह हो।[१]

राम भरत से कहते हैं—

मोर तुम्हार परम परुसारथु। स्वारथु सुजसु धरम परमारथु॥
पितु आयसु पालिहिं दुहुँ भाई। लोक बेद भल भूप भलाई॥
गुरु पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें॥
अस विचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई॥

४—पति

'यदि कई पत्नियाँ हों तो पति सब के साथ समान भाव रखे, परन्तु उनके पारस्परिक छोटे-बड़े-पन का ध्यान रखे।[२]

५—पत्नी

पत्नी पति के अनुकूल रहे। उसकी सेवा करे। पति की सेवा परिचारिकाओं पर न छोड़ दे, स्वयं करे। पति की आज्ञा माने। अपने समस्त नातों को पति के संबंध से ही सुखद समझे।[३]

१—राम प्रान ते प्रान तुम्हारे। तुम रघुपतिहि प्रान ते प्यारे॥

२—अयोध्याकांड में दशरथ-कैकेयी-प्रसंग में इस प्रकार के उपदेश की ध्वनि निकलती है।

३—पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील बिनीता॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल सदा सेवा विधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥
मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥

६—माता

कौशल्या और सुमित्रा माता के दो आदर्शों को हमारे सामने रखती हैं। कौशल्या का पुत्र-स्नेह विवेक से परिचालित है। वह सपत्नी के पुत्रों को भी राम जैसा प्रेम करती हैं। सुमित्रा अपने पुत्र को राम के साथ बन भेजने में जरा भी नहीं हिचकती। गीतावली में एक अन्य अवसर पर शत्रुघ्न को भी ऐसा ही आदेश देती हैं। संक्षेप में माता को पुत्रप्राणा, विवेकशीला और तेजस्वी होना चाहिए।[१]

७—सपत्नी

सपत्नियाँ परस्पर प्रेम का व्यवहार रक्खें। वाल्मीकि में सपत्नियों के द्वेष और ईर्ष्या का चित्र अत्यन्त स्पष्ट है। कौशल्या उपेक्षित हैं और वे इस उपेक्षा भाव के कारण पुत्र-विरहाकुल राजा दशरथ के मर्म पर तक चोट करती हैं। तुलसी ने इस प्रकार के द्वेष का चित्रण नहीं किया है। गीतावली की सुमित्रा तो कौशल्या से भी अधिक राम को प्रेम करती हैं। तुलसी की कैकेयी को भी राम प्रिय हैं, परन्तु जो बवंडर उठ खड़ा हुआ वह देवी-देवताओं के चक्र के कारण था। सपत्नियों का आदर्श चित्रण करते हुए भी तुलसी एकपत्नी-व्रत के पोषक थे जैसा उनके रामराज्य के चित्र से मालूम होता है।

८—सास-बहू

बहू अभिमान त्याग कर सास की सेवा करे। सास के सामने अत्यन्त विनम्र और लज्जालू रहे। सास उसके सुख-दुःख को जाने और उसे आँखों का तारा बना कर रखे।

९—ससुर-बहू

तुलसी ने ससुर-बहू के संबंध को अधिक चित्रित नहीं किया

१—देखिए कौशल्या और सुमित्रा का चरित्र-चित्रण।

है, परन्तु उनका सम्बन्ध भी वही था जो सास-बहू का। बहू ससुर से संकोच रखे। वह उनकी आज्ञाओं को चुपचाप सुन ले चाहे वे उसे अच्छी न लगें। ससुर के लिए वह पुत्री की तरह है। उसकी कल्याण-कल्पना के लिए वह उसे उपदेश और शिक्षा दे।

संक्षेप में, तुलसी ने आदर्श कुटुम्ब का चित्रण इस प्रकार किया है—

पत्नी शील और विनय सहित पति के अनुकूल रहे, पति की प्रभुता को जाने-माने। उसकी सेवा मन वचन कर्म से करे। चाहे घर में कितने ही सेवक हों, उसकी परिचर्या का भार अपने हाथ में रक्खे। उसकी आज्ञा का अनुसरण करे। जिससे पति सुख माने, वही करे। बहू सास की सेवा करे, उससे मान-मद किञ्चित भी न रखे। छोटा भाई बड़े भाई की सेवा करे। उसकी आज्ञा प्राप्ति का अवसर जोहता रहे। बड़ा भाई छोटे भाइयों से प्रेम करे, उन्हें शिक्षा दे। पुत्र विनयी हो, शीलवान् हो। सारा कुटुम्ब सहभाव से परि-चालित हो। रहन-सहन और भोजन साथ हो और सारे कुटुम्बी उसमें सुख मानें।

१—मित्र

सामाजिक जीवन मित्र के संबंध में तुलसी की ये चौपाइयाँ प्रसिद्ध हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्र क दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह के असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठ करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपतिकाल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥
जाकर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहि भलाई॥

२—सेवक

हनुमान, लक्ष्मण और निषाद तुलसी के लिए आदर्श सेवक हैं।

तुलसी की भक्ति दास्य भाव की थी, अतः सेवक-धर्म का करते समय उन्होंने उसे आदर्श रूप में उपस्थित करने का रखा है।

३—नारी

तुलसी की नारी-विषयक धारणाओं की तीव्र आलोचना और प्रत्यालोचना हुई है। इनका आधार मानस की निम्न पंक्तियाँ हैं—

(१) ढोल गँवार सूद्र पसु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥ (सागर की उक्ति)

(२) नारि स्वभाव सत्य कबि कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस अनृत चपलता माया।
भय, अविवेक, असौच, अदाया॥
(मन्दोदरि की उक्ति रावण के प्रति)

प्रत्यालोचकों ने तीन तर्क उपस्थित किए हैं—

(१) "तुलसी ने नारि जाति के प्रति बहुत आदर भाव प्रगट किया है। पार्वती, अनसूया, कौशल्या, सीता, ग्राम-बधू आदि की चरित्र रेखा पवित्र और धर्मपूर्ण विचारों से निर्मित की गई है।"

(२) "नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे प्रमाण उसी समय उपस्थित किये गये हैं जब नारी ने धर्म के विपरीत आचरण किया है।"

(३) "(ये) कथन तुलसीदास के न होकर परिस्थित विशेष में पड़े हुए व्यक्तियों के समझने चाहिए।"

हम तुलसी की नारी-विषयक भावना में सामञ्जस्य बिठाने की चेष्टा करते हैं।

जहाँ एक ओर उन्होंने आदर्श, सुन्दर मौलिक स्त्री-चरित्रों की चर्चा की है वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपने पात्रों के मुख से और स्वयं आप भी स्त्रियों के विषय में ऐसे शब्द कहलाए हैं जो उन जैसे महात्मा के लिए उपयुक्त नहीं थे। तुलसी के नारी-चरित्र में कैकेयी और मंथरा को छोड़ कर अन्य सभी पात्र उज्ज्वल हैं। कैकेयी और

मंथरा भी प्रकृति से ही दुष्ट नहीं हैं, वह देव-प्रेरित सरस्वती से परिचालित हैं और देवकार्य की सिद्धि का लक्ष्य बनकर लांछित होती हैं। साधारण रूप से तुलसी की नारी-विषयक भावना इस प्रकार है—

(१) राम भगित रत नर अरु नारी।
सकल परम गति के अधिकारी॥

(२) बिनु श्रम नारि परम गति लहहीं।

इससे जान पड़ता है कि तुलसी स्त्रियों को स्वभावतः परम गति का अधिकारी समझते हैं, मूलतः कुटिल नारि जीव को नहीं।

(३) एक धर्म एक व्रत नेमा।
काय वचन मन पति पद प्रेमा॥

(४) एक नारि व्रत रत सब कारी।
ते मन क्रम बच पति हितकारी॥

(५) मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना।
नारि सिखावन करेसि न काना॥ (बालि से राम)

(६) इन्हें कुदृष्टि बिलोकइ जोई।
तहि बधे कछु पाप न होई॥

(७) जेहि अघ बध्यो व्याध अरु बाली।
खरदूषण त्रिशरा बलशाली॥
सोइ करतूत विभीषण केरी।
सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥

इन पंक्तियों को हम बालि-वध पर तुलसी की आलोचना भी कह सकते हैं।

पुरुष के लिए एकनारी-व्रत, स्त्री के लिए उच्चकोटि का सतीत्व (पति-पद-प्रेम), स्त्री-पुरुष की सहकारिता एवं गृहस्थ-धर्म के पालन में सहयोग, स्त्री की पवित्रता की रक्षा के लिए उद्योग, अपने सहज स्वभाव के कारण नारी की पुरुष से श्रेष्ठता, भक्ति-पथ में पुरुष और नारी

का समान अधिकार—यह है नारी के लिए वह व्यवस्था जिसको तुलसी ने आदर्श रूप में स्वीकार किया है, परन्तु तुलसी अपने समय के स्त्री-संसार से भी परिचित थे। उस समय स्त्रियों की दशा अत्यन्त गिरी हुई थी। वह चरित्र की दुर्बलताओं से दूषित थी इसीलिए तुलसी उनके लिए कठोर शब्द कह गये। वह आदर्श पर दृष्टि नहीं रख सके। सत्य—यथार्थ—की कठोर भूमि पर उतर आये। गाँधी जी के शब्दों में वह अपने से ऊपर नहीं उठ सके, परन्तु यहाँ यह भी ध्यान देना है कि भावुक होने के कारण नारी शीघ्र ही चरित्रबल से गिर भी जाती है। परम्परा ने इसे स्वीकार भी किया है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। अतः तुलसी ने इसे भी स्थान दिया तो वह अधिक आलोचना के पात्र नहीं।

४— विप्र

तुलसी ने स्थान स्थान पर विप्र-महिमा गाई है और ब्राह्मण-पद-सेवा का उपदेश दिया है, विप्र-विरोधी को उन्होंने अत्यन्त कठोर शब्द कहे हैं एवं कहलवाए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वे वर्णाश्रम संस्था के पक्षपाती थे परन्तु साथ ही उनका विप्र सम्बन्धी आदर्श अत्यन्त उच्च है। वह विप्र शब्द को हरिभक्त और संत का साम्यवाची समझते हैं। उनकी हरिभक्त और संत की कल्पना कितनी उच्च है यह अन्य प्रसंगों से स्पष्ट है। स्वयं अपने को "शुकुल" लिखते हुए तुलसी ने भगवान् को धन्यवाद दिया है, परन्तु साधारण अर्थ में जन्मजात ब्राह्मण की जो मान्यता है वह उन्हें स्वीकार नहीं थी जैसा उनकी उन पंक्तियों से स्पष्ट है जिनमें उन्होंने अपने कुल-गौरव को छिपाना चाहा।

५—शूद्र

शूद्र के प्रति तुलसी की धारणा क्या है, इस विषय में लोग आजकल बड़े सतर्क हैं। 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' वाले दोहे को उपस्थित किया जाता है, परन्तु इस उक्ति के सिवा रामचरितमानस में

इस दृष्टिकोण के पोषण के लिए कहीं भी कुछ नहीं मिलता। यदि तुलसी सम्बूक-बध का प्रसंग रखते तो यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता परन्तु तुलसी ने यह भी नहीं किया। यह बात अवश्य है कि तुलसी को वर्णाश्रम संस्था प्रिय थी, परन्तु वह शूद्र वर्णों को निन्दनीय समझते थे, ऐसा कहीं लक्षित नहीं होता। जिस महापुरुष ने मर्यादा के भाव को प्रमुख स्थान दिया है और सेवा-भाव के अत्यन्त ज्वलन्त स्तम्भ खड़े किए हैं, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सेवा-प्राण शूद्रों को निन्दा-भाव से देखेगा।

६—गुरु

गुरु के प्रति सदैव आदर और विनय का व्यवहार किया जाय। गुरु शिष्य की प्रत्येक प्रकार सहायता करे और कष्ट पड़ने पर उसे सान्त्वना दे। काकभुशुण्डि और उनके उज्जयनी के गुरु के प्रसंग में तुलसी ने गुरु-शिष्य के व्यवहार का सुन्दर चित्रण किया है। गुरु शिव और विष्णु में भेद नहीं समझता। वह शिष्य को पुत्र के समान समझता है और शिष्य को कुपथ पर जाते देख कर उसे प्रबोध करता है और स्वयम् मन में दुखी रहता है। गुरु दयालु हो। क्रोध से दूर रहे। शिष्य गुरु के प्रति किंचित भी अभिमान न रखे और गुरु शिष्य की अवहेलना से मन में रोष न करे। गुरु के चित्त में सम्यक बोध हो। गुरु से ईर्ष्या करने वाला शिष्य रौरव को प्राप्त होता है। गुरु का हृदय अत्यन्त विशाल होता है, वह संसार के सभी प्राणियों के कल्याण के लिए सोचा करता है।

७—शत्रु

तुलसी ने राम के शत्रु-व्यवहार तक में संयम और मर्यादा का भाव रखा है; यद्यपि अंगद-रावण-प्रसंग में वह अपने निश्चित पथ से कुछ हट भी गये हैं। यह कदाचित् उनकी रामभक्ति की प्रबलता के कारण है। उनका रावण आदर्श शत्रु है। वह विरोध भाव को अत्यन्त दृढ़ता से बनाये रखता है। अदम्य साहस, आत्मनिष्ठा, रण-

कौशल और राजनीतिज्ञता—ये गुण हमें रावण में प्रर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इसके सिवा तुलसी की धर्म-अधर्म की कल्पना समाज को दृष्टि में रख कर ही चलती है। वह कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई।

और भी—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज स्वभाव खगराया॥

परन्तु कुटुम्ब और समाज के भिन्न-भिन्न अंगों को छूते हुए एवं उनके लिए आदर्श स्थापित करते हुए भी तुलसी का मानस मूलतः व्यक्ति को ही श्रेष्ठ समझता है। व्यक्तियों से मिल कर ही तो राष्ट्र बना है। जहाँ व्यक्ति उन्नत है वहाँ राष्ट्र क्या निर्बल रह सकता है? "ज्ञानरथ" के रूपक के द्वारा तुलसी ने व्यक्ति के आगे सब से बड़ा आदर्श रक्खा है जिससे वह भीतर और बाहर के शत्रुओं पर विजय पा सकता है—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। विरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर विग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन मोन समाना। सम जप नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र गुर पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ कतहुँ रिपु ताकें॥

मोह अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर॥

अन्य साधनों की भाँति तुलसी की भक्ति का रूप भी वैयक्तिक है। यद्यपि उनकी उपस्थित की हुई योजना में वह लोक-निर्माण का एक सोपान बन गई है। इस भक्ति से साधारण मनुष्य में भी असाधारण सज्जनोचित गुण आ जाते हैं और वह अन्त में संत हो जाता है। वह अपने भीतर रामराज्य के सुख की प्राप्ति करता है। तुलसी के संत के लक्षण अत्यन्त विशद हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को कवि ने ध्यान

में रखा है। लौकिक आचार-विचार, वैयक्तिक और कौटुम्बिक सम्बन्ध सभी को ध्यान में रखते हुए कवि ने अपने संत के आदर्श का निर्माण किया है। वास्तव में उनके संत की परिभाषा-आजकल के आदर्श नागरिक की परिभाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उसमें आस्तिक भाव और उनके अनुसार आचरण अतिरिक्त रहे जो सोने में सोहागा का काम देते हैं। तुलसी व्यक्ति को हरिभक्ति-पथ पर चला कर उसे देवता बनाने का प्रयास करते हैं। चाहे उनका मार्ग ठीक हो या न हो, उन्होंने पूर्ण मानव (राम) और पूर्ण नागरिक में जिन गुणों की कल्पना की है वे प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश में उपादेय हैं।

१३—राजनीति

रामचरितमानस में राजनीति का स्थान धर्म ने ले लिया है। वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकांड के कैकेयी-दशरथ-प्रसंग से यदि धार्मिकता का आवरण हटा लिया जाय तो एक विशद राजनीतिक समस्या सामने आ जाती है। वह समस्या यह है—

अथ राज्ञो बभूवैवं वृद्धस्य चिरजीवनः।
प्रीतिरेषां कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति॥
(अयो० सर्ग १ श्लो० ३५)

दशरथ सोचते हैं कि मेरे जीते जी राम राजा कैसे हो सकेंगे? यह क्यों? इसलिए कि उन्होंने कैकेयी से विवाह करते समय उसे वचन दे दिया था कि वे उसके पुत्र को राज्य देंगे। इसी समस्या को हल करने के लिए भरत को ननिहाल भेजा जाता है[१] और युधाजित

१—कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम्।
भरतं कैकेयी पुत्रं ब्रवीद्रघुनन्दनः॥
अयं केकयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक।
त्वाम् नेतुमागतो वीर युधाजिन्मातुलस्तव॥

और जनक की उपेक्षा की जाती है, तथा राज्याभिषेक का काम अत्यन्त सावधानी और शीघ्रता से किया जाता है।[१] वास्तव में वाल्मीकि के अयोध्याकांड के मूल में जहाँ राजा दशरथ का मानसिक संघर्ष है[२] वहाँ एक अत्यन्त विषम राजनीतिक परिस्थिति भी उठ खड़ी हुई है। युधाजित और भरत की ओर से विद्रोह की संभावना है। तुलसी ने इस प्रकार की कोई योजना नहीं की। रामचरितमानस में न कामजनित मानसिक संघर्ष है, न राजनीतिक संघर्ष, यद्यपि सारा काम इतनी शीघ्रता से होता है कि पाठक को सन्देह होने लगता है कि कोई राजनीतिक कारण मूल में अवश्य है। तुलसी ने दैव का सहारा लिया है और इस प्रकार अपने काम को सरल करना चाहा है—"गई गिरा मति फेर।" साथ ही वाल्मीकि की प्रजा तुलसी की प्रजा से अधिक तेजस्वी है। राजा दशरथ को भय है कि भरत को राज दिये जाने पर वह कहीं विद्रोह न करे।[३] रामायण में गुह, भरद्वाज आदि के वाक्यों में राजनीति-तत्त्व प्रगट होते हैं। उनमें भरत से राजलिप्सा की आशंका की जाती है। तुलसी के भरद्वाज इस विषय में एक शब्द भी नहीं कहते। उनके निषाद के क्रोध का कारण भी रामभक्ति है, राजनीति में राम का पक्ष ग्रहण करना नहीं।

राजनीति तुलसीदास का विषय नहीं है। कुछ आलोचकों का विचार है कि तुलसीदास ने पराजित हिन्दू जाति को राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने के लिए राम की वीरोपासना पर बल दिया है,

---

१—न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः।
त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम्॥

२—स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्।
कामी कमलपत्राक्षी मुवाच वनितामिदम्॥

३—तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम्।
प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश॥
चतुर्दशहि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनं।
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति॥

परन्तु यह बात किसी भी अंश में ठीक नहीं है।[१] जहाँ-जहाँ मानस में राजनीति के सिद्धान्त आये हैं, वे प्रासंगिक हैं और इसका कारण यही है कि रामचन्द्र राजा भी थे। तुलसी ने उनके आदर्श राज्य का वर्णन किया है और इसी प्रसंग में उन्हें राजनीति के सामान्य सिद्धान्त भी रखने पड़े हैं। तुलसी का काव्य आध्यात्मिक अधिक है लौकिक कम। इसी से इसमें राजनीति का वर्णन नहीं है। वाल्मीकि का काव्य ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। तुलसी का बहुत अल्प केवल प्रासंगिक रूप से।

तुलसी के राजनीति के सिद्धान्त दोहावली, कवितावली, विनय-पत्रिका और मानस में ही प्रधान रूप से मिलते हैं। इनमें मानस इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। उसी में तुलसी ने रामराज्य का विशद चित्र उपस्थित किया है। यहाँ यह भूल नहीं जाना चाहिए कि राम-राज्य आदर्श राज्य है, जिसमें प्रत्येक जन रामभक्त है। उसमें हिन्दू दर्प को उभाड़ने की चेष्टा नहीं की गई है। वह भक्त की कल्पना है, राजनीतिज्ञ की नहीं।

राजनीतिक सिद्धान्त

राजा ईश्वर का अंश है।[२] उसका धर्म प्रजा को सुख देना है।[३] वह सब पर समदृष्टि रखता है।[४] यों वह उच्चतम सत्ताधारी है परन्तु वह धर्म के विषय में राजगुरु या पुरोहित और प्रजाहित के विषय में मंत्री की सम्मति लेना अवश्यक समझता

१—"राजनीति की (इन) दुःखपूर्ण परिस्थितियों से ऊबकर तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर राजनीति के आदर्शों का निरूपण किया है।"
—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ४८८

२—साधु, सुजान, सुशील नृपाला।
ईश अंश भव राम कृपाला॥ (तु० ग्रं०, पृ० १७)

३—जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥ (वही पृ० १८५)

४—मुखिया मुख चाहिए खान पान कहुँ एक।
पाले पोषे सकल अंग तुलसी सहित विवेक॥ (वही पृ० २८०)

है।[१] वह सत्यव्रती[२], निर्भीक[३], सदा सतर्क[४] और स्वावलम्बी[५] होता है। वह आश्रम धर्म का पूर्ण रीति से परिपालन करता है।[६] वह प्रत्येक व्यक्ति को उचित सम्मान और उचित श्रेय देने से नहीं चूकता।[७]

राजा की नीति साम[८], दाम[९], दण्ड[१०], भेद[११] से परिचालित

१—मुदित महीपति मन्दिर आए।
सेवक सचिव सुमंत्रु बोलाए॥
कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए।
भूप सुमंगल बचन सुनाए॥
प्रमुदित मोंहि कहेउ गुरु आजू।
रामहिं राय देहु जुवराजू॥
जौ पाँचहि मत लागइ नीका।
करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥ (वही पृ० १५६)

२—रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्रान जाहि पर वचन न जाई॥ (वही पृ० १६८)

३—निज भुजबल पै बैरु बढ़ावा।
देइहौ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा॥ (वही पृ० ४०७)

४—बोली बचन क्रोध करि भारी।
देस कोस के सुरति बिसारी॥
करसि पान सोवसि दिनु राती।
सुधि नहिं तव सिर पर आराती॥ (वही पृ० ३०४)

५—देखिए राम का चरित्र जो सम्पूर्णतयः जागरुकता और कर्तव्यपथ में सतर्कता का प्रतीक है।

६—अन्तहु उचित नृपहिं बनबासू।
वय बिलोकि हिय होइ हरासू॥ (वही पृ० १७६)

७—तुम्हरे बल पै रावण मारा। (वही पृ० ४३८)

८, ९, १०, ११—साम दाम अरु दंड बिभेदा।
नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा॥ (वही १६८)

होती है। वह समय-समय पर इनको सतर्कता से व्यवहार करता है।[१२]

तुलसीदास ने मानस में प्रजा-चित्रण नहीं किया है। तुलसीदास की प्रजा किसी प्रकार आदर्श प्रजा नहीं है। वह राजा की प्रत्येक बात का, चाहे वह अन्यायपूर्ण ही हो, उल्लंघन नहीं करती। वह राजभक्त है। रामभक्त। परन्तु उसका जैसे अपना कुछ भी व्यक्तित्व नहीं है। उसमें कहीं भी तेज नहीं, दर्प नहीं, जागृति नहीं। वह मूक पशु मात्र है जो राजाज्ञा के डंडे पर नाचती है। यदि राजनीतिक जागृति तुलसी का ध्येय होता, तो वह तेजस्वी प्रजा की अवतारणा करने से नहीं चूकते। सच तो यह है कि भारतीय स्मृति ग्रंथों में भी प्रजा का कहीं भी व्यक्तित्व नहीं है फिर मानस में उनका ढूँढ़ना व्यर्थ है।

प्रजा

रामराज्य

तुलसी ने रामराज्य का बड़ा सुन्दर हृदयग्राही चित्र हमारे सामने रखा है—

राम राज बैठे त्रयलोका। हरषित भए गए सब सोका।
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। दूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥

१२—मंत्र कहौं निज मति अनुसारा।
दूत पठाइअ बालि कुमारा॥
काजु हमार तासु हित होई।
रिपु सन करेहु बतकही सोई॥ (वही पृष्ठ ३७७)
नाथ बैर कीजै ताही सों।
बुधि बल सकिअ जीति जाही सों॥ (वही पृष्ठ ३७२)

अलप मृत्यु नहिं कवनिउँ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धर्म रत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।
भुवन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥
सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी॥
सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि एहिं चरित तिन्हहुँ रति मानी॥
सोउ जाने कर फल यह लीला। कहहिं महा मुनिबर दमसीला॥
राम राज कर सुख संपदा। बिप्र चरन सेवक नर नारी॥
एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनिहि सुनिअ अस, रामचन्द्र के राज॥

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा॥
लता बिटप माँगे मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भै कृत जुग कै करनी॥
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥

बिधु महिपुर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
माँगे बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥

(तु० ग्रं०, पृ० ५७५—५७७)

१४—दार्शनिक और धार्मिक

तुलसी के दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों के संबंध में बहुत कुछ लिखा गया है। रामचरितमानस का कोई भी आलोचक उनकी ओर से उदासीन नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ में साहित्य गौण है। धर्म ही कवि को परिचालित कर रहा है और चूँकि देश में धर्म और दर्शन साथ-साथ चलते हैं, अतः मूल में धार्मिक ग्रन्थ होते हुए भी वह दर्शन के मूल तत्त्वों को भी हमारे सामने रखता है। इस अध्याय में हम दर्शन और धर्म के उन सिद्धान्तों तक ही सीमित रहेंगे जो तुलसी का मौलिक मत प्रगट करते हैं।

परन्तु यह जानना सरल नहीं कि तुलसी अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में कहाँ तक मौलिक हैं। पहले इस समस्या को हल करना होगा। उसके पश्चात् हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि तुलसी के दार्शनिक विचार किस प्रकार एक केन्द्र पर आ सकते हैं, वह किस दार्शनिक विचारधारा के पोषक हैं और उनका क्या महत्त्व है।

तुलसी के रामचरितमानस के आध्यात्मिक विचारों का आधार क्या रहा होगा, इसके विषय में सन्देह नहीं है। अध्यात्म रामायण में राम को विष्णु का अवतार सिद्ध करके उनकी भक्ति की प्रतिष्ठा बहुत पहले ही की जा चुकी थी। यह ग्रन्थ प्रत्येक राम-धर्म-प्रेमी के सामने रहा होगा, अतः तुलसी ने इसकी ओर सहायता के लिए अवश्य देखा होगा। यदि यह तर्क ठीक है तो अध्यात्म रामायण और रामचरितमानस के आध्यात्मिक विचारों की तुलना से ही हमें अपने अध्ययन का आरम्भ करना चाहिए।

अध्यात्म रामायण और रामचरितमानस दोनों ग्रन्थों में आध्यात्मिक विचार एवं सिद्धान्त गीताओं और स्तुतियों के रूप में ही कहे गए हैं। मानस के प्रारम्भ में भूमिका-स्वरूप में भी तुलसी ने इस प्रकार के कुछ विचार रक्खे हैं, जैसे सत्संग-महात्म्य, नाम-महात्म्य, मानस-महात्म्य, परन्तु उनका विस्तार अधिक नहीं है। हम पुस्तक के प्रधान भाग की ओर मुड़े बिना नहीं रह सकते।

(१) रामगीता लक्ष्मण के प्रति—

अध्यात्म रामायण

"....शरीरादि अनात्म पदार्थों में जो आत्मबुद्धि होती है उसी को माया कहते हैं। उसी के द्वारा इस संसार की कल्पना हुई है। हे कुलनन्दन! माया के पहले पहल दो रूप माने गए हैं ॥२१—२२॥ एक विक्षेप, दूसरा आवरण। इनमें से पहली विक्षेप-शक्ति ही महत्तत्व से लेकर ब्रह्मा तक समस्त संसार की स्थूल और सूक्ष्म भेद से कल्पना करती है ॥२३॥ और दूसरी आवरण-शक्ति सारे ज्ञान को आवरण करके स्थित रहती है। यह सम्पूर्ण विश्व रज्जु में सर्प-भ्रम के समान शुद्ध परमात्मा में माया से कल्पित है। विचार करने पर यह कुछ भी नहीं ठहरता। मनुष्य जो कुछ सर्वदा सुनते, देखते और स्मरण करते हैं, वह सब स्वप्न और मनोरथों के समान असत्य है। शरीर ही इस संसार-रूपी वृक्ष की दृढ़ मूल है ॥२४—२६॥ उसी के कारण पुत्र-कलत्रादि का बंधन है, नहीं तो आत्मा का इनसे क्या संबंध है ॥२७॥ पाँच स्थूल भूत, पंचतन्मात्राएँ, अहंकार, बुद्धि, दश इन्द्रियाँ, चिदाभास, मन और मूल प्रकृति इन सब के समूह को क्षेत्र समझना चाहिए। इसी को शरीर भी कहते हैं ॥२८—२९॥ निरामय परमात्मा रूप जीव इन सब से पृथक् है। अब मैं उस जीव को जानने के कुछ साधन भी बताता हूँ सुनो ॥३०॥

रामचरितमानस

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या ऊपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥

माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ पद सर्व पर, माया प्रेरक सीव॥

जीव और परमात्मा यह पर्यायवाची शब्द हैं, अतः इसमें भेद-बुद्धि नहीं करनी चाहिए। अभिमान से दूर रहना, दम्भ और हिंसा आदि का त्याग करना, सर्वत्र सरल भाव रखना, मन, वचन और शरीर सच्ची भक्ति से सद्गुरु की सेवा करना ॥३२॥ वाह्य और आन्तरिक शुद्धि रखना, सत्कर्मों में तत्पर रहना, मन, वाणी और शरीर का संयम करना, विषयों में प्रवृत्ति न होना ॥३३॥ अहंकार-शून्य रहना, जन्म, मृत्यु, रोग, बुढ़ापे आदि के कष्टों का विचार करना, पुत्र, स्त्री और धन आदि में राग तथा स्नेह न करना ॥३४॥ इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में चित्त को सदा समान रखना, मुझ सर्वात्मा राम में अनन्य बुद्धि रखना ॥३५॥ जन-समूह से शून्य पवित्र देश में रहना, संसारी लोगों से सदा उदासीन रहना ॥३६॥ आत्मज्ञान का सदा उद्योग करना तथा वेदांत के अर्थ का विचार करना—इन उक्त साधनों से तो ज्ञान प्राप्त होता है ॥३७॥

जिस शुद्ध ज्ञान से ऐसा बोध होता है कि मैं बुद्धि, प्राण, मन, देह और अहकार आदि से विलक्षण नित्य शुद्ध बुद्ध चेतन आत्मा हूँ वही मेरे मत से निश्चित ज्ञान है। जिस समय इसका साक्षात् अनुभव होता है उस समय इसी को विज्ञान कहते हैं ॥३८—३९॥ आत्मा सर्वत्र पूर्ण, चिदानन्द स्वरूप, अविनाशी, बुद्धि आदि उपाधियों से शून्य तथा परिणामादि विकारों से रहित है ॥४०॥ वह अपने प्रकाश से देह आदि उपाधियों को प्रकाशित करता हुआ भी स्वयं आवरण-शून्य, एक अद्वितीय और सत्य ज्ञान आदि लक्षणों वाला तथा संगरहित स्वप्रकाश और सब का साक्षी—ऐसा विज्ञान से जाना जाता है। जिस समय मनुष्य को आचार्य और शास्त्र के उपदेश से जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होता है उसी समय मूल अविद्या अपने कार्य और साधनों के सहित परमात्मा में लीन हो जाती है ॥४१—४३॥ अविद्या की इस लयावस्था को ही मोक्ष

कहते हैं, आत्मा में वह (बंध और मोक्ष) केवल उपचार मात्र है। (वास्तव में आत्मा की बंधावस्था और मुक्तावस्था नहीं है वह तो सदा ही मुक्त है)। हे रघुनन्दन लक्ष्मण! तुम्हें मैंने यह ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य के सहित परमात्मा रूप अपना मोक्ष-स्वरूप सुनाया। किन्तु जो लोग मेरी भक्ति से विमुख हैं, उनके लिए मैं इसे अत्यंत दुर्लभ मानता हूँ ॥४०—४५॥

रामचरितमानस

ग्यान मान जहँ एकहू नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥
धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोक्ष प्रद वेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो स्वतंत्र अवलंब न आना। तेहि अधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला॥

अध्यात्म रामायण

··अब मैं अपनी भक्ति के कुछ वास्तविक उपाय बताता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥४७॥

मेरे भक्त का संग करना, निरंतर मेरी और मेरे भक्तों की सेवा करना, एकादशी आदि का व्रत करना, मेरे पर्वदिनों को मानना ॥४८॥ मेरी कथा के सुनने, पढ़ने और उसकी व्याख्या करने में सदा प्रेम करना, मेरी पूजा में तत्पर रहना, मेरा नाम-कीर्तन करना ॥४९॥

अतः मेरी भक्ति से युक्त पुरुष को ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य आदि की शीघ्र प्राप्ति होती है और फिर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥५१॥

रामचरितमानस

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरण अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥

श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला-रति अति मन माहीं॥
संत-चरन-पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। ताप निरंतर बस मैं ताके॥
बचन करम मन मारि गति भजन करहिं निष्काम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥१॥
भगति जोग सुनि अति सुख पावा।
लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

(२) रामगीता शवरी के प्रति—

अध्यात्म रामायण

मैं संक्षेप में अपनी भक्ति के साधनों का वर्णन करता हूँ। उनमें पहला साधन तो सत्संग ही कहा गया है॥ अ० १०, १२॥ मेरे जन्म-कर्मों की कथा का कीर्तन करना दूसरा साधन है, मेरे गुणों की चर्चा करना यह तीसरा उपाय है और मेरे वाक्यों की व्याख्या करना उसका चौथा साधन है॥२३॥ हे भद्रे! अपने गुरुदेव की निष्कपट होकर भगवद् बुद्धि से सेवा करना पाँचवा, पवित्र स्वभाव, यम-नियमादि का पालन और मेरी पूजा में प्रेम होना छठा, तथा मेरे मन्त्र की सांगोपांग उपासना करना सातवाँ साधन कहा जाता है॥२४—२५॥ मेरे भक्तों की मुझसे भी अधिक पूजा करना, समस्त प्राणियों में मेरी भावना करना। शमदमादि सम्पन्न होकर वाह्य पदार्थों में आसक्त न होना—यह मेरी भक्ति का आठवाँ साधन है तथा तत्त्व-विचार नवाँ है। हे भामिनि! इस प्रकार यह नौ प्रकार की भक्ति है।॥२६—२७॥

रामचरितमानस

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजनु सो वेद प्रकासा ॥
छठ दम सीलु विरति बहु कर्मा। निरत निरन्तर सज्जनु धर्मा ॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मो तें सन्त अधिक करि लेखा ॥
आठवँ जथा लाभ सन्तोषा। सपनेहु नहिं देखइ परदोषा ॥
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥

दोनों स्थानों में दी हुई नवधा भक्ति की तुलना इस प्रकार की जा सकती है—

अध्यात्म	मानस
१—सत्संग। २२	१—सत्संग (संतन्ह कर संगा)।
२—कथा-कीर्तन। २३	२—कथा-कीर्तन (रति मम कथा प्रसंगा)
३—गुण-कथन। २३	३—गुरुसेवा (गुरु पद पंकज सेवा)
४—भगवत वाक्यों की व्याख्या। २३	४—गुणगान (मम गुन गन करइ कपट तज गान)।
५—गुरुसेवा। २४	५—मंत्र-जाप, भगवान में दृढ़ विश्वास, भजन।
६—पवित्र स्वभाव, यम-नियमादि का पालन और मेरी पूजा में प्रेम होना। २४	६—दम, शील, विरति, सज्जन-धर्म का पालन।
७—राममंत्र की सांगोपांग उपासना करना। २५	७—सारे संसार को समभाव देखना और रामभक्तों को राम से भी अधिक मानना।
८—रामभक्तों की पूजा करना, समस्त प्राणियों में राम की	८—थोड़े लाभ में संतोष, सपने में दूसरे का दोष न देखना।

भावना करना और शमदमादि
सम्पन्न होकर वाह्य पदार्थों
में आसक्त न होना । २६

६—तत्त्व-विचार । २७

६—छलहीन व्यवहार, रामभरोसा, वीतराग भाव (हृदय में हर्ष विषाद न हो) ।

(३) राम के निवास-स्थान के संबंध में वाल्मीकि का कथन—

अध्यात्म रामायण

१—जो शांत, समदर्शी और सम्पूर्ण जीवों के प्रति द्वेषहीन हैं अहर्निश आपका ही भजन करते हैं, उनका हृदय आपका निवास-स्थान है ॥५४॥

२—जो धर्म और अधर्म दोनों को छोड़ कर निरन्तर आपका ही भजन करते हैं, हे राम, उसके हृदय-मंदिर में सीता सहित आप सुखपूर्वक रहते हैं ॥५५॥

३—जो आप ही के मंत्र का जाप करता है, आप ही के शरण में रहता है तथा द्वन्द्वहीन और निःस्पृह है, उसका हृदय आपका सुन्दर मन्दिर है ॥५६॥

४—जो अहंकार-शून्य, शांतभाव, राग-द्वेष रहित और मृतपिंड, पत्थर तथा सुवर्ण में समान दृष्टि रखनेवाले हैं, उनका हृदय आपका घर है ॥५७॥

५—जो तुम्हीं में मन और बुद्धि को लगा कर सदा संतुष्ट रहता है और अपने समस्त कर्मों को तुम्हारे ही अर्पण कर देता है, उसका मन ही तुम्हारा शुभ गृह है ॥५८॥

६—जो अप्रिय को पाकर द्वेष नहीं करता और प्रिय को पाकर हर्षित नहीं होता तथा यह प्रपंच माया-मात्र है ऐसा निश्चय कर सदा आपका भजन करता है, उसका मन ही आपका घर है ॥५९॥

७—जो (सत्ता, जन्म लेना, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना और

नष्ट होना) इन छः विकारों को शरीर में ही देखता है, आत्मा में नहीं, तथा क्षुधा, तृषा, सुख-दुःख और भय आदि को प्राण और बुद्धि के ही विकार मानता है और स्वयं सांसारिक धर्मों से मुक्त रहता है, उसका चित्त आपका निज गृह है ॥६०-३१॥

८—जो लोग सत्य स्वरूप, अनन्त, एक निर्लेप, सर्वगत और स्तुत्य आप परमेश्वर को समस्त अन्तःकरणों में विराजमान देखते हैं, हे राम! उनके हृदय-कमल में आप सीताजी के सहित निवास कीजिए ॥६२॥

९—निरन्तर अभ्यास करने से जिनका चित्त स्थिर हो गया है, जो सर्वदा आपकी चरण-सेवा में लगे रहते हैं तथा आपके नाम-संकीर्तन से जिनके पाप नष्ट हो गए हैं उनके हृदय-कमल में सीता के सहित आपका निज संग्रह है ॥६३॥

रामचरितमानस

१—जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥
२—लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥
३—जस तुम्हार मानस बिमल हंसनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु॥
४—प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥
कर नित करहिं रामपद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माँहीं॥
५—मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना॥
तुम्ह तें अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥

सबु करि माँगहिं एकु फलु राम चरन रति होउ।
तिन्हके मन मंदिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ॥

६—काम मोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग द्रोहा॥
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥

७—सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहिं छाड़ि गति दूसर नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥

८—जननी सम जानहि पर नारी। धनु पराव विष तें विष भारी॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रान पियारे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥

९—स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

१०—अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। विप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जगलीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका॥

११—गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु वैदेही॥

१२—जाति पाँति धनु धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदनु सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ उर लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥

१३—सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देखि धरे धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा॥

१४—जाहि न चाहिअ कबहुँ छुक तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

अध्यात्म और रामचरितमानस की आध्यात्मिक एवं धार्मिक गीताओं के अध्ययन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं:—

१—तुलसी ने दार्शनिक सिद्धान्तों (जीव, ब्रह्म, माया, प्रकृति) पर अधिक बल नहीं दिया है। अध्यात्म रामायण की प्रत्येक गीता में दर्शन का पुट है। कहीं कहीं तो जी उबा देने वाला विस्तार मिलता है। तुलसी ने दर्शन की ग्रंथियाँ सुलझाने को अपना ध्येय नहीं

बनाया है। जहाँ उन्होंने अध्यात्म के स्थलों का साथ रखते हुए दार्शनिक प्रसंग लिये हैं, वहाँ भी वह उन्हें पारिभाषिक शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं करते, सीधी सादी सरल शैली में उन्हें समझा देते हैं। लक्ष्मण को दिए हुए भक्तियोग को तुलनात्मक दृष्टि से देखने से यह बात साफ़ हो जायगी। कम से कम शब्दों में दर्शन की केवल प्रचलित सामान्य बातों का कथन करके यह भक्ति, धर्म और समाज-नीति की ओर बढ़ गए हैं। सारे ग्रन्थ में उनका दृष्टिकोण यही रहा है।

२—अध्यात्मकार ने भक्ति का महत्त्व माना है, परन्तु उन्होंने ज्ञान को ही अधिक ऊँचा स्थान दिया है। भक्ति होने से ज्ञान शीघ्र प्राप्त होता है, यह दृष्टिकोण है। तुलसी का मत है कि भक्ति स्वतंत्र है उसे ज्ञान का सहारा नहीं चाहिए, वास्तव में ज्ञान-विज्ञान उसके आधीन हैं। दोनों धर्म-ग्रन्थों में यह बड़ा मौलिक मतभेद है।

३—अध्यात्मकार ने भक्ति के साधन और नवधा भक्ति आदि को अपने ढंग पर वर्णन किया है, परन्तु उन्होंने भक्ति की कोई व्यवस्थित पद्धति भक्तियोग की पूरी तफ़सील उपस्थित करने की चेष्टा नहीं की। तुलसी ने इस ओर विशेष मौलिकता दिखाई। जहाँ अध्यात्मकार क्रियायोग (कर्मकांड) को भी एक साधन मानता है, वहाँ तुलसी का एकमात्र साधन (परन्तु कहीं साध्य भी) भक्ति है।

४—तुलसी का ध्यान भक्त-हृदय के परिष्कार की ओर है, अतः उन्होंने कोई ऐसा अवसर हाथ से जाने नहीं दिया जहाँ संतमत (तुलसी-मत) की व्याख्या करनी आवश्यक जान पड़ी। उन्होंने सत्संग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, दमन, इन्द्रिय-निग्रह, वर्णाश्रम पालन, गुरु-पूजा, रामाश्रय की भावना जैसे गुणों के ज्ञान की ओर ही अधिक ध्यान दिया है क्योंकि यही गुण भक्ति के पथ को प्रशस्त करने वाले हैं।

५—लगभग सभी स्थलों पर तुलसी अधिक से अधिक मौलिक

होने की चेष्टा करते हैं। उनको कई सहायक भी मिल जाते हैं--उनका अपना नैतिक दृष्टिकोण और काव्य का प्रयोग।

६—अध्यात्मकार ने कथाप्रवाह का विशेष ध्यान नहीं रक्खा। उनकी गीताएँ कथाप्रसंग को बड़ी देर तक स्थगित किए रहती हैं। तुलसी की शैली को हम संक्षेप शैली कह सकते हैं। उन्होंने कहीं-कहीं अध्यात्म की किसी गीता को उसी पूर्ण रूप में परन्तु आश्चर्य-जनक संक्षेप में हमारे सामने रक्खा है। उदाहरण के लिए हम राम का वह उपदेश लेते हैं जो उन्होंने बालि की मृत्यु के पश्चात् तारा को दिया है।—अध्यात्म में यह ज्ञानोपदेश २२ श्लोकों पर अवलम्बित है। जिनमें परिस्थिति का विशेष ध्यान न रख कर अध्यात्मकार तारा के मुख से दार्शनिक प्रश्न कराकर राम से उसका समाधान कराता है। तुलसीदास को यह बताने की चिन्ता नहीं है कि "जीव नित्य और चैतन्य रूप है फिर सुख-दुःखादि का सम्बन्ध किससे होता है ?"

वह अत्यन्त संक्षेप में कहते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रहित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ज्ञान··· ···············११—११ (कि०)

७—तुलसी का उद्देश्य निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म और दाशरथि राम में एकात्मता स्थापित करना है (निर्गुण ब्रह्म=सगुण ब्रह्म= दाशरथि राम), एसीलिए उन्होंने दाशरथि राम में सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म का निरूपण किया है। (निर्गुण ब्रह्म सगुण वपु-धारी=राम)—

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम जस गावा॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेसा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाय नहिं बरनी॥

जेहि इमि गावहिं वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दशरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

साधारण शब्दों में हम ब्रह्म को निर्गुण अथवा सगुण कहते हैं, परन्तु वास्तव में वह अलौकिक है, अतः उसके गुण अलौकिक हैं; उन्हें उन शब्दों में प्रगट नहीं किया जा सकता जिनसे हम साधारण परिचित वस्तुओं के गुण प्रगट करते हैं।

तुलसी का राम सम्बन्धी दृष्टिकोण, संक्षेप में इस प्रकार है—निर्गुण रूप ब्रह्म की ज्ञानी वन्दना करते हैं; सगुण रूप का मुनि ध्यान करते हैं; वही दशरथ-सुत राम हैं जो भक्तों के लिए अवतीर्ण हुए हैं। ब्रह्म वास्तव में "अगुण अरूप अलख" है परन्तु प्रेम के कारण भक्त उसमें गुणों का आरोप कर लेते हैं, और वह सगुण रूप भी भक्त की भावना और तन्मयता के कारण उतना ही सत्य है जितना निर्गुण। भक्त की भावना ही अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्तीकरण (स्थूलीकरण) का कारण है—

अगुण अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे।
जलु हिम-उपल बिलग नहिं जैसे॥

८—अध्यात्म रामायण में दाशरथि राम को विष्णु का अवतार माना गया है। तुलसी राम को विष्णु का अवतार भी मानते हैं। इस प्रकार उनके परब्रह्म राम विष्णु भी हो जाते हैं और तब वे उन्हीं की तरह आयुधों और श्रीवत्स से भूषित होते हैं। वास्तव में विष्णु को परब्रह्म, अव्यक्त, अनादि सत्ता के बराबर अध्यात्म में ही रख दिया गया है, और इसलिए तुलसी को कोई अड़चन नहीं पड़ी।

परन्तु भावना की ऊँचाई पर पहुँच कर वे राम को विष्णु से ऊँचा ही मानते हैं, वहाँ (विधि हरि रुद्र नचावन हारे) अध्यात्म का प्रभाव छूट जाता है। यह सब होते हुए भी तुलसी ने अपने अध्यात्म

में एक महत् नवीनता रखी है। उनके मत में राम का नाम उनसे भी बड़ा है। अतः "शब्द ब्रह्म" ("राम") सर्वोपरि हैं।

जो हो, मानस का अधिकांश भाग दाशरथि राम की भक्ति के प्रचार के उत्साह से ही व्याप्त है।

६—अध्यात्म रामायण के विरुद्ध तुलसी ने ऐसे अनेक प्रसंगांतर विषयों को भी रामगीताओं में स्थान दिया है जिनसे उनके अध्यात्म-जगत् पर विशेष प्रकाश पड़ता है। ये विषय हैं—ब्रह्म-सेवा, संत-असंत, संतों के गुण, अध्यात्म की दृष्टि से स्त्री की अवहेलना का उपदेश (नारदगीता) और भक्ति तथा ज्ञान के उचित स्थान का निरूपण।

तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्त किस दर्शन सम्प्रदाय को मान कर चलते हैं, इसमें मतभेद है। (१) श्री एकरसानन्द सरस्वती,[1] विजयानन्द त्रिपाठी[2] आदि सज्जन उन्हें शांकर अद्वैत का समर्थक मानते हैं। पं० गिरिधर शर्मा ने तो यहाँ तक कहा है—"दावे के साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैत के विरुद्ध पड़ने वाले साम्प्रदायिक विचार रामायण में हैं ही नहीं।"[3] (२) कुछ सज्जन अधिक सतर्क हैं। उन्होंने केवल यह स्वीकार मात्र किया है कि रामायण में कई जगह शंकराचार्य का मत ग्रहण किया गया है।[4] (३) श्री जयरामदास 'दीन' और श्रीरामपदार्थ दास आदि तुलसी को विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं।[5] (४) कुछ विद्वानों का कथन है कि तुलसी ने दर्शन-धाराओं का सामञ्जस्य उपस्थित किया है।[6]

१—'कल्याण', १३, २

२—वही

३—तु० ग्रं०, ३रा भाग

४—नगेन्द्रनाथ वसु : 'हिन्दी विश्व-कोष,' भाग ६, पृ० ६८६

५—'कल्याण' : वेदांतांक, पृ० ६०१

६—लाला सीताराम

(५) श्री रामदास गौड़[१] और रामनरेश त्रिपाठी[२] प्रभृति विद्वानों का कहना है कि तुलसी ने दार्शनिक भावों की अवतारणा के लिए ही रामचरितमानस के चार घाटों की कल्पना की है। प्रत्येक घाट पर वक्ता के द्वारा एक विशेष दर्शन सम्प्रदाय के मत का प्रतिपादन किया गया है। (६) एक मत यह भी है कि गोस्वामी जी का झुकाव यद्यपि अद्वैत की ओर है तथापि हैं वे विशिष्टाद्वैतवादी।[३] (७) एक महत्त्वपूर्ण मत पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उपस्थित किया है—"परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, परन्तु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।"[४] डा० बलदेवप्रसाद मिश्र इस मत के समर्थक हैं।[५]

संक्षेप में, तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में यही मतवाद प्रचलित है।

दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव, माया की स्थिति, प्रकृति अथवा संसार की सत्यता-असत्यता, मोक्ष और मोक्ष के साधन इन बातों पर विचार किया जाता है। नीचे हम यही शीर्षक देकर तुलसी के कुछ विचार देंगे :—

ब्रह्म

ब्रह्म निर्गुण भी है, सगुण भी। उसके ये दो रूप हैं। दोनों रूपों में ब्रह्म व्यापक और निराकार है। सगुण ब्रह्म अन्तर्यामिन् भी है। दोनों ब्रह्म, (निर्गुण और सगुण) अवतार लेते हैं। तुलसी को सगुण रूप अधिक प्रिय है। उनके मत में सगुण और निर्गुण

१—रामचरितमानस की भूमिका

२—रामायण टीका की भूमिका

३—डा० ग्रियर्सन

४—तु० ग्रं०, ३रा भाग, पृ० १४५

५—'तुलसीदर्शन', पृ० २१३

रूप में विशेष भेद नहीं। निर्गुण ही भक्त की धारणा में (या उसके प्रेमवश) सगुण सुन्दर रूप धारण कर लेता है जो अधिक सरल है। परन्तु यह सगुण रूप भी रूप-विशेष (विष्णु) और अवतार-विशेष (राम) के रूप में अधिक सुलभ है। वास्तव में ब्रह्म के निर्गुण, सगुण, (महा-) विष्णु और राम रूप एक ही है। यह केवल जल का अधिक अधिक घनत्व और रूप प्राप्त करने जैसा है। तुलसी इनमें से प्रत्येक के लिए राम शब्द का ही प्रयोग करते हैं, अतः उनकी परिभाषा में हम ब्रह्म (राम) के इन रूपों को निर्गुण राम, सगुण राम, महाविष्णु राम और अवतारी राम कह सकते हैं।

ईश्वर

ईश्वर की कल्पना दार्शनिक नहीं, धार्मिक है। यह निरुपाधि ब्रह्म का ही नाम रूपमय उपाधियुत रूप है। इसी रूप में ब्रह्म कर्ता-धर्ता है। उपाधि रहित ब्रह्म कर्तृत्व से परे है, परन्तु ईश्वर बन्ध-मोक्षप्रद, सर्वपर और माया-प्रेरक है। तुलसी "ईश्वर" या "ईश" शब्द का प्रयोग ब्रह्म के साम्यवाची के रूप में भी करते हैं।

जीव

(१) जीव ब्रह्म ही है। ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं। जीव ईश्वर की तरह ही अजन्मा, नित्य, निर्विकार है, परन्तु वह माया के वश में होकर अपने ईश रूप को नहीं जान पाता या भूल जाता है। (२) जीव अनेक हैं। (३) जीव स्वतंत्र नहीं है। माया उसे घुमाती रहती है। भगवान् की कृपा के बिना जीव का माया के चक्र से छुटकारा पाकर ईश्वर रूप हो जाना असम्भव है। जीव और ब्रह्म की विभिन्नता का कारण माया का नाश हरि की कृपा के बिना नहीं हो सकता। इस दृष्टिकोण से ब्रह्म और जीव भिन्न-भिन्न हैं। ब्रह्म और जीव के इस भेद का कारण अभिमान (अहङ्कार) है। इसका नाश भक्ति से होता है। अतः भक्ति ईश्वर-प्राप्ति का साधन है।

माया

(१) सृष्टि की विवर्त रचना का कारण माया है। (२) सांसारिकता (मैं औ मोर तोर तैं) माया है। इसे हम अविद्या भी कह सकते हैं। (३) वह विवर्त में सत्प्रतीति की सामर्थ्य रखती है। (४) माया मूलतः जड़ है। हरि आश्रित है। असत्य है। परन्तु ब्रह्म पर आश्रित होने के कारण सत्य जान पड़ती है। इस प्रकार माया वस्तुतः मिथ्या है, परन्तु मिथ्या होने से कुछ नहीं होता क्योंकि वह उतने पर भी भय उत्पन्न करके दुःख देती ही है। (५) गुण-दोष, नामरूप मायाकृत है। (६) यह माया श्रीरामचन्द्र (ब्रह्म) की दासी है, वे नट की तरह उसे नचा सकते हैं। (७) माया के इन्द्रजाल का परिहार राम-कृपा से ही हो पाता है। (८) माया और भक्ति में भक्ति ईश्वर को अधिक प्रिय है। माया भक्ति के आगे अपने इन्द्रजाल का विस्तार नहीं करती। (९) माया के दो रूप हैं (क) विद्या—इस रूप में माया विवर्ति के द्वारा सृष्टि की रचना करती है। समस्त गुण इसके वश में हैं। परन्तु यह स्वतन्त्र नहीं, इसका बल हरि पर आश्रित है। वैसे यह बलहीन जड़ है। (ख) अविद्या—इस रूप में माया अत्यन्त दुःख देने वाली है। इसके द्वारा मनुष्य आवागमन में पड़ा रहता है। सांसारिकता का कारण यही है।

प्रकृति

प्रकृति और उसके तत्त्वों से उत्पन्न यह संसार सत्य है (द्वैताद्वैत), असत्य है (अद्वैत) या सत्यासत्य दोनों है (विशिष्टाद्वैत)। तुलसी ने विश्व को ब्रह्मरूप ही माना है और उसी आग्रह से प्रणाम किया है। इस दृष्टिकोण से प्रकृति सत्य है—

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥

विराट रूप की कल्पना के पीछे भी इसी तरह की भावना है।

परन्तु यह दृष्टिकोण ब्रह्म की दृष्टि से है। मनुष्य (जीव) की दृष्टि से तुलसी संसार को अद्भुत (अनिर्वचनीय) मानते हैं। विनयपत्रिका में उनका एक पद है—

केसव कहि न जाय का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
(आभास मात्र जैसे सीप में चाँदी)
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे॥
(सत्य-असत्य) (सत्यता का अनुभव)
रविकर नीर बसत अति दारुन मकर रूप तेहि माँही।
(असत्य)
बदनहीन सो ग्रसे चराचर पान करन जे जाँही॥
(अनुभव में सत्य)
कोउ कह सत्य झूँठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै।
(द्वैत) (अद्वैत) (विशिष्टाद्वैत)
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥
(तीनों दृष्टिकोण अपूर्ण, अतः भ्रम हैं)

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास तीनों प्रचलित वादों को भ्रम मानते हैं। विवर्तवाद, परिणामवाद इत्यादि 'वाद' उनके दृष्टिकोण पर पूरे नहीं उतरते। उनका मन्तव्य है कि यह कौतुक—खेल—रहस्यात्मक है, बुद्धि और उसके द्वारा स्थापित वादों के परे है। इस पद से किसी भी दार्शनिक मतवाद की पुष्टि नहीं की जा सकती। यह तुलसी का मौलिक दृष्टिकोण है जो उनके उस दृष्टिकोण से मिलता-जुलता है जिससे वह रामलीला को देखते हैं। डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—"इस पद से ज्ञात होता है कि वे शंकर के अद्वैतवाद के प्रतिपादक होते हुए भी उसे भ्रम

मानते थे,"[१] परन्तु सच तो यह है कि उक्त पद से ऐसा कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

मोक्ष और उसके साधन

मोक्ष के तीन रूप तुलसीदास को स्वीकार हैं—सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य। भक्त की भावना और साधनावस्था की दृष्टि से इनमें से कोई एक रूप उसे प्राप्त होता है। सगुण भक्त होने के कारण तुलसी को सालोक्य विशेष प्रिय है।

तुलसी ने मोक्ष के दो साधन माने हैं, वैसे हिन्दू चिंतन में मोक्ष के तीन साधन हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति, परन्तु तुलसी ने कर्म को विशेष महत्त्व नहीं दिया है उनके लिए ज्ञान और भक्ति ही मान्य है।

ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना।

ज्ञान का अर्थ है आत्मानुभव अर्थात् जीव और ब्रह्म के भेद का नाश।

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा।
दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥
असम अनुभव सुख सु प्रकासा।
तव भव मूल भेद भ्रम नासा॥

भक्ति की मान्यता तो रामचरितमानस में अनेक स्थानों पर है। परन्तु तुलसी ने दोनों में विचित्र सामञ्जस्य उपस्थित किया है। भक्ति और ज्ञान में कोई भेद नहीं, क्योंकि दोनों का लक्ष्य और परिणाम एक है, परन्तु भक्ति सुगम है और ज्ञान दुर्लभ। भक्ति में ज्ञान और विरति को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। एक प्रकार से यह दोनों भक्ति के निचले अंग या उस तक पहुँचने के सोपान-दंड बना दिये गये हैं और इस तरह उन पर भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

दोनों के साधन भी लगभग एक हैं। ज्ञान के साधन हैं—योग

१—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,' पृ० ४६८

गुरु, विराग, सत्संग, भक्ति (राम-प्रेम)। भक्ति के साधन अनेक हैं, जिनमें प्रमुख हैं—श्रद्धा और विश्वास, विवेक और वैराग्य और प्रभु-प्रेम, नाम-जप, सत्संग, प्रेमासक्ति।[१] दोनों के लिए हरि कृपा अपेक्षित है,[२] ज्ञान के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। परन्तु गोस्वामी जी के अनुसार उसकी प्राप्ति भी भगवान् की अनुकम्पा से ही होती है।[३]

तुलसीदास के समय में साधना की दो और पद्धतियाँ—वैराग्य और ज्ञान (विवेक) की—थीं। तुलसी ने अपने भक्ति-पथ में उन्हें भी सम्मिलित कर लिया। उन्होंने भक्ति को आत्मानुभूति पर आश्रित वैयक्तिक साधन नहीं रहने दिया, वरन् उसमें ज्ञान को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। भगवान् ने कहा है, "ज्ञानी भक्त मुझे विशेष प्रिय है।" इस प्रकार ज्ञान और वैराग्य की दो धाराओं को आत्मसात् करने से तुलसी की भक्ति को विशेष बल मिला।

धार्मिक सिद्धान्त

तुलसी के धार्मिक आदर्शों और सिद्धान्तों के अध्ययन करने के लिए वैराग्य-संदीपिनी, रामचरितमानस और विनयपत्रिका ये तीन ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने अपने ग्रन्थ "तुसली-दर्शन" में रामचरितमानस के आधार पर इस विषय में विशेष

१—'तुलसीदर्शन', ७वाँ परिच्छेद

जोग ते ग्याना (तु० ग्रं० ३०८–४)

बिनु गुरु होइ कि ग्यान। (४८३–८)

ग्यान कि होइ विराग बिनु (४८३–८)

बिनु सतसंग विवेक न होई। (४–२१)

जोग कुजोगु ग्यानु अग्यानू

जहँ नहि राम प्रेम परधानू। (२८२–१५)

२—सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि हो जाई॥

३—विशेष अध्ययन के लिए मानस का ज्ञानदीपक प्रकरण देखिए।

अध्ययन उपस्थित किया भी है। इस अध्याय में अनेक स्थानों पर हम उनके ऋणी हैं।

धार्मिक क्षेत्र में तुलसी ने वही काम किया जो दार्शनिक क्षेत्र में उनसे दो शताब्दी पहले रामानुजाचार्य कर चुके थे। रामानुज ने जनमत में प्रचलित सभी धर्म-उपासनाओं को अपने दार्शनिक चिंतन में स्थान दिया और उन्हें शास्त्र का सहारा देकर ऊपर उठाने की चेष्टा की। इसी तरह तुलसी ने भी विभिन्न उपासना पद्धतियों, उपास्य-देवों और धार्मिक मतों में सामञ्जस्य उपस्थित किया।

उस समय की धार्मिक स्थिति विचित्र थी। छोटे-मोटे अनेक धर्म-सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे। शैव, शाक्त, पुष्टिमार्गी, रामभक्त, गोरख-पंथी (जोगी), सूफी संत (निराकारवादी), स्मार्त (पंचदेवों के उपासक) और विन्दुमाधव, सूर्य आदि अनेक देवी-देवताओं के उपासक धर्म के क्षेत्र को विभिन्न टुकड़ियों में बाँटे हुए थे। हिन्दी-प्रदेश में शैव, शाक्त, पुष्टिमार्गी और संतों की प्रतिद्वन्द्विता थी। तुलसी ने पहले तीनों को अपने स्मार्त वैष्णव धर्म में मिलाने की चेष्टा की। रामचरितमानस के द्वारा विभिन्न धार्मिक मतों को एक घाट पर लाने का स्तुत्य प्रयत्न किया।

सारे रामचरितमानस में शिव को प्रमुखता दी गई है :—

१—शिव राम के सब से बड़े भक्त हैं।

२—राम और शिव परस्पर एक दूसरे की वन्दना करते हैं। दोनों एक दूसरे को गुरु मानते हैं।

३—तुलसीदास रामकथा को शिव के मुँह से ही कहलवाते हैं।

४—राम शंभु की स्थापना करते हैं और शिवभक्ति की महिमा स्वीकार करते हैं।

५—शिव-विवाह और पार्वती-परिणय की कथा को रामचरित-मानस में स्थान दिया गया है, यद्यपि इसकी विशेष आवश्यकता नहीं थी।

इसके अतिरिक्त तुलसी ने स्वतंत्र रूप से इस प्रसंग पर "पार्वती-मंगल" की रचना की है।

रामचरितमानस में तुलसीदास शक्ति की प्रार्थना के लिए स्थान निकाल लेते हैं।[१] विनयपत्रिका में तो इस सम्बन्ध में कितनी अन्य रचनाएँ मिलती हैं।

(१) पुष्टि या ईश्वरानुग्रह पर बल और (२) बाल-रूप की उपासना। तुलसी ने स्थान-स्थान पर राम के अनुग्रह का कथन किया है। जितने ऋषि-मुनि राम के सम्पर्क में आते हैं वे उनसे कृपा की ही याचना करते हैं।[२] बाल-इष्टदेव-पूजा का एक पूरा प्रसंग काकभुशुण्डि के चरित्र में मिलता है।[३] स्वयम् शिव को बाल-रामोपासक सिद्ध गया है।[४] पुष्टिमार्ग कृष्ण को केन्द्र मान कर चलता है। तुलसी ने स्वतंत्र रूप से कृष्णगीतावली की रचना कर डाली है।

१—नहि तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना॥
भवभय विभव पराभव कारिनि। बिस्व विमोहिन स्वबस विहारिनि॥

२—अब करि कृपा देहु वर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥
सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहिं होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुमहि रघुनन्दन। जानति भगति भगत उर चन्दन॥
सुख भगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहि कोउ लहई॥

३—जब जब राम मनुज तन धरहीं। भगत हेतु लीला बहु करहीं॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥
जन्म महोत्सव देखउँ जाई। वरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई॥
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सतकामा॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥
लघु बायस बपु धरि हरि संगा। देखउँ बाल चरित बहु रंगा॥

(उ० ७४—७५)

तुलसी का धर्म रामभक्ति है। उनका रामचरितमानस भक्ति-काव्य है या भक्ति-महाकाव्य है। इस भक्ति के स्वरूप का निर्धारण करना और भक्ति रस के आलम्बन भगवान् रामचन्द्र के रूप और गुण की कथा कहना तुलसी का मंतव्य है। भक्ति ही तुलसी का अभिमत सिद्धान्त है, दर्शन नहीं, यह अनेक प्रकार से स्पष्ट है :—

१—प्रत्येक कांड के मङ्गलाचरण में राम-भजन अथवा रामभक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है।[1]

२—मानस में जो ऋषि-मुनि[2], देवता[3], धर्मग्रन्थ[4] अथवा पात्र[5] राम के सामने आते हैं, वे उनसे उनकी भक्ति का ही वरदान माँगते हैं।

३—तुलसीदास राम[6] अथवा अन्य देवताओं से[7] राम की भक्ति माँगते हैं। अन्य व्यक्तियों की वन्दना वे उनके रामभक्त होने के नाते ही करते हैं।

१—यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम् ।
वन्देहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥ (बालकांड)
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमंगलप्रदा ।
(अयोध्याकांड)
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥ (अरण्यकांड)
सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः । (किष्किन्धाकांड)
वन्देहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूड़ामणिम् ॥
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे । (सुन्दरकाड)
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ ॥ (उत्तरकांड)

२—सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु ॥
(स्वायंभुव मुनि, बा० १५०)

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न माँगउं बर आना ।
पद कमल पराग रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना ॥
(ऋषिपत्नी अहल्या, बा० २१०)

प्रसीद मे नमामि ते । पदाम्बुजभक्ति देहि मे ॥

(अत्रि, अरण्य० ४)

मम हियं बसहु निरन्तर सगुन रूप श्रीराम ।

(शरभंग, अरण्य० २)

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप-बान-धर राम ।
मम हिय सदन इंदु इव बसहु सदा निहकाम ॥

(सुतीक्ष्ण, अरण्य० १३)

यह वर मागउँ कृपानिकेता । बसहु हृदय श्री अनुज समेता ॥
अविरल भगति विरति सतसंगा । चरन सरोरुह प्रीति अभंगा ॥

(अरण्य० १२ । ६)

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।
अपर नाम उडुगन विमल बसहु भगत उर व्योम ।

(नारद, अरण्य० ४८ (क))

प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ।

(सनकादि, उ० ३४)

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु ।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु ॥

(वशिष्ठ, उ० ४९)

भगत कल्पतरु प्रणत हित कृपासिन्धु सुखधाम ।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम ॥

(काकभु०, उ० ८४)

३—नृपनायक दे बरदान मिदं । चरनांबुज प्रेमु सदा सुभदं ॥

(ब्रह्मा, लं० १११)

बैदेहि अनुज समेत ।
मम हृदय करहु निकेत ॥
मोहि जानिये निज दास ।
दे भगति रमानिवास ॥ (इन्द्र, लं० १११ छं० ८)

बार बार बर माँगउँ हृदयि देहु श्रीरङ्ग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सत्संग॥
(शंकर, उ० १४ (क))

४—करुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगहीं।
मम बचन कर्म बिकार तजि तव चरन अनुरागहीं॥
(वेद, उ० १२ छं० ८)

५—बार बार माँगउँ कर जोरे।
मनु परिहरइ चरन जनि भोरे॥ (जनक, बा० ३४१।३)
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती।
सब तजि भजन करउँ दिनराती॥ (कि० ६।११)
जेहि जोनि जन्मौ कर्मबस तहँ रामपद अनुरागउँ।
(बालि, कि० छं० २)
अब कृपाल निज भगति पावनी।
देहु सदा सिव मन भावनी॥ (विभीषण, सुन्दर० ४८।४)

६—कामहि नारि पिआरी जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥
(उत्तर० १३०)

७—माँगत तुलसीदास कर जोरे। बसहि रामसिय मानस मोरे॥
(वि० प०, गणेश से)
वेद पुरान प्रगट जसु जागै। तुलसी राम भगति बरु माँगै॥
(वही, भगवान भास्कर से)
देहु कामरिपु रामचरन रति तुलसीदास कहँ कृपानिधान।
तुलसीदास जाचक जसु गावै। विमल भगति रघुपति की पावै॥
तुलसीदास हरिचरन कमल वर देहु भगति अविनासी।
देहि कामरिपु श्रीराम पंकजे। भक्ति भय हरनि गत भेद माया॥
(वही, शङ्कर से)
देहि या मोहि पन प्रेम यह नेम निज राम।
घन स्थल तुलसी पपीहा। (वही, भवानी से)

४—तुलसी के पात्र अन्य देवताओं से रामभक्ति का वरदान माँगते हैं।[९]

५—स्वयम् भगवान् अपने मुँह से अपनी भक्ति की महत्ता प्रतिपादित करते हैं।[१०] राम के प्रति कथन करते हुए ऋषि-मुनि भी यही सिद्ध करते हैं,[११] एवं मानस के चरित्र परस्पर कथोपकथन में इसी पर बल देते हैं।[१२]

६—ग्रन्थ की फल-सिद्धि भी रामभक्ति है।[१३]

तुलसी सब तीर तीर सुमिरत रघुबंस वीर विचरत मन देहु
देहि रघुवीर पद प्रीति निर्भर मातु। (वही, गंगा से)

८—प्रनवउँ परिजन सहित विदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥
मनवउँ प्रथम भगत के चरना। जासु नेम व्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥
प्रनवउँ पवनकुमार खल-बन पावक ग्यानघन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥
बन्दउँ पद सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥

९—अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति रामपद यह बरदानु न आन॥
(भरत प्रयाग से, अयो० २०४)

१०—बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निहकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करौं सदा विश्राम॥
(लक्ष्मण से, अरण्य० १०)

नव महुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥
(शबरी से, अरण्य ३५।३-४)

गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥
(नारद से, अरण्य० ३९)

७—जैसा हम पहले कह चुके हैं रामचरितमानस के प्रत्येक पात्र के दो व्यक्ति हैं—एक भक्त का, दूसरा कथा के अनुसार कर्मों द्वारा निर्धारित। दूसरे शब्दों में रामभक्ति रामचरितमानस के समस्त पात्रों में व्याप्त है। इस दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि परिवार के लोग, पुरजन, परिजन, ऋषि, मुनि, कोल, किरात, ऋक्ष, बानर और राक्षस सभी राम के ईश्वरत्व से परिचित हैं और राम की भक्ति का महत्व जानते हैं। स्वयम् प्रतिनायक रावण भी यह बात जानता है, परन्तु यह जान कर कि तमस्-पूर्ण देह से भजन होना सम्भव नहीं है इसलिए राम-लोक को प्राप्त करने के लिए ही उनका विरोध करता है। इसी से हम देखते हैं कि लङ्का-युद्ध के बाद

मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग।
काय बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग॥
(काकभुशुण्डि से, उ० ८५ (ख))

११—जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
(वाल्मीकि, अयो० १३१)

तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुन्दर॥
(वशिष्ठ, उ० ४६।१-२)

१२—सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत।
(विभीषण-रावण, सु० ३८)

नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात।
(मन्दोदरी-रावण, लं० ७)

भाव बस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन।
तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीतारवन॥
(भुशुण्डि-गरुड़, उ० ९२)

१३—रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निरबान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
(वही, उ० ७८ (क))

रामभक्तों के मन भी रामाकार हो गए और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुक्त होने के कारण रामचरितमानस के प्रत्येक चरण की परिणति रामभक्ति अथवा राम के धाम की प्राप्ति में हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के धार्मिक सिद्धान्तों में सब से महत्त्वपूर्ण रामभक्ति है जिससे उनका ग्रन्थ आद्योपांत आप्लावित है।

परन्तु रामभक्ति की आवश्यकता किस लिए है? तुलसी का मत है कि उसके बिना मनुष्य माया द्वारा उत्पन्न किए हुए दुःखों से छुटकारा ही नहीं पा सकता। मनुष्य इस संसार को सत्य और चिरंतन समझे हुए है। उससे उत्पन्न दुःख-सुख भी उसे सत्य हैं, परन्तु वास्तव में यह संसार और उसके दुःख-सुख माया-प्रेरित और असत्य हैं। यह भ्रम नष्ट हो जाने पर मनुष्य दुःख-सुख के ऊपर उठ जाता है, परन्तु यह भ्रम हटना ही कठिन है। भगवान् की कृपा के बिना इस भ्रम का नाश होना असंभव है।[1] भक्ति इस कृपा का ही व्यक्त रूप है। माया भगवान् की ही चेरी है। इसी ने मनुष्य को मोह लिया है।[2] अतः माया के स्वामी राम के आश्रय में जाने पर ही निस्तार है। आसक्ति, क्रोध, लोभ—ये इस माया के ही फंदे हैं। भगवद्दया से ही इनसे मुक्ति हो सकती है।[3]

१—रजत सीप महँ भास जिमि तथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥

२—नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारी छोहा॥

३—अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥

+ + +

काल, कर्म और गुण के बंधनों में बँधा हुआ मनुष्य दुष्प्रवृत्तिओं के चक्र में घूमता रहता है। इन बंधनों से छुटकारा पाने के दो साधन हैं—ज्ञान और भक्ति। तुलसीदास भक्ति को प्रश्रय देते हैं। उन्होंने ज्ञान और भक्ति का अंतर विस्तारपूर्वक दिया है। उनके तर्कों का सार इस प्रकार रक्खा जा सकता है :—

(१) ज्ञान का पंथ कठिन है, भक्ति का सुलभ और सुखद।[४]

(२) ज्ञानी जब ज्ञान की चरमावस्था को पहुँच जाता है तब भी माया विघ्न करती रहती है[५] और उसे शीघ्र स्थान से बिना प्रयास के ही स्खलित कर सकती है। ज्ञान पुरुष है, भक्ति स्त्री है। माया भी स्त्री है। ज्ञान माया से प्रभावित हो जाता है, भक्ति नहीं। स्त्री स्त्री के रूप से मोहित नहीं होती।[६]

(३) ज्ञान का पंथ कृपाण की धार है। उस पर से गिरते देर नहीं लगती। उसमें मन को रोकने अथवा स्थिर रखने के लिए कोई अवलम्ब नहीं है।[७]

(४) भक्ति को भगवान् ज्ञान से कहीं अधिक प्रिय मानते हैं। वास्तव में भक्तिहीन ज्ञान उन्हें प्रिय नहीं।

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥
लोभ पाँस जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरि कृपा पाय कोइ कोई ॥

४—सुलभ सुखद मारग यह आई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई ॥
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका ॥
करत कष्ट बहु पाव कोऊ। भक्तिहीन मोहि प्रिय नहि सोऊ ॥

५—विघ्न अनेक करै तब माया।

६—भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहि भव संभव खेदा ॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सुनु विहंगवर ॥
ग्यान विराग जोग विग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना ॥

ज्ञानपंथ की कठिनता का बड़ा काव्य-पूर्ण वर्णन हमें मानस में मिलता है, साथ ही उसकी आभ्यंतरिक दुर्बलता का चित्र भी खिंचा

पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥
पुरुष त्यागि सक नारिहिं जो विरक्त मति धीर।
न तु कामी विषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर॥
(उ० ११५ (क))

सोउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान नारि बिस्व माया प्रगट॥
(११५ (ख))

इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। वेद पुरान संत मत भाषउँ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि बर्ग जानइ सब कोऊ॥
प्रभु रघुवीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। तातें तेहि डरपति अति माया॥
राम भगति निरूपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥
यह रहस्य रघुनाथ कर वेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति कृपा सपनेहु मोह न होइ॥
(११६ (क))

७—ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्वहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजन सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं।
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भगति बिहाई॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने॥
(उ० ११८—११९)

गया है ।= उसके लिए इतना बड़ा आयोजन खड़ा करना पड़ता है परन्तु फिर भी असफलता हाथ आती है। इसके साथ ही ज्ञान के लिए प्रेरणा भी हरिकृपा के बिना नहीं होती। तो फिर जब प्रेरणा का स्रोत एक ही है, तो मनुष्य सुलभ, सरल और निश्चित पथ ही क्यों न ग्रहण करे।

८—ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
सो मायाबस भयउँ गोसाईं। बंध्यौ कीर मरकट की नाईं ॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि होइ सुखारी ॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥
जीव हृदय तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी ॥
अस संजोग ईस जब करई। तबहु कदाचित् सो निरुअरई ॥
सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि कृपा हृदय बस आई ॥
जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धरम अचारा ॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई ॥
नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा ॥
परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटइ अनल अकाम बनाई ॥
तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावन देइ जमावै ॥
मुदिता मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी ॥
तब मथि काढि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता ॥

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ ॥ (११७ (क) उ०)
तब बिग्यानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ ॥ (११७ (ख))
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास ते काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि ॥ (११७ (ग))

तुलसी के अनुसार ज्ञान-पथ का अनुसरण करने वाले साधक को विकास की इन सीढ़ियों को पार करना पड़ता है—

सात्विक श्रद्धा (हरि कृपा से प्राप्त)
|
जप तप नेम धर्माचार
|
यज्ञ
|
निवृत्ति, विश्वास
मन की निर्मलता
|
अकाम
|
तोष, क्षमा, धृति
|
विचार
|
दम, सत्य
|
विराग
|
ज्ञान
|
ममता भाव
|
तुरीय अवस्था
(सोहं ब्रह्म का अनुभव)

यह विधि लेसै दीप तेज रासि बिग्यानमय ॥
जातहिं जासु समीप जरहि मदादिक सलभ सब ॥
सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा । दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा ॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा । तब भव मूल भेद भ्रम नासा ।
प्रबल अविद्या कर परिवारा । मोह आदि तम मिटै अपारा ॥

परन्तु माया लोभ और इन्द्रियों के विषयों का सहारा लेकर उसे अंत में परास्त कर देती है। माया ईश के वश में है।[१] भगवान् की अनुकंपा होते ही माया निर्बल हो जाती है तथा उसके द्वारा उत्पन्न मानस-रोग नष्ट हो जाते हैं। ये रोग हैं—मोह, लोभ, काम, क्रोध, विषय-मनोरथ, ममता, ईर्ष्या, हर्ष, विषाद, दूसरे का दोष देखना आदि।

भक्ति के साधन

भक्ति के साधन अनेक हैं। तुलसी के लिए भक्ति इतनी सहज स्फूर्ति है कि प्रत्येक कर्म उनके लिए भक्ति प्राप्त का एक साधन हो जाता है। अतः उन्होंने प्रत्येक प्रसंग में साधनों के सम्बन्ध में एक जैसी बात नहीं कही है। शवरी को कही गई नवधा भक्ति में साधन इस प्रकार हैं—(१) सत्संग (२) कथा में रति (३) मान-रहित गुरु-भक्ति (४) कीर्तन (५) जप, भजन (६) सन्तवृत्ति (७) अनन्यवृत्ति (८) सन्तोष-वृत्ति और (९) भगवद्‌वलम्ब।[२] लक्ष्मण भक्तियोग में भी यही साधन कहे गये हैं, परन्तु उसकी एक विशेषता यह भी है कि वहाँ अध्यात्म रामायणोक्त नवधा भक्ति की ही चर्चा नहीं है, वरन् उसके साथ ही भागवतोक्त नवधा भक्ति की चर्चा ('स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं') हो गई है। साथ ही यह भी कह दिया गया है कि भक्ति के इन उभय प्रकार के नवधा साधनों के आधार-स्तम्भ हैं—(१) ज्ञान—जो विप्र चरणों में अति प्रीति करने से मिलता है और (२) वैराग्य—जो "धर्म ते विरति" के सिद्धान्तानुसार श्रुतिरीत्या निज निज कर्म में निरत होने से आता है तथा इन दोनों का भी मूलाधार है सत्संग क्योंकि संतों की अनुकूलता के बिना तो भक्ति मिल ही नहीं सकती।[३]

१—मायाबस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी ॥
परवस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥
मुधा भेद जदपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥

२—'मानस-पीयूष', रामदास गौड़, पृ० ६६७

३—'तुलसी-दर्शन', पृ० २६२

इस प्रकार उपरोक्त ९ साधनों के अतिरिक्त तुलसी को श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन भी साधन के रूप में मान्य हैं।[१] डा० बलदेवप्रसाद गुप्त के अनुसार वाल्मीकि जी ने रामचन्द्र जी को जो चौदह निवास-स्थान बतलाए हैं, वे १४ प्रकार की भक्ति-साधनाओं को ही सामने रखते हैं। ये साधन इस प्रकार हैं—

(१) श्रवण (२) दर्शन (३) भजन (४) सेवा (५), गुरु भक्तिपूर्वक जप (६) निर्विकार भाव (७) अनन्य शरणागति (८) कामिनी-कांचन में अनासक्ति (९) भगवान् को ही सब कुछ समझना (१०) परितृप्त (११) विनम्र विश्वास (१२) ऐश्वर्य त्याग (१३) मुक्ति के लिए लौलुपता नहीं (१४) निरीह सहज स्नेह।

परन्तु तुलसी को इन्हीं साधनों पर विशेष आग्रह नहीं है। वे कहते हैं—

१—जप तप मख सम दम व्रत दाना। बिरति बिवेक जोग बिग्याना ॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिन कोउ न पावइ छेमा ॥

२—वेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू ॥

३—जप तप नियम जोग निज धरमा। स्रुति संभव नाना सुभ करमा ॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत स्रुति सज्जन ॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फलु सुन्दर ॥

४—तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई ॥
नाना करम धरम व्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना ॥
भूतदया द्विज गुरु सेवकाई। विद्या विनय विवेक बड़ाई ॥
जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी ॥

१—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदन।
(श्रीमद्भागवत, ७-५ २३)

ज्ञान-दीपक प्रसंग में भक्ति मणि और मानस-रोग प्रकरण में भक्ति संजीवनी बूटी सम्बन्धी चौपाइयों में क्रमशः "(१) सद्ग्रन्थानुशीलन (२) सुमति (३) विरति विवेक (४) सद्भाव, और (१) गुरु-वाक्य में विश्वास (ज्ञान) (२) विषयों से निवृत्ति (वैराग्य) और (३) श्रद्धापूर्ण हरिभक्ति की चर्चा है। इन दोनों प्रसंगों में ज्ञान और वैराग्य—विवेक और विरति—को प्रर्याप्त महत्त्व दिया गया है।[१] इन प्रसंगों को देखने से विदित होता है कि गोस्वामीजी ने ज्ञान और वैराग्य को भी भक्ति के साधनों में अच्छी प्रधानता दी है।"

सच तो यह है कि तुलसी ने उन सब साधन-क्रियाओं को ग्रहण कर लिया है जो किसी भी प्रकार श्रुतिसम्मत हैं। उनमें यदि राग को स्थान मिला है तो विरति और विवेक (ज्ञान) को भी—

श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ संजुत विरति विवेक।
तेहि न चलहि नर मोह बस कलपहिं पंथ अनेक॥

उनकी भक्ति की कल्पना में हृदय-तत्व की इतनी प्रमुखता नहीं है कि वे ज्ञान को तिलांजलि दे दें। वास्तव में उन्होंने ज्ञान और वैराग्य को भक्ति के प्रमुख साधन एवं भक्ति के पूर्व की अवस्था माना है—

मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान विराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोदइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी॥
(५०३, १-२)

बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जइ पाइय सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥
(५०३, ९-१०)

भक्त के लक्षण

तुलसीदास भक्त और संत को एक मानते हैं। उन्होंने उनके लक्षण विस्तारपूर्वक लिखे हैं, वे इस प्रकार हैं—[२]

१—'तुलसी-दर्शन', पृष्ठ २६७

२—पौरगीता. उ० ४६

(१) सरल स्वभाव (२) शुद्ध मन (न मन कुटलाई), (३) संतोषी (जथा लाभ संतोष सदाई), (४) ईश्वर में अनन्य भाव (मोर दास कहाय नर आसा), (५) वैर-विग्रह-रहित (६) विरागी (आस न), (७) त्रास रहित (८) निरानन्दमय (सुखमय ताहि सदा सब आसा), (९) अनारंभ (१०) अनिकेत (११) अमानी (१२) अनघ (१३) अरोष (१४) दक्ष (१५) विज्ञानी (१६) प्रीति-सदन (१७) सत्संगी (सज्जन संसर्गा), (१८) त्यागी (तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा), (१९) भक्ति पक्ष में भी हठी (भगति पच्छ हठ) (२०) शाढ्य-रहित (नहि शठताई), (२१) श्रद्धालु (तर्क से दूर, दुष्ट तर्क सब दूरी बहाई), (२२) राम के गुण ग्राम में लीन (मन गुन नामरत), (२३) ममता, मद, मोह रहित (गत ममता मोह)। दूसरे स्थल पर वह संतों के लक्षण में लिखते हैं—

(१) षट्विकारजित् (२) अनघ (३) अकाम (४) अचल (५) अकिंचन (६) सुखदाता (सुचि सुखधाम), (७) अमित बोध (८) अनीह (९) मितभोगी (१०) सत्य-सारग्रही (११) कवि-कोविद (१२) जोगी (१३) सावधान (१४) मान-मदहीन (१५) धीर धर्म मति परम प्रवीन (१६) गुनागार (१७) संसार-दुख रहित (१८) विगत संदेह (१९) भगवान के प्रति अनन्य भाव (तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह), (२०) निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं (२१) पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं (२२) सम सीतल (२३) नाहिं त्यागहिं नीति (२४) सरल सुभाउ (२५) सबन सम प्रीति (२६) जप तप व्रत संचय करने वाला (२७) गुरु गोविन्द विप्र पद पूजा (२८) श्रद्धावान (२९) मैत्री भाव (३०) दयावान (३१) मुदित होकर भगवान के चरणों में प्रीति (३२) विरत (३३) विवेकी (३४) विनयी (३५) विज्ञानी (३६) वेद पुरान में यथा-बोधमय (बोध जथारथ), (३७) दंभ-मान-रहित

१—नारद से राम, अर० ४३—४६

(दंभ मान मद करहि न काहू), (३८) सन्मार्गी (भूलि न देहिं कुमारग पाउ), (३९) श्रवन-कीर्तन-आनन्दी (गावहिं सुनहिं सदा तव लीला), (४०) स्वार्थरहित (हेतुरहित), (४१) परार्थी (परहितरतशीला)
एक तीसरे स्थल पर :—

(१) बुराई के बदले में भलाई[१] । (२) विषय अलंपट (३) शील गुनाकर (४) दूसरे के दुःख में दुःख, सुख में सुख (५) समभाव, अभूतरिपु (६) मदरहित (७) विरागी (८) लोभ-अमर्ष-हर्ष-भयहीन (९) कोमलचित्त (१०) दीनों पर दयालु (११) मन-वचन-कर्म से रामभक्त (१२) सब को सम्मान देने वाला और आपमानरहित (१३) कामरहित (निष्कामी), (१४) नामानन्दी (मम नाम परायन), (१५) शान्त (१६) विरत (१७) विनयी (१८) शीतल (१९) सरल (२०) मैत्री भाव धारण करने वाला (२१) द्विज-पद-प्रीति (२२) धर्मजन-मैत्री (२३) सम-दम-नियम-नीति नहिं डारहिं (२४) मिष्टभाषी (परुष बचन कबहू नहिं बोलहिं), (२५) निंदा-स्तुति उभय सम (२६) भगवद्भक्त (ममता मम पदकंज) साथ ही हमें यह समझ लेना चाहिए कि तुलसी की असंत की परिभाषा क्या है ? तुलसी के शब्दों में—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ । भूलेहु संगति करिय न काऊ ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई । जिमि कपिलहि घालै हरहाई ॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई । हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई ॥
काम क्रोध मद लोभ परायन । निर्दय कपटी कुटिल मलायन ॥
बयरु अकारन सब काहू सों । जो कर हित अनहित ताहू सों ॥
झूठइ लेना झूठइ देना । झूठइ भोजन झूठ चबेना ॥
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा । खाहिं महा अहि हृदय कठोरा ॥

परद्रोही परदाररत, परधन परअपबाद ।
ते नर पाँवर पापमय, देह धरें मनुजाद ॥

१—भरत के प्रति रामगीता । उ० ३७–३८

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रासन॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥
स्वारथरत परिवार बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहि आनहिं॥
करहिं मोहबस द्रोह परावा। संतसंग हरिकथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
विप्रदोह परद्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुवेषा॥
(उ० ३९—४०)

तुलसी की भक्ति-भावना दास्य है—

तुलसी की भक्ति- भावना

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु रामपद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

स्वयं भगवान् रामचन्द्र की उक्ति है—

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब तें अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महुँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु तें अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोर न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

इसमें भगवान् ने क्रमशः वैदिक धर्मचारी, विरक्त, विज्ञानी और भक्त (दास) को उत्तरोत्तर अधिक प्रिय कहा है।

सत्य भावना का आलंबन भगवान् का ऐश्वर्य रूप है। रामचरित-मानस में भगवान् के इस रूप का परिचय विशेष रूप से मिलता है। राम को ब्रह्मपर कहा गया है। विष्णु, शिव, ब्रह्मा उनकी स्तुति करते दिखाए गए हैं। अनेक अलौकिक कार्य उनके सभी समपन्न होते हैं और मनुष्य, देवता, धर्म-ग्रन्थ, राक्षस, ऋषि-मुनि, यहाँ तक कि

पृथ्वी भी उनकी स्तुति करके उनकी कृपा-याचना करती है। दास्य के उपासक भक्त की इन्द्रियाँ भगवान् के ऐश्वर्य से स्तब्ध, चकित और अनुप्राणित रहती हैं।

परन्तु इस दास्य भावना में जेनेटिक देशों की सी बात नहीं है। वास्तव में वह भगवान् से दूर है ही नहीं। वह स्वयम् भगवान् के ऐश्वर्य में भाग लेता है। तब विभेद कहाँ ?

इस दास्य भावना में तुलसी ने अत्यंत गहरी तन्मयता का मिश्रण कर दिया है जिसके लिए उन्होंने चार उदाहरण उपस्थित किए हैं :—

(१) चातक का प्रेम।[१]
(२) कामिहिं नारि पियारि जिमि,
(३) लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।[२]
(४) जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि।[३]
(५) मीन का प्रेम।[४]

साथ ही उन्होंने अपनी भक्ति में शरणागति को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है—

मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यानु मन माहीं॥
नहिं दृढ़ सतंसगा जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥
एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥

१—जस जस भाजन चातक मीना।
नेम प्रेम निज निपुन प्रवीना॥
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पवि पाहन डारउ॥
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥
२, ३—उत्तर० १३० (ख)
४—तुल० ग्रं०, २२५–४

इसी लिए कथा-प्रसंगों में तुलसी ने राम के शरणागत-वत्सल रूप को कई बार प्रकाशित किया है।

वास्तव में ज्ञान, कर्म और भक्तियोग में सामञ्जस्य उपस्थित करने की भावना भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत में भी मिलती है। तुलसी का प्रयत्न भी ऐसा है। उन्होंने निष्काम कर्म पर स्पष्टतः बल नहीं दिया है, परन्तु ज्ञान और भक्ति का मेल करने की चेष्टा सारे उत्तरकांड में दिखलाई पड़ती है। उन्होंने श्री शङ्कराचार्य के ज्ञान-योग और श्रीवल्लभाचार्य के भक्तियोग को एक केन्द्र पर लाने की चेष्टा की है। उनकी भक्ति को हम अद्वैत भक्ति कह सकते हैं जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति का समुच्चय है। इसे ही पराभक्ति, ज्ञानोत्तरा-भक्ति और वैधी-भक्ति कहा गया है। शङ्कराचार्य भी ऐसा ही मान कर कहते हैं—

> सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
> सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

अद्वैत मतवादी श्री मधुसूदन सरस्वती का यह कथन गोस्वामी जी के दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है—

> ध्यानाभ्यास समाहितेन मनसा यन्तिर्गुणं निष्क्रियम्।
> ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यंति पश्यंतु ते॥
> अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं।
> कालिंदीपुलिनेषु यत्कमपि तन्नीलं तमो धावति॥

तुलसीदास जी ने भी कहा है—

> जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतर्यामी॥
> जो कोसलपति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥

ज्ञानोत्तरा भक्ति का क्रम है कि ज्ञान के द्वारा निर्गुण ब्रह्म में आस्था, फिर उसके अनन्तर सगुण ब्रह्म को निर्गुण का प्रतीक मान कर उसकी भक्ति। केवल ज्ञान द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति दुष्कर है। गीता में कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा स दुर्लभः ।

इसी प्रकार भागवतकार भी कहते हैं—

श्रेयः श्रुति भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यंतिये केवल बोध लब्धये ।
तेषामसो क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूल तुषावधातिनाम् ॥

इन्हीं मतों का अनुसरण करते हुए और इनसे भी आगे बढ़कर तुलसीदास उन लोगों को जड़ कहते हैं जो केवल ज्ञान के लिए श्रम करते हैं—

जे असि भगति जान परिहरहीं । केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीं ॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥

तुलसी की भक्ति का रूप क्या है ? रामचरितमानस में कहीं भी भक्ति की व्याख्या या परिभाषा नहीं है, परन्तु अनेक सन्दर्भों से पता चलता है कि "अनन्य, अहेतुक, अविरल और अविचल भगवत्-प्रेम को उन्होंने भक्ति समझा है ।[१]" अध्यात्मकार की रामभक्ति ज्ञान पर आश्रित है । वास्तव में अध्यात्म रामायण में ज्ञान की महिमा भक्ति से अधिक है । उसका क्रम है भक्ति से ज्ञान की ओर जो मोक्ष का कारण है । गोस्वामी जी का क्रम इसका उलटा है । वस्तुतः तुलसी ने अपनी भक्ति का तत्व भागवत से लिया है । उनकी भक्ति सेव्य-सेवक भाव की है, परन्तु यहाँ सेवक और सेव्य अधिक निकट हो गये हैं । भक्त (सेवक) अपना अहंकार भाव नष्ट करके भगवान् (सेव्य) के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है । सेव्य सेवक का कृतज्ञ है, सेवक सेव्य का । यह कृतज्ञता बीच के बाधा-बन्धनों को तोड़ देती है । यही दृष्टिकोण भागवत में भी मिल जाता है—

१—'मानसहंस' पृ० १४१

देखिए—पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते ।
मानिय सबहि राम के नाते ॥

देखिए—चातक वाली युक्तियाँ ।

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज।
साधुभिर्गस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तै साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यंतिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान्वित्तामिमं परम्।
हित्वा मां शरण भाताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्महे॥'

तुलसी ने अपनी भक्ति भावना को स्थिर करने के लिए राम के वैभव और ऐश्वर्य का बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित किया है, परन्तु वास्तव में उनका और उनके इष्टदेव का सम्बन्ध बहुत कुछ इस प्रकार है—

यस्तु आशिप आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्यशासिता आत्मने॥
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः।
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः॥
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव।
यदि रासीस मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ॥
कामानां हृद्यसरोहं भवतस्तु वृणे वरान्॥

इसीलिए जहाँ भक्त की ओर से निष्कामता और अहंकार हटाने पर बल दिया गया है, वहाँ भगवान् की दयार्द्रता, भक्तवत्सलता और करुणा को। स्वामी सेवक पर निरपेक्ष प्रेम करता है और सेवक अनन्य भाव से स्वामी से प्रेम करता है। यह तुलसी और राम का सम्बन्ध है। भक्त भगवान् के ऐश्वर्य से परिचित है, परन्तु यह ऐश्वर्य भक्त और भगवान् के बीच में बाधक नहीं हुआ है। इस भक्ति के दृढ़ होने में ममत्व (अहंकार) ही सबसे बड़ा बाधक है।

भक्ति क्यों की जाय? (१) आत्म-शुद्धि के लिए। सत्संग आदि के गुण इसी के साधन या फलस्वरूप मनुष्य को प्राप्त होते हैं।

१—स्कन्ध ६, अध्याय ४, श्लोक ६३—६५।

मनुष्य संसर्ग-जन्य दोषों से बचता है। (२) आत्मशांति के लिए। यह आत्मशांति अविद्या (अज्ञान) के नष्ट होने से उत्पन्न होती है। भावनाओं के एकमुख हो जाने पर दुःख के कारण मोह, अहंकार, ममत्व आदि भक्त को आप ही छोड़ देते हैं। इनके छूटने का दूसरा मार्ग ज्ञान है, परन्तु ज्ञान जो कठिनता से प्राप्त होता है, वह भक्ति द्वारा सरलता से प्राप्त हो जाता है। (३) इसका फल शीघ्र ही और अल्प प्रयास से मिल जाता है। (४) इसमें साधन और सिद्धि की पूर्ण एकता है। जो रामभक्ति साधन है, वह राम का रूप भी है। "इससे यह समझना चाहिए कि जितना कुछ साधन बन पड़ा उतनी ही सिद्धि प्राप्त हुई। इससे यही हुआ कि जितनी भक्ति बन जाय उतना ही एक अविनाशी संस्कार हो जाता है।" (५) ज्ञान-विज्ञान भक्ति पर आश्रित हैं, भक्ति अन्य साधन निर्पेक्ष (स्वतंत्र) है।

भक्ति के साधनों के सम्बन्ध में हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं। यहाँ हमें यही बता देना है कि तुलसी के इन सब साधनों को संतों और अन्य वैष्णव सम्प्रदायों ने भी एक-सा माना है। तुलसी की मौलिकता शंकर की भक्ति के साधन रूप में है—

संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोर।

भागवत में शंकर परम वैष्णव माने गए हैं—"वैष्णवानां यथा शम्भुः।" इस प्रकार शैवमत को भागवत धर्म के अन्तर्गत करने की थोड़ी चेष्टा भागवत में ही है। शिव को परम वैष्णव मान लिया गया है। तुलसी ने इस मत को कथा के रूप में प्रगट किया। उनके शिव भी परम रामभक्त हैं। तुलसी अपने समय के शैव-वैष्णव-विरोध से भी प्रभावित हुए हैं, अतः उन्होंने शिवभक्ति को रामभक्ति का एक अंग मान लिया है जिससे वैष्णव शंकर का विरोध न कर सकें। साथ ही वह शिव से राम का जो सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उसे ध्यान में रख कर कोई भी शैव राम को कुत्साभाव से नहीं देख सकता।

वास्तव में तुलसी के लिए भक्ति ही जीवन-रस है—

राम भगति बिनु सब सुख कैसे।
लवण बिना बहु व्यंजन जैसे॥

यह उनका मौलिक मत है। इससे उनकी साधना पर विशेष प्रकाश पड़ता है। साथ ही भक्ति का एक वह रूप भी उन्हें प्रिय है जहाँ वह स्वयम् साध्य है, साधन नहीं। जान पड़ता है जीवन के अंतिम दिनों में वे भक्ति के इस रूप की ओर अधिक बढ़ गए थे। विनय-पत्रिका के पद इसके प्रमाण हैं। तुलसी की भक्ति-भावना का विकास इस प्रकार है—

(१) स्मार्त-भाव लिए हुए रामभक्ति,
(२) अनन्य रामभक्ति राम तक पहुँचने के लिए,
(३) रामभक्ति स्वयम् साध्य रूप में,
(४) नामभक्ति।

परन्तु यह विभाग कोई निश्चित सीमा निर्दिष्ट नहीं करते। जीवन के सभी भागों में तुलसीदास में यह भावना-धाराएँ थोड़ी बहुत चलती रही हैं, परन्तु इनमें से एक क्रमशः मुख्य रही होगी।

पहले हम अद्वैत सिद्धान्तों पर विचार करेंगे—

१—संसार की स्थिति क्या है ?

संसार आभास मात्र है, जैसे रज्जु में सर्प का आभास हो या सीपी में रजत या भानुकर में वारि-भ्रम—

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा।
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः॥
(मङ्गलाचरण)

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥
(शंकर का मंगलाचरण)

रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥

एहि विधि जग हरि आश्रित रहई । जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपने सिर काटै कोई । बिनु जागे न दूरि दुख होई ॥

तुलसी का संसार-विषयक सिद्धात बहुत कुछ विवर्तवाद है । विवर्तवादी सत् से अनिर्वचनीय पदार्थ (मिथ्या) की उत्पत्ति मानते हैं ।'

२—जीव और ब्रह्म की स्थिति

जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं ।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हहिं होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन । जानहि भगत भगति उर चन्दन ॥
(जीव = ब्रह्म, भक्ति से ज्ञान, ज्ञान से भेद मिटने पर मोक्ष ।)

सो तैं ताहि ताहि नहिं भेदा । वारि बीचि इव गावहिं वेदा ॥
(तत्त्वमसि)

परबस जीव स्वबस भगवन्ता । जीव अनेक एक श्रीकंता ॥
मुधा भेद जदपि कृत माया । बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥
(माया कृत भेद) (ब्रह्म-साक्षात्कार से भेद का नाश होता है)

'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ।' वास्तव में जीव और ब्रह्म का भेद व्यवहारावस्था में है । परमार्थावस्था में तुलसीदास अभेद ही स्वीकार करते हैं । अद्वैत में भी भक्ति का स्थान है । जीव-ब्रह्म के अभेद को स्वीकार करते हुए भी शंकराचार्य भक्ति का आदर करते हैं । यही नहीं, भक्ति के सामने मुक्ति का निरादर भी करते हैं—

१—संसार को लेकर तीन वाद चले हैं । (१) आरम्भवादी उत्पत्ति से पूर्व असत् कार्य की सत् कारण से उत्पत्ति मानते हैं, जैसे मृत्तिका से घट तथा तन्तु से पट । (२) परिणामवादी सत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं । जैसे दूध से दही और (३) तीसरे विवर्तवादी हैं जो रस्सी में साँप, सीपी में चाँदी और रविकर में जल जैसी संसार की स्थिति मानते हैं । तुलसी का सिद्धान्त है —राम सत्य है, उसका ज्ञान सत्य है । यह जो सब सत्य दिखाई पडता है वह केवल व्यावहारिक सत्य है । वास्तव मे इस सत्य की स्थिति विवर्त जैसी है । ज्ञान प्राप्त होने पर जगत का बोध हो जाता है ।

काम्योपासनकार्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित्फलं स्वोप्सितं।
केचित्स्वर्गमथावर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः॥
अस्माकं यदुनन्दनांघ्रि युगल ध्यानावधानार्थिनाम्।
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥

मानस—

अस बिचारि हरिभगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

अद्वैत भक्ति के दो भेद मानते हैं—भेद-भक्ति, जिसमें साधक ब्रह्म में लीन न होकर तत्सानिध्य से मोक्ष-सुख का अनुभव करता है; दूसरे अभेद भक्ति, जिसमें साधक ब्रह्म में लीन हो जाता है—

तातें मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर दयऊ।
तजि जो के पावक दहि हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे॥

अध्यात्म रामायण की स्तुतियाँ दार्शनिक कथनों से पूर्ण हैं। अध्यात्म के राम ज्ञान-स्वरूप हैं अतः स्तुतियों में भक्ति के साथ ज्ञान को स्थान मिला है। अध्यात्मकार के दार्शनिक विचार समझने के लिए स्तुतियाँ भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी गीताएँ, परन्तु मानस की स्तुतियाँ—

१—भावुक भक्त का उद्गार मात्र हैं,

२—उनमें दर्शन के ऊँचे सिद्धान्त नहीं हैं,

३—काव्यकला उच्च कोटि की नहीं है। अध्यात्म में तो उसका नितान्त अभाव है।

४—छन्दों की विभिन्नता के कारण रुचिकर हैं। अध्यात्म की स्तुतियाँ उसी छन्द में हैं जिसमें सारी कथा कही गई है। तुलना से पता चलता है कि यद्यपि तुलसीदास ने अध्यात्म के स्थलों पर ध्यान रखा है परन्तु वैसे वे एकदम मौलिक हैं। मानस में कवि का दृष्टि-कोण क्रियात्मक होने के कारण और उसकी रचना के समय तक आध्यात्मिक विकास अधिक न होने के कारण इन स्तुतियों में उस वैयक्तिकता, तन्मयता, उत्साह और आत्म-समर्पण का दर्शन नहीं

मिलता जो विनयपत्रिका के स्तोत्रों और स्तुतियों में है। इसका एक कारण यह भी है कि कवि को दूसरों के माध्यम से बोलना पड़ा है और उसका आदर्श संस्कृत स्तोत्र रहे हैं जो ज्ञान-मंडित होते थे और आत्मानुभूति एवं वैयक्तिक भावना से शून्य रहते थे।

अध्यात्म के प्रत्येक स्तोत्र के भाव एक-से रहते हैं। उनका विषय है—विष्णुरूप राम की महत्ता, जीव और उसकी उपाधियों का वर्णन, रज्जु-सर्प का दृष्टान्त और ज्ञान की महत्ता और भक्ति से ज्ञान की प्राप्ति तथा ज्ञान की प्राप्ति से मोक्ष-प्राप्ति। तुलसी की स्तुतियों में स्तुतिकार की भक्ति-भावना के ही दर्शन होते हैं। उनकी स्तुतियों में राम के रूप-सौन्दर्य, उनके भक्तवत्सलता से प्रेरित अलौकिक कार्यों का संकेत और भगवान् से भक्ति-याचना का ही प्राधान्य है। तुलसी ने चार अवसरों पर स्तुतियाँ कहलाई हैं—१—राम-जन्म-प्रसङ्ग पर ब्रह्मा और कौशल्या की स्तुतियाँ। २—राम के अलौकिक कृत्यों पर। ३—ऋषि और देवता आदि के मिलने पर जो राम का रहस्य जानते हैं। ४—राक्षसों के विध्वंस और रामराज्यरोहण पर सारी स्तुतियाँ राम से की गई हैं, केवल एक ही स्तुति अन्य देवता से सम्बन्धित है। यह स्तुति भुशुण्डि के गुरु ने राम से कही है। यह स्तुति अध्यात्म में नहीं है। अध्यात्म में गरुड़-काकभुशुंडि प्रसङ्ग ही नहीं है। ऊपर तालिका में जो स्तुतियाँ दी गई हैं उनमें तुलसी की मौलिक स्तुतियाँ ये हैं—ब्रह्मा की स्तुति, अत्रि की स्तुति, जयन्त की स्तुति, भुशुंडि की स्तुति और मन्दोदरी की स्तुति। युद्ध-विजय पर अध्यात्म रामायण में सब देवता एक साथ स्तुति करते हैं, परन्तु मानस में देवता, ब्रह्मा, इन्द्र और शिव अलग-अलग स्तुति करते हैं। कुछ स्थलों पर मानस में स्तुति का संकेतमात्र है अथवा कथन है कि व्यक्ति-विशेष ने स्तुति की। अधिकांश स्तुतियों में विचारावली का कोई क्रम नहीं है और न भावना का उच्च रूप दिखलाई देता है। सब से सुन्दर स्तुति वेदों की है।

अध्यात्म का कथा-भाग इतना थोड़ा है और गीताएँ तथा स्तुतियाँ इतनी अधिक हैं और इतनी शीघ्र पग-पग पर मिलती हैं कि उनसे कथा में व्याघात पड़ता है और सन्तुलन नहीं रहता। मानस में स्तुतियाँ छोटी और कम होने के कारण इस प्रकार की कठिनाई उपस्थित नही होती। स्तुति उस समय कही जाती है जब कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है और हृदय भक्ति-भावना को ग्रहण करने के लिए तैयार रहता है। नाटकीय दृष्टिकोण से ये स्तुतियाँ ग्रीक नाटकों के 'कोरस' की तरह हैं जो राम के देवत्व को बतलाती हैं और कभी-कभी प्रत्यक्ष और कभी-कभी अप्रत्यक्ष रूप से घटनाओं पर प्रकाश डालती हैं। अध्यात्म में स्तुतियों का रूप स्वतंत्र है। लेखक उनका प्रयोग स्वतंत्र रूप से स्तवन के लिए चाहता है क्योंकि स्तुति के साथ उनके फल भी दिये गये हैं। मानस की कुछ स्तुतियाँ कथा-भाग में ही आ जाती हैं और कुछ स्वतंत्र हैं। जो स्तुतियाँ स्वतंत्र हैं उनमें भी कथा-प्रसङ्ग की ओर संकेत रहता है। जहाँ यह बात भी नहीं रहती वहाँ उनका प्रयोग स्तुति के रूप में हो सकता है।

अध्यात्म की स्तुतियाँ बड़ी बड़ी हैं, तुलसी की स्तुतियाँ अत्यन्त संक्षेप में हैं। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं इस संक्षेप का कारण यह है कि तुलसी ने दर्शन के जटिल सिद्धान्तों (ब्रह्म, जीव, माया आदि के सम्बन्ध निरूपण) को उनमें स्थान नहीं दिया है। उदाहरण के लिए अध्यात्म रामायण; सर्ग तीन, श्लोक २०-२८ में कौशल्या की स्तुति इस प्रकार है—

देव देव नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर।
परमात्माऽच्युतोऽनन्तः पूर्णस्त्वं पुरुषोत्तमः॥
वदन्त्यगोचरं वाचां बुद्ध्यादीनामतीन्द्रियम्।
त्वां वेदवादिनः सत्तामात्रं ज्ञानैकविग्रहम्॥
त्वमेव मायया विश्वं सृजास्यवसि हंसि च।
सत्त्वादिगुणसंयुक्तस्तुर्य एवमलः सदा॥

करोषिव न कर्ता त्वं गच्छसीव न गच्छसि ।
शृणोषि न शृणोसीव पश्यसीव न पश्यसि ॥
अप्राणो ह्यमनाः शुद्ध इत्यादि श्रुतिरब्रवीत् ।
समः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्नापि न लक्ष्यसे ॥
अज्ञानध्वान्तचित्तानां व्यक्त एव सुमेधसाम् ।
जठरे तव दृश्यन्ते ब्रह्माण्डः परमाणवः ॥
त्वं ममोदरसम्भूत इति लोकान्विडम्बसे ।
भक्तेषु पारवश्यं ते दृष्टं मेऽद्य रघुत्तम ॥
संसारसागरे मग्ना पतिपुत्रधनादिषु ।
भ्रमामि मायया तेऽद्य पादमूलमुपागता ॥
देव त्वद्रूपमेतन्मे सदा तिष्ठतु मानसे ।
आवृणोतु न मां माया तव विश्वमोहिनी ॥

मानस १—१६२ में यह स्तुति केवल छः पंक्तियों में है—

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंता ।
मायागुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनंता ॥
करुना सुखसागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता ।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता ॥
ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै ।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ॥

इसी प्रकार मानस में परशुराम की स्तुति छः पंक्तियों में है जहाँ अध्यात्म रामायण में इसका बड़ा विस्तार है और अनेक जटिल दार्शनिक बातें कही गई हैं। वास्तव में तुलसी ने अपनी स्तुतियों को इतना सरल कर दिया है कि उनकी लगभग सभी स्तुतियाँ एक ही प्रकार की हो गई हैं। केवल भगवान् की जय पुकार कर, उनकी शोभा का वर्णन कर और उनकी भक्ति का वरदान माँग कर समाप्त हो जाती हैं। संक्षेप में तुलसी की स्तुतियाँ सरल हैं; ज्ञान, दर्शन आदि से दूर हैं और भगवान् के गुण-कथन और भगवान् से भक्ति की याचना कर पूर्ण हो जाती हैं। अध्यात्म रामायण में भक्त माया से छुटकारा

पाना चाहते हैं और सायुज्य या सारूप्य मुक्ति माँगते हैं, भक्ति की याचना नहीं करते। इससे प्रगट है कि तुलसी की स्तुतियाँ उस राम-भक्ति-भाव से प्रेरित हैं जिससे सारा मानस भरा पड़ा है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि ये स्तुतियाँ रचना-कला, विचार-क्रम और भावना की गहनता की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ रचनाएँ नहीं हैं।

१५—प्रतीकार्थ अथवा साधनार्थ

तुलसी के कुछ आलोचकों ने रामचरितमानस के भीतर किन्हीं सन्निहित प्रतीकार्थ अथवा साधनार्थ के उद्घाटन की चेष्टा की है। इन लोगों का प्रयत्न बहुत इसी प्रकार के अर्थ निकालने का है जो जायसी के पद्मावत के अन्त में स्वयम् कवि ने दे दिये हैं और सूफी साधना पद्धति को हमारे सामने रखते हैं। वाल्मीकि रामायण में इस तरह कोई प्रतीक नहीं है, न अध्यात्म रामायण में हमें इनके दर्शन होते हैं, परन्तु रामोपासक सम्प्रदाय का एक वर्ग रामचरित को सम्प्रदायिक अर्थ में ही लेता रहा है जो एक प्रकार से प्रतीकार्थ (या साधनार्थ) ही है। श्री १०८ स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराजने "आत्म-रामायण" में रामकथा के प्रतीक इस प्रकार स्थापित किये हैं :—

अयोध्या	पंशकोश
दशरथ	जीव
कौशल्या	निवृत्तिजन्य वृत्ति
कैकेयी	विषय-दोष-दृष्टि महित प्रवृत्ति
सुमित्रा	भक्ति
रामचन्द्र	ज्ञान
लक्ष्मण	विवेक

भरत	वैराग्य
शत्रुघ्न	विचार
विश्वामित्र	विश्वास
वशिष्ठ	वेद
ताड़का	भ्रांति
यज्ञ	ईश्वराधना
मारीच	काम
गौतम	तप
अहल्या	क्षमा
जनकपुर	संसार
जनक	विदेह
धनुष	अहंकार
सीता	शांति
परशुराम	प्रेम
उर्मिला	नम्रता
मांडवी	विरति
श्रुतिकीर्ति	क्षमता
सुमन्त	सुकर्म
रथ	अखण्ड
बन	निर्भय
गंगाजी	ब्रह्मविद्या
केवट	जिज्ञासा
नौका	धारणा
भरद्वाज	उपराम
त्रिवेणी	इडा, पिंगला, सुषुम्ना
वाल्मीकि	दंभ
चित्रकूट	कूटस्थल
जयन्त	कर्म

बाण	अक्रिय
अग्नि	अकर्म
अनुसूया	धृति
सुतीक्ष्ण	शम
अगस्त्य	अद्वैत
पञ्चवटी	जितेन्द्रियता
सूर्पनखा	तृष्णा
खरदूषण	मोह
कपट मृग	नाम रूप
जटायु	धर्म
शवरी	प्रीति
पंपासरोवर	गंभीरता
नारद	निष्काम कर्म
बालि	लोभ
सुग्रीव	संतोष
हनुमान	सत्संग
अंगद	अक्रोध
तारा	तितिक्षा
	शुद्धचित्त
कन्या (स्वयंप्रभा)	तपपुंज
	सतोगुण
लंका	शंका
समुद्र	आशा
जल	मनोरथ
विभीषण	विहित कर्म
बाटिका	अशोक
मुद्रा	श्रीमुख-वाक्य
चूड़ामणि	श्रद्धा

रामेश्वर	गुरु
पुल	लीला
मेघनाद	राग
शक्ति	आसक्तता
सुलोचना	मति
सुषेण	अनुराग
द्रोणगिरि	सत् शास्त्र
संजीवन	महावाक्य
कुम्भकरण	क्रोध
अहिरावण	द्वेष
मकरध्वज	निर्लोभ
रावण	अज्ञान[१]

इन प्रतीकों को रामकथा पर घटाने की चेष्टा करते ही यह स्पष्ट हो जायगा कि इनमें से बहुत से केवल कल्पना के आधार पर खड़े किये गये हैं। अन्य यद्यपि ठीक उतरें, तो भी उनसे कथा को नया रूप मिलने के सिवा और कोई विशेष बात सामने नहीं आती। राम-रावण का युद्ध ज्ञान-अज्ञान का संघर्ष मात्र रह जाता है। कोई साधना-पद्धति नहीं बनती।

मानस में एक परिपूर्ण साधना-पद्धति स्थापित करने की चेष्टा डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने तुलसी सम्बन्धी अध्ययन में की है। कई दृष्टियों से यह एक नया प्रयत्न है। उनका आधार "नाम-महात्म्य" प्रकरण (बा० २५, २६, २७ दोहे और उनकी चौपाइयाँ) है। उनके अध्ययन का सार इस प्रकार रक्खा जा सकता है :—

अवधपुरी	अमृत्व या अमरों का नगर
दशरथ	विषयी जीव
कौशल्या	विवेक

१—विवरण (ङ, च, छ)

कैकेयी	देशत्व = संसारत्व = संसार (विरोधी प्रकृतियों का एकत्रीकरण)
सुमित्रा	भगवद्-अर्पण
राम	सगुण ब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म जो वास्तव में दृष्टिकोणों की भिन्नता के कारण ब्रह्म के दो भिन्न रूप जान पड़ते हैं। वासुदेव ब्रह्म-तत्त्व (= ज्ञान)।
लक्ष्मण	जीवतत्त्व, शेष = अनंत, चैतन्य, संकर्षण
भरत	मन-बुद्धि-तत्त्व, प्रद्युम्न, प्रेम
शत्रुघ्न	अहंकारतत्त्व, अनिरुद्ध या लीला का प्रतीक मान सकते हैं।
विश्वामित्र	विश्वप्रेम
मारीच	दुराशा की छाप
सुबाहू	दुराशा से उत्पन्न दुःख
ताड़का	दुराशा
वशिष्ठ	श्रुति
अहल्या	अज्ञातया
इन्द्र	वह मूल स्रोत जिससे इन्द्रियाँ शक्ति पाती हैं।
विदेहनगर	विदेहत्व
विदेह (जनक)	विज्ञानी
सीता	सीता दो प्रतीकों के रूप में उपस्थित की गई हैं। एक तो माधुर्य, रति के साधन के रूप में जो परमात्व-तत्त्व में लीन होना चाहता है। दूसरा सिद्धि के रूप में जिसे प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।
चाप	भव-भय

परशुराम	१—ब्रह्म और साधक के बीच में बाधा-स्वरूप राजसिक अहंकार। २—साधक (अंत में सात्विक साधक बन गये)
परशुराम का धनुष	सन्देह
भरत	प्रेम को साधना के रूप में ग्रहण करने वाले साधक।
अयोध्यावासी	पशुभाव, वीरभाव या दिव्य भाव के साधक (अयोध्या के निवासियों की ब्रह्म-विषयक साधना में उत्तरोत्तर विकास होता गया है)
मंथरा	तमस्
लक्ष्मण	एकांतिक धर्म का अनुसरण करने वाले साधक।
सुमंत्र	शुभ मंत्रणा या विचार
निषाद	विनय
चित्रकूट	साधक का चित्र
कोल-किरात	प्रेम को साधना के रूप में स्वीकार करने वाले साधक।
निषाद का ज्योतिषी	सुमति
जयंत	ऐन्द्रिय शक्ति कर्म
पंचवटी	पंचप्राण जिनका नियंत्रण योगियों की साधना की पहली सीढ़ी है। वह साधना-स्थिति जब साधक पंचप्राण में अवस्थित हो जाता है।
जटायु	योग
रावण	मोह
शूर्पणखा	अविद्या माया
खर	क्रूरता
दूषण	दोष
लंका	शरीर
अशोक वन	आनन्दमय कोष

शबरी	नवधा भक्ति
पंपासरोवर	भक्त-हृदय
ऋष्यमूक	मौन (जो प्रत्येक प्रकार की साधना के लिए आवश्यक है।)
सुग्रीव	सख्य भाव
हनुमान	दास्य भाव
बालि	अभिमान (सात्विक)
तारा	सद्बुद्धि
अंगद	बुद्धि
स्वयंप्रभा	अंतर्दर्शन
जामवन्त	ज्ञान
संपाती	हठयोग
सिन्धु	सन्देह
सुरसा	सत्व
सिंहिका	तमस्
विभीषण	विज्ञान
विभीषण का घर	विज्ञानमय कोष
राक्षसिनियाँ	आसुरी वृत्तियाँ
मंदोदरी	सद्बुद्धि
त्रिजटा	इडा, पिंगला, सुषुम्ना (नाड़ी त्रिक्)
हनुमान	देवदूत
मेघनाद	ऐसी सिद्धि जिससे प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की शक्ति हो जाय।
राम का वह तीर जो उन्होंने समुद्र को सोखने के हेतु प्रत्यञ्चा पर धारण किया था।	ब्रह्मभावना
नल	लोक-संग्रह

नील	यज्ञ-भावना, कर्मयोग
सेतु	अनासक्ति युक्त कर्ममार्ग
शिव	भगद्भक्ति में दीक्षित होने की योग्यता सिद्ध करने वाला चिह्न।
रावण का विलास और ऐश्वर्य	ब्रह्मवाणी को भुला देने के प्रयत्न में जीव इन्द्रिय सुखों से आनन्द प्राप्त करने की जो चेष्टा करता है उसका रूपक।
ब्रह्मवाण	ब्रह्मभावना
जामवन्त	नीति
सुषेण (वैद्य)	धर्म
कालनेमि	कपट
संजीवनी	आत्मविद्या
संजीवन पर्वत	वेद
कुंभकरण	साधन के मार्ग में आनेवाली दो बाधाएँ—आलस्य और निद्रा के आनन्द।
गरुड़	राजयोग
रथ (रावण का)	भौतिक सम्पत्ति
रथ (राम का)	आत्मिक सम्पत्ति
रथ (इन्द्र का)	दैवी सम्पत्ति
पुष्पक विमान	दैवी सम्पत्ति
रामराज्य	आत्मराज्य

इन प्रतीकों में उन्होंने सारे कथानक को घटाने का प्रयत्न किया है, परन्तु किसी प्रकार भी रूपक-पद्धति सामने लाने में वे असफल रहे हैं। रामचरित जैसी वृहद् कथा में जो एक बड़ी पट-भूमि पर अनेक पात्रों एवं रसों के साथ-साथ आगे बढ़ती है, किसी प्रकार की रहस्यमयी रूपक-पद्धति खोज निकालना असम्भव है। हमारे यहाँ की प्रवृत्ति यह रही है कि हम प्रत्येक स्पष्ट विषय को भी

अपनी सूक्ष्मान्वेषिणी एवं तर्क-प्रधान बुद्धि द्वारा अगम्य एवं रहस्य-मय बनाते रहे हैं। तुलसी जैसे रामभक्त, स्पष्टवादी एवं जागरूक साधक के काव्य में सूफी कवियों जैसी रहस्य-पद्धति खोजना व्यर्थ की उधेड़बुन है। डा० गुप्त ने इस साधना-पद्धति को विशेष बल देकर उपस्थित भी नहीं किया है और अपने प्रकाशित ग्रन्थ 'तुलसी-दास' (जो उनके थीसिस का हिन्दी-रूपान्तर है) में उन्होंने 'थीसिस' के वे पृष्ठ छोड़ दिये हैं जो तुलसी के प्रतीकों से सम्बन्ध रखते हैं। इससे जान पड़ता है कि वे या तो अपने तर्कों को अभी उतना सबल नहीं समझते और अधिक अकाट्य प्रमाणों की खोज में हैं या वे प्रतीक-सम्बन्धी अपनी खोज से सन्तुष्ट नहीं हुए। तुलसी की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि किसी विशेष राम-संप्रदाय की ओर न उनका आग्रह था, न उन्होंने किसी संप्रदाय को नींव डाली। परन्तु बाद में अयोध्या में उनके काव्य एवं उनकी साधना को लेकर संप्रदाय चल पड़े। इन सम्प्रदायों पर अपने समय की बलवती धाराओं का प्रभाव पड़ना अनुचित नहीं है। दूसरे, कोई भी साधना सम्प्रदायबद्ध होकर रहस्य, प्रतीक अथवा 'गुह्य' की ओर ही झुकती है।

बात यह है कि स्वयम् मानस के अनेक स्थलों से पाठक भ्रम में पड़ जाता है कि वह जो कुछ पढ़ रहा है उसके पीछे कहीं दूसरे ही अर्थ तो नहीं हैं। तुलसीदास स्थान-स्थान पर कह देते हैं कि रामकथा वास्तव में रहस्यकथा है—

सूझहिं राम चरित मनि मानस।
गुपुत जहँ जो जेहि खनिक॥ (बा० ८)

करन चहउँ रघुपति गुन गाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥
(बा० २–५)

जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरज करहिं अस जानी।
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायण शत कोटि अपारा॥

कल्प भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संशय अस उर आनी। सुनिय कथा सादर रति मानी॥
राम अनन्त अनन्त गुन, अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं, जिन्हके बिमल बिचार॥
(बा० ३२-५-३३)

वास्तव में तुलसी ने रामकथा को 'रहस्य' के रूप में ही देखा है और वे इसी बात को श्रद्धालु पाठक को स्पष्ट करना चाहते हैं। रामकथा को तुलसी ने किस प्रकार साधारण नर-काव्य से उठाकर रहस्यमय और अलौकिक बना दिया, यही हम आगे समझने की चेष्टा करेंगे।

(१) यह अलौकिक का चरित्र है।[१]

(२) यह ब्रह्म की लीला है। ब्रह्म स्वयम् अज्ञेय है; अतः उसकी लीला भी अज्ञेय है।

(३) यही लीला सदैव एक सी नहीं रहती। यह नानात्व प्रधान है।[२] ब्रह्माण्ड अनन्त है। प्रत्येक ब्रह्मांड में अयोध्यापुरी, सरयू तथा अन्य तीर्थादि हैं और उनके ही अंश रूप भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी सदा उनके साथ ही जन्म लेते हैं। तुलसी की कल्पना के अनुसार राम प्रत्येक कल्प में अवतार लेते हैं। इस अनंतता, स्थान-विशेष और काल-विशेष के प्रभाव के बाहर होने के कारण ही 'रामचरित' उसी प्रकार अगम, रहस्यमय और केवल अनुभूति-साध्य ही है जिस प्रकार आजकल के वैज्ञानिकों की सृष्टि-विषयक धारणा।[३]

१—कथा अलौकिक

२—एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
(बा० १८)

३—नाना भाँति राम अवतारा।
कल्प भेद हरि चरित सुहाए।

(४) निर्गुण ब्रह्म का सगुण हो जाना ही रहस्यात्मक है। वास्तव में अवतार की भावना ही रहस्यमयता पर स्थित है। तभी तो "जन्म होना" न कह कर "प्रगट होना" कहा गया है। जैसे कृष्ण के सम्बन्ध में भागवतकार ने कहा है। इस तरह रामावतार आयोजित होता है।[४] इसी प्रकार तुलसी ने भगवान् को अयोध्या में ही छोड़ कर कथा की समाप्ति कर दी है जैसे उनके राम की कथा को समाप्त करने से राम के जीवन कार्यों में एक बार फिर रहस्य की स्थापना हो जाती है।

(५) अनेक स्थान पर चरित्र ही अलौकिक है। वास्तव में जिस प्रकार सूरदास ने कृष्ण के जीवन को भागवत की अलौकिकता और रहस्यमयता से मुक्त करके उन्हें यथार्थ के स्पर्श से सामान्य मनुष्य—बालक और प्रेमी—के धरातल पर खड़ा करने की चेष्टा की है, उसके ठीक विपरीत तुलसी का प्रयास है। जिन्होंने राम के चरित्र को लोकोत्तर बनाने की चेष्टा की है। इस कारण भी कुछ रहस्यमयता की गई है।

(६) तुलसी स्थान स्थान पर लौकिक चरित्र के साथ कहते चलते हैं कि यह तो अलौकिक क्रीड़ा-मात्र है। वह रामचरित की अलौकिकता और रहस्यमयता को भुला देना नहीं चाहते। इसी लिए वह पाठक से

४—उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया ॥
अंडकोस प्रति-प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा ॥
अवधपुरी प्रति भुवन निहारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी ॥
दशरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता ॥
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा। देखेउँ बाल बिनोद अपारा ॥
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन ॥
(उ० ८१)

५—भये प्रगट कृपाला दीन दयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मनहारी अद्भुत रूप बिचारी ॥ (बा० १९८)

श्रद्धा की याचना करते हैं। रहस्य की रचना अध्यात्म में भी यथेष्ट मात्रा में मिलती है। यदि तुलसी राम के सम्बन्ध में रहस्य की भावना उत्पन्न करने में किसी के ऋणी हैं तो अध्यात्मकार के। सच तो यह है कि चरित्र को रहस्यमय बनाये बिना श्रद्धा को पुष्ट नहीं किया जा सकता। भक्ति हृदय का विषय है। उसका आधार बुद्धि नहीं, श्रद्धा है। श्रद्धाभाव के कारण ही राम का चरित्र बुद्धि को अग्राह्य होने पर भी सहज ग्राह्य हो जाता है, यह तुलसी का तर्क है।

(६) अंतिम बात यह है कि रामकथा भक्तिदायिनी है और भक्ति की कल्पना रहस्यवादी होने के कारण रामकथा में भी 'रहस्यवादिता' आ जाती है।

प्रोफ़ेसर रानाडे ने "महाराष्ट्र में रहस्यवाद" नाम की अपनी अंग्रेज़ी पुस्तक में निर्गुण संतों के साथ सगुण भक्तों को भी रहस्यवादी माना है। एक दृष्टिकोण से यह ठीक भी है। मध्ययुग की भक्ति-धारा श्रद्धा के आधार पर थी। उसके आलंबन या आश्रय अलौकिक चरित्र थे। उपास्य देवता के आगे मन, बुद्धि और वचन सभी प्रकार आत्मसमर्पण कर देना ही मुख्य भाव था। चाहे भक्त दास्य भावना को मानता हो चाहे मधुर भाव का उपासक हो, यह आत्मसमर्पण ही उसकी प्रवृत्ति के मूल में रहता था। रहस्यवादियों में भी श्रद्धा द्वारा आत्मसमर्पण को ही प्रधानता मिली है। इस दृष्टिकोण से राम और कृष्णभक्त भी रहस्यवादी कहाते हैं। परन्तु सगुण भक्तों और रहस्यवादियों की तुलना यहीं पर समाप्त हो जाती है। सगुण भक्तों ने अपने चरित्रों की कथा के पीछे कोई प्रतीक नहीं चलाए, न साधना-पद्धति ही उपस्थित की। एक तो कथा में प्रतीक की भावना उत्पन्न करने से उसके प्रवाह में बाधा पड़ती, दूसरे यह आवश्यक ही नहीं था। सूफ़ियों को एक विशेष साधना-पद्धति का प्रचार करना था। भक्तों के लिए भक्ति ही साधना थी जिसके आधार के लिए या "स्वान्तः सुखाय" अपनी भक्तिभावना को पुष्ट करने के लिए साधना रूप में

उन्होंने अपने काव्य की रचना की। "मानस में कोई काल्पनिक रूपक नहीं बाँधा गया है। यद्यपि आदि से अंत तक कथा-प्रवाह के साथ साथ आध्यात्मिक भाव की धारा भी उमड़ती गई है।"[१] नाम महात्म्म प्रकरण के आधार पर मानस में रूपक (प्रतीक) की खोज करना ठीक नहीं है। तुलसी ने राम के नाम को राम से बड़ा अवश्य कहा है। अक्षर ब्रह्म की कल्पना के मूल में भी नाम की महत्ता ही है।[२] तुलसी ने रामकथा कहने के बाद राम नाम की महत्ता लिखकर शास्त्र विहित कार्य ही किया है। हाँ, यदि उन्हें निर्गुणवादियों के "नाम के महत्व" को ध्यान में रख कर उनकी साधना को भी सगुण रामभक्ति में मिला लेने की प्रेरणा न होती तो वह इतना अधिक महत्त्व इस प्रसंग को न देते। परन्तु जहाँ उन्होंने निर्गुणवादियों की निन्दा की है वहाँ उनको राम-धर्म में दीक्षित करने की भी चेष्टा की है। यह उनकी पद्धति को आत्मसात करके अपरोक्ष रूप में नाम-प्रकरण की रचना के पीछे ऐसी ही कोई भावना हो सकती है। सारी राम-कथा कह कर फिर उस पर रूपक का आरोप करना और कथा प्रतीक रूप में उपस्थित करना असंभव था।

१—रामचरितमानस की कुछ विशेषताएँ (ए० बी० पुराना), कल्याण, भाग १३, सं० ३

२—नामैव तव गोविन्द कलौतत्वतः शताधिकम्।
[illegible] विना अष्टाङ्गयोगतः॥

गोकोटिपानं गृहेषु काशी— (भृगु०)
प्रयाग गंगायुत कल्पवासः।

यज्ञायुतं मेरु सुवर्ण दानम्
गोविन्द नाम्ना न कदापि तुल्यम्॥ (अत्रि०)

अक्षरं हि परब्रह्म गोविन्देत्यक्षरत्रयम्।
तस्मादुच्चरितं येन ब्रह्म भूयाय कल्पते॥ (शिवसंहिता)

राम

सारे रामचरितमानस में जहाँ अनेक चरित्रों के दर्शन हमें होते हैं, वहाँ मुख्य रूप से केवल एक ही व्यक्तित्व उभरता है। यह राम का व्यक्तित्व है। तुलसीदास ने उनके व्यक्तित्व, उनके देवत्व और उनके ब्रह्मत्व को अनेक प्रकार से पुष्ट किया है।

राम गोस्वामी तुलसीदास के इष्टदेव हैं। उनके विषय में भक्त पाठक की जिज्ञासा शान्त करने के लिए ही रामचरितमानस की रचना हुई है।

मध्य युग की उपासना को समझने के लिए हमें कुछ भूमिका की आवश्यकता होगी। उस समय दर्शन के क्षेत्र में परब्रह्म या ब्रह्म की महत्ता स्थिर हो चुकी थी और साधारण जनता तक पहुँच भी चुकी थी। श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण ब्रह्म ही हैं। अतः तुलसीदासजी ने अपने राम को कहीं ब्रह्म कहीं ब्रह्मपर कहा। साथ ही वैष्णव धर्म ने विष्णु की महत्ता स्थापित कर दी थी और साधारणतया राम-कृष्ण को विष्णु का अवतार ही समझा जाता था। तीसरी बात यह है कि ब्रह्म का जहाँ सगुण कृष्ण रूप भली भाँति निरूपित हो चुका था, वहाँ उससे बहुत पहले निर्गुण रूप की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। निर्गुण-पन्थियों ने पूर्वीय प्रदेश की सगुण रामभावना को निर्गुण रूप दे दिया था। कबीर कहते थे—

"दशरथ सुत सब लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना॥"

बहुत कुछ निर्गुण ब्रह्म के साम्यवाची रूप में राम का प्रयोग काशी और उसके चारों ओर के प्रान्तों में हो रहा था।

इन्हीं कारणों से तुलसी को राम का ऐसा रूप उपस्थित करना पड़ा जो प्रचलित मन्तव्यता के विरोध में न पड़े और जिसका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व हो। उनके सामने वाल्मीकि और अध्यात्म के विष्णु के अवतार राम, निर्गुणियों के निर्गुण ब्रह्म राम और दार्शनिकों

सगुण निर्गुण ब्रह्म थे। इन्हीं को लेकर उन्होंने अपने राम का निर्माण किया।

१—निर्गुण ब्रह्म राम (निराकार)

अनेक चौपाइयों में तुलसी ने राम के इस रूप का विवेचन किया है। यह रूप साधारण मनुष्य को अचिंत्य है। वेद इसे "नेति नेति" कहते हैं। इस रूप में राम व्यापक, अलख, अनादि, अनीह, सच्चिदानन्द, निराकार और निर्मोह है। इन राम को उच्च श्रेणी के भक्त और योगी ही पा सकते हैं और वह भी साधना की उच्चतम अवस्था में—

एक अनीह रूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा॥
अगुन अखंड अनन्त अनादि। जेहि चिन्तहि परमारथवादी॥
नेति नेति जेहि वेद निरूपा। चिदानन्द निरुपाधि अनूपा॥
व्यापक अलख अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा।
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नेति नेति निरूपहि वेदा॥
सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विग्यान रूप बलधामा॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता। अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता।
अगुन गिरा गोतीता। समदर्शी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सन्दोहा।

तुलसी के इन राम का रूप सन्तों के राम से कुछ भी भिन्न नहीं है।

२—महाविष्णु राम

यद्यपि तुलसी विष्णु के नामों हरि आदि का ही प्रयोग राम के लिए करते हैं, परन्तु उनका तात्पर्य विष्णु परशक्ति है क्योंकि विष्णु स्वयम् उसका एक अंश है। इनका रूप विष्णु जैसा ही है। यह साकार, एकदेशी, एकरूप हैं। इनका धाम वैकुण्ठ ऐसे ही सागर है—

लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन वनमाला नयन बिसाला शोभा सिंधु खरारी॥
कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि विध करौं अनन्ता॥
मायागुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनन्ता।
करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता॥
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रकट श्रीकंता॥

दशरथ और कौशल्या भी राम के इस रूप को जानते थे और उन्होंने वात्सल्य भाव से ब्रह्म की रति उस जन्म या इस जन्म में माँगी थी।[१] सीताजी तो परमशक्ति ही थीं परन्तु उन्हें भी कवि भक्त ही चित्रित करने में अधिक आनन्द लेता है।[२] रही कैकेयी। उसने राम के देवत्व को बाद में जाना। वस्तुतः राम उसे भी प्राण से प्रिय थे। भरत तो भक्ति के आदर्श ही हैं।[३] शत्रुघ्न भी राम के सेवक हैं।[४] जनक ज्ञानी भक्त हैं। उन्होंने देखते ही राम-लक्ष्मण के असली रूप को पहचान लिया है।[५]

१—चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ।
सुत विषइक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥
मनि बिनु फन जिमि जल बिनु मीना।
मम जीवन तिमि तिन्हहि अधीना॥
जे निज भगत नाथ तव अहहीं।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु॥

२—जेहि विधि कपट करंग संग धाइ चले श्रीराम।
सो छवि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम॥

या

३—सगुण-निर्गुण ब्रह्म राम

इस रूप में राम सगुण भी हैं और निर्गुण भी। मूलरूप से वह निर्गुण हैं परन्तु भक्त के प्रेम के वशीभूत होकर सगुण हो जाते हैं। दोनों रूपों में वह निराकार हैं। निर्गुण रूप में जिस प्रकार ब्रह्म निराकार, व्यापक और अव्यक्त है, सगुण रूप में ब्रह्म उसी प्रकार साकार, व्यापक और अन्तर्यामी है। तुलसी ने राम के इस रूप का अनेक स्थानों पर वर्णन किया है।

जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय ॥
जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख मंदिर सुन्दर अति नागर ॥

जेहि विधि कृपा सिंधु सुख मानइ।
सोइ कर श्री सेवा विधि जानइ ॥

या

जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत चितवन सोइ।
राम पदारविंद रति करति स्वभावहि खोइ ॥

३—पुलक गात हिय सिय रघुबीरू।
जीह नामु जप लोचन नीरू ॥

और

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहि।
सीय रामपद प्रेम अवसि होइ भवरस विरति ॥

४—भरत सत्रुहन दुनउ भाई।
प्रभु सेवक जस प्रीति बड़ाई ॥

५—सहज विराग रूप मन मोरा।
थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा ॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय वेष धरि की सोइ आवा ॥

तग्य कृतग्य अग्यता भञ्जन। नाम अनेक अनाम निरंजन ॥
सर्व सर्वगत सर्व उरालय। बसहि सदा हम कहुँ परिपालय ॥

अलक अगुन अज अनघ अनामय।
अजित अमोघ शक्ति करुनामय ॥

यह सगुण-निर्गुण रूप ब्रह्म ही अवतार लेता है—
मीन कमठ सूकर नरहरी। वामन परशुराम वपुधरी।

४—सगुण ब्रह्म राम

मानस में सगुण राम का ही विशेष वर्णन है, विशेषतः साकार सगुण राम का। इनके दो रूप हैं—एक देवराम, दूसरा दाशरथि राम। देव राम और दाशरथि राम में यह अंतर है कि जहाँ देवरूप का वर्णन आया है, वहाँ उनके हृदय पर बने हुए (उर श्रीवत्स) भृगुचरण की भी चर्चा की गई है। इस प्रकार राम के इस रूप की कल्पना में विष्णु का मेल हो गया है। इनकी आकृति दाशरथि राम जैसे ही है।

दाशरथि राम का तुलसी ने विशेष वर्णन किया है। इस विषय में वे अध्यात्म और श्रीमद्भागवत से प्रभावित हैं।

नखशिख

तुलसी को राम के नखशिख का वर्णन अत्यन्त प्रिय है। नखशिख वर्णन के अधिकांश प्रसंग बालकाण्ड में हैं। उनमें राम के बाल और किशोर रूप का वर्णन है। एक चौपाई में निदियाले राम का चित्र भी है। अयोध्याकांड में उस प्रकार के नखशिख नहीं मिलते, परन्तु राम के तापस-वेश का वर्णन है और उनके प्रभाव का निरूपण है। बाद के कांडों में ऋषि-मुनियों की स्तुतियों में और भक्त से मिलने के अवसर पर राम का स्वरूप

वर्णन किया गया है। इन स्थलों पर राम-लक्ष्मण-सीता अथवा राम-लक्ष्मण की तापस जोड़ी का ध्यान उपस्थित किया गया है। युद्ध के समय के तापस-वीर वेष के वर्णन भी मिलते हैं परन्तु कवि की विशेष रुचि इनमें नहीं है। उसे किशोर और तापस राम अधिक प्रिय हैं।

१—बाल रूप

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पंकज नखजोती। कमलदलन्हि बैठे जनु मोती॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गँभीर जान जेहि देखा॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हिय हरिनख अति सोभा रूरी॥
उन मनिहार पदिक की सोभा। विप्र चरन देखत मन लोभा॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥
चिक्कन कच कुञ्चित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥
पीत झगुलिया तनु पहिराई। (बा० १९९)

२—किशोर रूप

अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलज तनु स्याम तमाला।
कटि पट पीत कसें बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहु हाथा॥
(बा० २०९)

पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सोहत हाथा॥
तन अनुहरत सुचंदन खौरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥
केहरि कंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नागमनि माला॥
सुभग सोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक ताप त्रय मोचन॥

कानन्हि कनक फूल छबि देहीं। चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक रेख सोभा जनु चाँकी॥

रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुञ्चित केस।
नख सिख सुंदर बन्धु दोउ सोभा सकल सुदेस॥

(बा० २१६)

कल कपोल श्रुति कुण्डल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला॥
कुमुदबंधु कर निंदक हाँसा। भृकुटी विकट मनोहर नासा॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं॥
पीत चौतनी सिरहिं सुहाई। कुसुम कली बिच बीच बनाई॥
रेखे रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ॥

कुञ्जर मनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल।
वृषभ कंध केहरि ठवनि बल निधि बाहु बिसाल॥

(बा० २४२)

कटि तूनीर पीत पट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे॥
पीत जग्य उपवीत सुहाए। नखसिख मंजु महाछबि छाए॥

(बा० २४३)

सोभा सीव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥
भाल तिलक श्रमबिन्दु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥
बिकट भृकुटि कच घूघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मन मोला॥
मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥
उर मनि माल कंबुकल ग्रीवाँ। काम कलभ कर भुज बल सीवाँ॥
सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुँअर सखी सुठि लोना॥

केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥

(बा० २३३)

केकि कंठ दुति स्यामल अंगा। तड़ित बिनिन्दक बसन सुरंगा॥
ब्याह बिभूषन बिबिध बनाए। मंगल सब सब भाँति सुहाए॥
सरद बिमल बिधु बदन सुहावन। नयन नवल राजीव लजावन॥
सकल अलौकिक सुन्दरताई। कहि न जाइ मन ही मन भाई॥
(बा० ३१६)

स्याम सरीरु सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥
जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए॥
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरित बाल रवि दामिनि जोती॥
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर॥
पीत जनेउ महाछबि देई। करमुद्रिका चोरि चितु लेई॥
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत उर भूषन राजे॥
पिअर उपरना काखा सोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती॥
नयन कमल कल कुण्डल काना। बदनु सकल सौंदर्य निधाना॥
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलकु रुचिरता निवासा॥
सोहत मौरु मनोहर माथें। मंगलमय मुकुता मनि गाथें॥
(बा० ३२३)

मानस के राम के सौन्दर्य-वर्णन के कितने ही स्थलों को हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। रामचरितमानस चरित-काव्य है, अतः उसमें राम के बाल, किशोर और तारुण्य की अनेक अवस्थाओं और युवराज-भेष, विवाह-भेष, बन-भेष आदि अनेक वेष-भूषाओं के हमें दर्शन होते हैं। इसी लिए मानस में राम का सौन्दर्य अनेक रूपों में पुष्ट हुआ है। उसमें विवाह के समय का राम का माधुर्यपूर्ण वेष भी है, (जिसकी चौपहलू टोपी आचार्य शुक्लजी को खटकती है) और युद्ध के समय का पुरुष-भेष भी है। अनेक स्थलों (जैसे समुद्र-शोषण की प्रतिज्ञा करते समय और सुबेला की झाँकी के समय) पर प्रसंग से ही रामचन्द्रजी की मुद्रा और सौन्दर्य की व्यंजना हो जाती है।

रूप-वर्णन आलम्बन के सौन्दर्य को हृदयनिष्ठ कर देता है। भक्त कवियों ने इस सत्य को उतनी ही अच्छी तरह से समझा था

जितनी अच्छी तरह से शृंगारिक कवियों ने। राम और कृष्ण के रूप का ध्यान भक्ति प्राप्ति की पहली सीढ़ी थी। अतः सूरदास और तुलसीदास दोनों ने अपने इष्टदेवों को अनेक परिस्थितियों में डाल कर उनके सौन्दर्य से तृप्ति पाने और उसे अपनी ध्यान-धारणा का केन्द्र बनाने की चेष्टा की है। तुलसी के काव्य में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ कवि राम की विशेष रूप-मुद्रा पर रीझ कर प्रार्थना करता है कि वे उसके मन में इसी रूप-मुद्रा-विशेष के साथ विराजमान रहें। उदाहरण के लिए सुबेला की झाँकी को ही लीजिए—

इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥
सिखर एक उतंग अति देखी। परम रम्य सम सुभ्र बिसेखी॥
तहं तरु किसलय सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥
तापर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥
प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥
दुहु कर कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना॥
बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥

एहि विधि कृपा रूप गुन धाम रामु आसीन।
धन्य ते नर एहि ध्यान जे रहत सदा लयलीन॥

राम के सौन्दर्य-वर्णन में कवि उन समस्त प्राचीन उपमानों का प्रयोग करते हैं जो शृंगार काव्य में नायिका के अंगों के सौन्दर्य के लिए निश्चित हुए हैं। नेत्रों के सौन्दर्य के ऊपर तुलसीदास रीझे हुए हैं और जैसा हमने अन्यत्र कहा है उन्होंने उन्हें अनेक प्रकार से चित्रित किया है, कहीं उपमानों के साथ, कहीं स्वतन्त्र रूप से। सच तो यह है कि तुलसी के राम छविधाम हैं, तुलसी उनकी छवि पर मुग्ध हैं। उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के बीच में राम का अलौकिक सौन्दर्य प्रस्फुटित हुआ है। 'गीतावली' में इस सौन्दर्य में माधुर्य की प्रधानता है, जैसे—

प्रातकाल रघुवीर-बदन छबि चितै चतुर चित मेरे।
होहिं विवेक बिलोचन निर्मल सुफल सुसीतल तेरे॥
भालु बिसाल विकट भृकुटी बिच तिलक रेख रुचि राजै।
मनहुँ मदन तम तकि मरकत धनु जुगुल कनक सिर साजै॥
रुचिर पलक लोचन जुग तारक, स्याम अरुन सित कोए।
जनु अलि नलिन-कोस महँ बंधुक सुमन सेज सजि सोए॥
बिलुलित ललित कपोलनि पर कच मेचक कुटिल सोहाये।
मनो बिधु महँ बनरुह बिलोकि अलि विपुल सकौतुक आये॥
सोभित स्रवन कनक कुण्डल कल लम्बित विधि भुजमूले।
मनहुँ केकि तक गहन चहत जुग उरग इन्दु प्रतिकूले॥
अधर अरन तर दसन पाँति वर मधुर मनोहर हासा।
मनहुँ सोन सरसिज महँ कुलिसाने तड़ित सहित कृतबासा॥
चारु चिबुक सुक तुण्ड बिनिन्दक सुभग सुउन्नत नासा।
तुलसीदास छबिधाम रामसुख सुखद समन भव त्रासा॥[१]

परन्तु कवितावली और मानस में, विशेषतः कवितावली में, राम के परुष सौंदर्य का चित्रण हुआ है। कवितावली में युद्ध के अवसर पर राम के इस सौंदर्य को भी कवि देखता है—

राम सरासन तें चले तीर रहे न सरीर हड़ावरि फूटी।
रावन धीर न पीर गनी लखि लै कर खप्पर जोगिन जूटी।
सोनित छींटि छटानि जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछबि छूटी।
मानौ मरक्कत सैल बिसाल फैलि चली बर बीरबहूटी॥[२]

यदि राम का नर-चरित्र ही तुलसी को इष्ट होता तो इतने प्रसंगों में राम के नखशिख-वर्णन की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, परन्तु उन्हें तो अपनी भक्ति-भावना को दृढ़ करना और उसे उत्तरोत्तर विकसित करना था, इसी से वे राम के शील-निरूपण के साथ उनके

१—गीतावली
२—कवितावली

शरीर-सौंदर्य के वर्णन को नहीं भूल सके। राम अनन्त की चारों विभूतियों को लेकर अवतीर्ण हुए थे। तुलसी की कथा में ऐश्वर्य, शील, तेज और माधुर्य सभी को स्थान मिला है, परन्तु सौंदर्य-प्रिय कवि होने एवं श्रीमद्भागवत से प्रभावित होने के कारण तुलसी ने माधुर्य को बड़ा महत्त्व दिया है। शील के बाद इसी विभूति की चर्चा सबसे अधिक है। राम के ऐश्वर्य का वर्णन रामचरितमानस में हुआ है और विनयपत्रिका में 'पाती गुजराने' के ढंग से उसकी व्यंजना हुई है, परन्तु तुलसी की दास्य भावना की तीव्रता और भगवान् की भक्त-वत्सलता के कारण भक्त और भगवान् के बीच में कोई अन्तर खड़ा नहीं हुआ है।

परन्तु इष्टदेव का इतना चित्रण करने पर भी तुलसी सीता के चित्रण में इतने संयत रहे हैं कि हमें उनकी सतर्कता पर आश्चर्य होता है। जहाँ उनके सौंदर्य-बोध ने उन्हें इस ओर बढ़ाया, वहाँ वे नैतिक भावना की प्रधानता और मर्यादा-भावप्रियता के कारण शीघ्र ही सँभल गये। जैसे—

सोह सीय तन सुंदर सारी।

कहकर वे दूसरी ही पक्ति में शृंगार को अलौकिक ही नहीं 'पवित्र' बना देते हैं—

जगत जननी अतुलित छबि भारी।

अथवा सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए व्यंजना और कल्पना का आश्रय लेते हैं, जैसे—

सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई।
छबि गृहँ दीपसिखा जनु बरई॥

या

जौं छबि सुधा पयोनिध होई। परम रूपमय कच्छपु सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥

एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल॥

सीता के नखशिख-वर्णन का प्रयत्न नहीं किया गया है। केवल अरण्यकाण्ड के राम के विरह-प्रलाप में सीता का नखशिख इङ्गित है—

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनयनी॥
(नेत्र) (केश)

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥
(नेत्र) (नासिका) (ग्रीवा) (नेत्र) (केश) (कंठ-स्वर)

कुन्दकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी॥
(दंत) (दंत) (हास) (मुख) (मुखमण्डल) (लट)

बरुनपास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
(वेणी) (भ्रू) (गति) (गति) (कटि)

श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
(स्तन) (जंघा)

यह नखशिख-वर्णन क्रमबद्ध नहीं है, अतः सौन्दर्य का स्पष्ट आभास नहीं होता है। वास्तव में सीता का सौंदर्य-वर्णन कवि को अपेक्षित भी नहीं था। यहाँ जो वर्णन है वह काव्य-परिपाटी मात्र है और उसके मूल में भागवत का प्रभाव है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि तुलसी नखशिख-वर्णन की पद्धति से परिचित थे, परन्तु उन्होंने अपने समय के कवियों के प्रभाव को ग्रहण नहीं किया। कदाचित् यह उनकी धर्म-भावना के कारण था। उस युग में जिसमें कृष्ण-काव्य के कवि राधा का वर्णन साधारण नायिका की भाँति कर रहे थे, शृंगार को संयमित करना अपूर्व प्रतिभा और संयम का काम था। तुलसी ने अपने प्रेम-भाजन उपास्य देव और उपास्य देवी को सब प्रकार से स्वच्छ रखा। उनके स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन करते हुए उन्होंने कहीं भी चटकीले रङ्ग का प्रयोग नहीं किया।

१६—अन्य ग्रन्थ

१—रामलला नहछू

इसमें बीस सोहर छन्दों[१] में बालक राम के नहछू की कथा है।[२] "भारतवर्ष के पूर्वीय प्रान्त में अवध से लेकर बिहार तक बरात के पहले चौक बैठने के समय नाइन के नहछू करने की रीति प्रचलित है। इस पुस्तिका में वही रीति गाई गई है। इधर का सोहर छन्द एक विशेष छन्द है जिसे स्त्रियाँ पुत्रोत्सव आदि अवसरों पर गाती हैं।"[३]

मिश्रबन्धु नहछू को तुलसी कृत नहीं मानते, क्योंकि "उसमें नाइन, भाटिन आदि का शृंगारपूर्ण वर्णन है।"[४] ग्रियर्सन को इस ग्रन्थ के असली होने में सन्देह है।[५] अन्य विद्वान् इसे तुलसी ही की रचना मानते हैं।

ग्रन्थ के रचना-काल के सम्बन्ध में भी मतभेद है। बाबा बेणी-माधवदास ने उसका उल्लेख सं० १६६९ (१६१२ ई०) की घटनाओं के साथ किया है। श्यामसुन्दरदास सं० १६४० (१५९३ ई०)

१—एक विशेष छन्द जिसे स्त्रियाँ पुत्र-सम्बन्धी आनन्दोत्सवों पर गाती हैं। कहीं-कहीं इसे सोहला भी कहते हैं।

२—"बरात के पहले मंडप में वर की माँ वर को नहला-धुला कर गोद में लेकर बैठती है और नाइन पैर के नखों को महावर के रंग से चीतती है। इसी रीति को नहछू कहते हैं।" (तुलसी-ग्रन्थावली)

३—'गोस्वामी तुलसीदास' (बाबू श्यामसुन्दरदास)

४—'नवरत्न'

५—'नोट्स ऑन तुलसीदास'

रचना-काल मानने हैं।[६] सद्गुरुशरण अवस्थी ने सं० १६१६ (१५५६ ई०) के लगभग[७] और डा० माताप्रसाद गुप्त ने सं० १६११ (१५५४ ई०) के लगभग इसका रचना-काल स्थिर किया है।[८] पिछले दोनों विद्वानों के अनुसार यह तुलसी की पहली रचना है।

यह नहछू विवाह के समय का है या यज्ञोपवीत के समय का, इसमें भी मतभेद है। (पं० रामगुलाम द्विवेदी उसे यज्ञोपवीत के समय का मानते हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है कि गोसाईं जी ने इसे वास्तव में विवाह के समय के गन्दे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिए बनाया है। डा० ग्रियर्सन इसे यज्ञोपवीत के समय का ही मानते हैं। सद्गुरुशरण अवस्थी भी उनके मत से सहमत हैं और उन्होंने अत्यन्त युक्ति-पूर्वक अपने मत का समर्थन किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने उसे तुलसी कृत माना तो है पर सङ्कोच के साथ आप्त वचनों का कथन करते हुए। वे उसे विवाह के समय का नहछू मानते हैं।)

विवाह के समय का मानने से नहछू में एक और कठिनाई उपस्थित होती है। इस घटना का किसी राम-कथाकार ने उल्लेख नहीं किया। वह अवध में हुआ यह इस ग्रन्थ में है, परन्तु राम-विवाह जनकपुर में हुआ था। इसका समाधान यह मानकर किया जाता है कि नहछू जनकपुर में नहीं हो सका था, अतः बारात लौटने पर अवध में हुआ। परन्तु यज्ञोपवीत के समय का मानने से हमारे सामने इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं आती। वास्तव में इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में श्री सद्गुरुशरण अवस्थी के विचार सबसे उपयुक्त ठहरते हैं। उन्होंने बैसवाड़े के रीति-रिवाजों का आश्रय लिया है। उनके अध्ययन का सार इस प्रकार रखा जा सकता है :—

६—'गोस्वामी तुलसीदास'

७—'तुलसीदास के चार दल', पृ० ६६

८—'तुलसीसंदर्भ', पृ० ३७

(१) 'दूल्ह', 'बन्ना', 'बनरा', आदि शब्द कोई निश्चित महत्त्व नहीं रखते। यज्ञोपवीत के समय में भी इस प्रकार के 'बनरे'-प्रधान गीत गाये जाते हैं।

(२) 'मायन' यज्ञोपवीत के पूर्व भी होता है। अन्य उपचार (नाइन आदि का आना) दोनों समय पर एक-सा है।

(३) उपवीत के समय 'नाखुर'—नाखून काटने की क्रिया भी सम्पन्न होती है। कहीं-कहीं केवल नाखूनों को नहन्नी द्वारा स्पर्श करने का रिवाज है। "नहछू" में नहरनी शब्द का प्रयोग मिलता है—

कनक चुनिन सो लसित नहरनी लिए कर हो।

(४) 'लला' शब्द शिशुता का सूचक है।

(५) जानकीमङ्गल के अन्तिम छन्द की दो पंक्तियाँ हैं—

उपवीत ब्याह उछाह जय सियाराम मङ्गल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नरनारि अनुदिनु पावहीं॥

"जानकीमङ्गल की रचना करके विवाहोत्सव के मङ्गलगान की व्यवस्था तो गोस्वामी जी ने कर दी। 'रामलला नहछू' द्वारा उपवीत-उत्सव-गान की व्यवस्था कवि को इष्ट रही होगी। अन्यथा उपवीत-गान के लिए गोस्वामी जी रचित कोई दूसरा ग्रन्थ होना चाहिए था।"[१]

नहछू की भाषा पूर्वी अवधी का ठेठ रूप है जो जायसी के पद्मावत से मिलता है। "रामलला नहछू में आये हुए बहुत से अवधी शब्द मलिक मोहम्मद जायसी द्वारा प्रयुक्त अवधी के शब्दों से मिलते-जुलते हैं। रामचरितमानस की अपेक्षा रामलला नहछू और पद्मावत की भाषा में अधिक समता है।"[२]

इस पुस्तक की रचना लोकाचार और जन-रुचि की ओर ध्यान रखकर हुई है। इसीलिए शृंगार और हास्य की प्रधानता है। इस शृंगार के मूल में कवि की यौवन-सुलभ स्त्री-सौन्दर्य-अनुरक्ति है।

१—'तुलसी के चार दल', पृ० ८५
२—'तुलसी के चार दल', पृ० ९७

उसने राजा दशरथ को सौन्दर्य-प्रिय राजा के रूप में चित्रित किया है। हास्य अस्पष्ट और अशिष्ट भी हो गया है। जो हो, इस पुस्तक से तुलसी के सम्बन्ध में विशेष मन्तव्य स्थिर नहीं किया जा सकता जैसा उनके आलोचकों ने करने का प्रयत्न किया है। यही क्या कम है कि अपनी पहली रचना में ही कवि की दृष्टि लोकभावना और राम-चरित में सामञ्जस्य उपस्थित करने की ओर लगी हुई थी और उसने लोकाचार को धार्मिक क्रिया का रूप देना चाहा और उसका आधार रामचरित का एक अंग रखा।

२—बरवै रामायण

इस ग्रन्थ में ६६ बरवै हैं।[1] नाम यद्यपि रामायण है, परन्तु कथा-भाग पूर्ण नहीं है। उसका रूप स्फुट है। प्रसंग-विशेष पर छंद-रचना की गई है। अतः यह स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य इसे इस रूप में उपस्थित करने का नहीं रहा होगा। संग्रह-कर्ताओं ने इसे भी मानस के आधार पर कांडों में विभक्त कर दिया होगा। इस ग्रन्थ का विश्लेषण इस प्रकार है—

कांड	छन्द-संख्या
बालकांड	११
अयोध्याकांड	८
अरण्यकांड	६
किष्किधाकांड	२
सुन्दरकांड	१
उत्तरकांड	२७

१—"बरवै छन्द में ३८ मात्राएँ होती हैं। यह पूर्वी अवधी का जन-छन्द मालूम होता है। इसका आकर्षण इसका लालित्य है। तुलसी के अतिरिक्त रहीम ने इसे नायिका-भेद के लिए प्रयुक्त किया है। अवधी भाषा जिस सौष्ठव के साथ बरवै रामायण में ढली है वैसी और किसी छन्द में नहीं ढल सकी। अवधी का नवीन स्वरूप भी इतनी सुगमता से बद्ध नहीं किया जा सकता जैसा प्राचीन ग्रामीण रूप।"—रामचन्द्र शुक्ल।

काव्य की दृष्टि से केवल बालकांड और अयोध्याकांड महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों में रस की ओर ध्यान दिया गया है। पहले में अलङ्कार-निरूपण का प्रयास स्पष्ट है। मिश्रबन्धु इसे तुलसी कृत नहीं मानते परन्तु सद्गुरुशरण अवस्थी उनसे सहमत नहीं हैं। उन्होंने मिश्र-बन्धुओं के तर्कों का सावधानी से उत्तर दिया है और ग्रन्थ की विशद् आलोचना की है। हिन्दो के अन्य विद्वान् बाबू श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल', पं० रामनरेश त्रिपाठी और डा० माताप्रसाद गुप्त इस ग्रन्थ को तुलसी की ही रचना मानते हैं।

रचनाकाल के संबंध में भी मतभेद है। मूल गोसाईंचरित ने रचनाकाल सं० १६६९-७० (१६१२-१६१३ ई०) माना है। माता-प्रसाद गुप्त ने इसका रचनाकाल सं० १६६२-६४ (१६०५-१६०७ ई०) के लगभग माना है। सद्गुरुशरण अवस्थी का कहना है कि यह ग्रंथ कवि के साहित्यिक जीवन के आदिकाल अनुमानतः सं० १६१९ (१५६२ ई०) की रचना है।

"इसमें रामचरितमानस की भाँति सात काण्ड हैं—(१) बालकांड, १९ छंद—राम-जानकी-छवि का वर्णन, धनुर्भंग, विवाह (आभास-मात्र); (२) अयोध्याकांड, ८ छंद—कैकेयी-कोप (अभासमात्र), राम-वन-गमन, निषाद-कथा, वाल्मीकि-प्रसंग; (३) अरण्यकांड, ६ छंद—शूर्पणखा-प्रसंग, कंचन-मृग-प्रसंग, सीता-विरह में राम अनुताप; (४) किष्किन्धाकांड, २ छंद—हनुमानजी का रामचन्द्रजी से पूछना कि आप कौन हैं (आभासमात्र); (५) सुन्दरकांड, ६ छन्द—जानकी का हनुमान से अपना विरह कहना, हनुमान का आकर रामचन्द्रजी से जानकी की दशा कहना; (६) लंकाकांड, १ छंद—सेना सहित राम-लक्ष्मण की युद्ध में शोभा; (७) उत्तरकांड, २७ छंद—चित्रकूट-वास-महिमा, नाम-स्मरण-महिमा।

प्रसिद्ध बरवै रामायण से यह जान पड़ता है कि इसे ग्रन्थ रूप में कवि ने नहीं बनाया था। समय-समय पर यथारुचि स्फुट बरवै बनाये थे। पीछे से चाहे स्वयम् कवि ने चाहे और किसी ने

रामचरितमानस के ढङ्ग पर कथा आभासमात्र लेकर कांड-क्रम से उन छन्दों का संग्रह किया।"[१] कुछ विद्वानों का विचार है कि उपलब्ध ग्रंथ अपूर्ण है। डा० ग्रियर्सन और पं० शिवलाल पाठक का विचार कुछ ऐसा है। पाठकजी का कहना है—("तुलसीदास का बरवै रामायण भारी ग्रन्थ है। आजकल जो प्रचलित बरवै रामायण है, वह बहुत ही थोड़ी और छिन्न-भिन्न है।") परन्तु सच तो यह है कि इस अपूर्णता का कारण सामग्री का लोप हो जाना नहीं, वरन् ग्रन्थ की स्फुटता है। जिस रूप में यह आज उपस्थित है, उसमें स्फुट वर्गों को प्रबन्ध के रूप में सजाकर रखा गया है। इसीलिए प्रोफेसर सद्गुरुशरण अवस्थी इसे "प्रबन्धाभास स्फुट-काव्य" कहते हैं।

बरवै ठेठ पूर्वी अवधी में है। उसमें तद्भव शब्दों की प्रधानता है और शैली भी अत्यन्त सुष्ठ नहीं है। इनमें कवि का दृष्टिकोण, विशेषकर पहले दो कांडों में अलंकारों का उदाहरण उपस्थित करना ही दिखलाई पड़ता है।[३] कूट लिखने का प्रयास किया गया है।[४] कवि

१—'तुलसी ग्रंथावली', प्रस्तावना

२—'तुलसी के चार दल' (पहला भाग), पृ० १२५

३—डहकु न है उजियरिया निसि नहि घाम।
जगत जरत अस लाग मोहिं बिनु राम॥ (निश्चयालङ्कार)
सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निस दिन यह बिगसाइ॥ (व्यतिरेक)
सिय तुव अङ्ग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौ चंपक होत॥ (मीलित तद्गुण)
चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सोहाई।
जानि परै सिय हियरै नव कुँभिलाई॥ (अमीलित तद्गुण)
गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँहि।
देखहु आपनि मूरति सिय के छाँहि॥ (प्रतीप)

४—वेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखहिं लखन के पास॥

की वह सौंदर्यवृत्ति जिसके दर्शन नहछू में होते हैं यहाँ भी मिलती है। राम-सीता की आँखों का वर्णन भी कवि का उद्देश्य जान पड़ता है, क्योंकि कई छन्द इस विषय में हैं। "बरवै रामायण का सबसे बड़ा गुण भाषा-प्रवाह है। उसमें कृत्रिमता का अभाव-सा है। उसका प्रमुख गुण प्रसाद है। शब्द-योजना, भाव-व्यंजना, और भाव-मन्त्रणा असाधारण है। यह एक कलात्मक ग्रंथ है। इसमें बहुत प्रकार के अलंकार व्यवहृत हैं, परन्तु एक स्थान (कूटवाले बरवै) को छोड़कर कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आई है। वे भावों और विचारों का ही उत्कर्ष करते हैं।"[१] रूप-वर्णन सीताजी का ही अधिक है। विरह-वर्णन, नाम-महिमा और अपनी हीनता के विषय में कवि की उक्तियाँ अत्यन्त सरस, भावपूर्ण और उत्कृष्ट हैं। वास्तव में ये छंद शृङ्गार और भक्ति-भाव के मेल के कारण तुलसी की रचना को बड़े सुन्दर रूप में उपस्थित करते हैं। इनमें कवि, भक्त और कलाकार का पूर्ण सामंजस्य है।

३—पार्वतीमङ्गल

पार्वतीमङ्गल में १६४ छन्दों में शिव-पार्वती-विवाह का कथानक है। इस पुस्तक का दृष्टिकोण धार्मिक है। कवि ने पुस्तक के अन्त में इसका उद्देश्य "विवाहके अवसर पर गान"[२] लिखा है। इसलिए लोक-रुचि और लोकाचार को ध्यान में रखकर ही इसकी रचना हुई है। इसमें शिवपार्वती-देवत्व अधिक प्रस्फुटित नहीं हुआ है परन्तु हैं वे इष्टदेव ही। मिश्रबन्धु पहले इस ग्रन्थ को तुलसी की रचना नहीं मानते थे[३] परन्तु उनके तर्क शिथिल थे। हिन्दी के अन्य

१—'तुलसी के चार दल', पृ० १२५

२—कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं।
तुलसी उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं॥

३—'हिंदी-नवरत्न' (दूसरा संस्करण) पृ० ३२

विद्वान् इसे तुलसी कृत ही मानते हैं। रचनाकाल के संबंध में मतभेद नहीं है। ग्रन्थ में ही रचनाकाल दिया हुआ है—

जय सम्बत फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउँ मंगल, सुनि सुख छिनु छिनु॥

तिथि फागुन सुदी ५ गुरुवार अश्विनी नक्षत्र है। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी के अनुसार जय सम्वत् १६४३ वि० सं० (१५८६ ई०) पड़ता है।

शिवपार्वती-विवाह-प्रसंग रामचरितमानस में भी है, अतः उससे इसकी तुलना करना अनुचित नहीं होगा। "कथानिर्वाह के क्रम, मध्यवर्ती घटनाओं के यथेष्ट सन्निवेश और वर्णन की पूर्णता आदि की ओर इस पुस्तक में इतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना रामचरितमानस में।"[१] मानस में शिवजी ने पार्वती की परीक्षा के लिए सप्तर्षि को भेजा है, यहाँ वे स्वयम् ही वटु के रूप में उपस्थित हुए हैं। "इसमें महादेवजी की बारात का तथा विवाह से पूर्व मैना द्वारा उनके परिछन के समय का हास्य-योग्य वर्णन रामायण जैसा नहीं है।"[२] वास्तव में पार्वतीमंगल पर कालिदास के कुमारसंभव का प्रभाव है, विशेषकर कथोपकथन में। वास्तव में रामचरितमानस और पार्वतीमंगल की कथा में भेद इतना है जितना संक्षेप में लिखने के कारण होना चाहिए था। कुमारसंभव में शिव वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाकर परीक्षा के लिए जाते हैं। परन्तु काव्य-प्रसंग और हास्य-विनोद के लिए गोस्वामी जी कालिदास के ऋणी नहीं हैं। हास्य-विनोद उनकी मौलिक कल्पना है। कालिदास ने शिव-पार्वती का घोर शृङ्गारिक वर्णन किया है जिसका तनिक भी पुट पार्वतीमङ्गल में नहीं है। "गोस्वामी जी के शिव और पार्वती देवता हैं और कालिदास के मनुष्य।"[३] कुमारसंभव के प्रकृति-वर्णन, सन्ध्या और

१—'तुलसी के चार दल', पृ० १६८
२—मिश्रबन्धु
३—'तुलसी के चार दल', पृ० १६१

रात्रि-वर्णन, रतिविलास, कामदेव का प्रलोभन आदि के चित्र पार्वती-मङ्गल में छू भर लिए गए हैं या उनका एकदम लोप है।

"भाषा आदि से अन्त तक पूर्वी अवधी है, केवल कहीं-कहीं ब्रजभाषा के एकाध कारक-चिन्ह दिखलाई पड़ते हैं।"[१] इसके वर्णन विशद, रसपूर्ण और मनोरंजक नहीं हैं। संक्षेप में कहने की शैली ने इस विषय में बाधा उपस्थित की है। अनेक सुन्दर घटनाओं (बारात-वर्णन, भय-वर्णन, काम-दहन-प्रसंग आदि) का कथनमात्र किया गया है। कथानिर्वाह और पात्रत्व विकास का भी अधिक ध्यान नहीं रखा गया है।"[२] विवाहों की मांगलिक क्रियाओं का विस्तृत वर्णन नहीं है,[३] परन्तु विवाह-संबंधी रीत-रिवाज और कन्या-सम्बन्धी माता-

---

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल (तु० ग्रं० प्रस्तावना, पृ० ६८)

२—'तुलसी के चार दल', पृ० २२०

३—लोक-वेद-विधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर।
कन्यादान संकलप कीन्ह धर्रान धर ॥
पूजे कुल गुरुदेव कलसु सिल सुभ घरी।
लखा होम-विधान बहुरि भाँवरि परी ॥
बंदन बंदि, ग्रंथि विधि करि, ध्रुव देखेउ।
या विवाह सब कहहि जनम फल पेखेउ ॥

४—दूलह दुलहिनि जे तब हास अवासहि।
रोकि द्वार मैना तब कौतुक कीन्हेउ ॥
करि लहकौरि गौरि हर बड़ सुख दीन्हेउ।
जुआ खेलावत गारि देहि गिरिनारिहि।
अपनी ओर निहारि प्रमोद पुरारिहि ॥
सखी सुवासिनि सासु पाउ सुख सब विधि।
जनवासहि बर चलेउ सकल मङ्गलनिधि ॥
परुसन लगे सुवार बिबुध जन सेवहि।
देहि गारि बरनारि मोद मन भेवहि ॥

पिता की चिन्ताओं को उपस्थित[१] करके कवि ने मौलिकता का प्रदर्शन किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास भारतीय जीवन में कितने गहरे पैठे हुए थे। कन्या[२] और माता-पिता के संबंध[३] के चित्र भी बड़े उत्कृष्ट हैं और भारतीयता की पूर्ण रूप से रक्षा करने में समर्थ हैं।

पार्वतीमङ्गल में मुख्यतः पार्वती का ही चरित्र-चित्रण है जिन्हें हम कन्या, निष्ठावान कुमारी, दृढ़व्रता तापसी और वधू के रूप में देखते हैं। अन्य चरित्र न पूर्ण हैं, न उनमें अन्य स्थानों की अपेक्षा कोई विशेषता है।

"पार्वतीमङ्गल का छन्द एक अत्यन्त सुबोध और प्रचलित छन्द है। इस छन्द को उन्होंने प्रचार की दृष्टि से ही चुना है। जानकी-मंगल के अतिरिक्त किसी भी अन्य बड़ी कृति में कदाचित् उन्होंने इस छन्द का उपयोग नहीं किया। विवाह के लिए यह छन्द बहुत उपयुक्त है।"[४]

१—उमा मातुमुख निरखि नयन जल मोचहिं।
"नारि जनमु जग जाय" सखी कहि सोचहि ॥१५६॥
सजि समाज गिरिराज दीन्ह सबु गिरजहि।
बदति जननि "जगदीस जुवति जिनि सिरजहि ॥२२५॥

२—कुँवरि लागि पितु कांध ठाढ़ि भइ सोहइ।
रूप न जाइ बखानि, जान जोइ जोहइ ॥

३—भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुँचावहि।
हुँकरि हुँकरि सुलवाइ धेनु जनु धावहि ॥१५८॥
पितु मातु पिय परिवार हरषहि निरखि पालहि लालहीं।
सितपाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्रभूषण भालहीं ॥
कुँवरि सयानि बिलोकि मातु पितु सोचहि ॥

४—'तुलसी के चार दल', पहला भाग, पृ० २०७

४—जानकीमंगल

"पार्वतीमङ्गल की भाँति यह भी एक खण्डकाव्य है। उपास्य का एक घटना-स्वरूप लेकर इस ग्रन्थ की रचना कर डाली गई है। इसमें १६२ मंगल छन्द और २४ साधारण छन्द हैं।"[१]

इस ग्रन्थ को सभी विद्वान् तुलसी की कृति मानते हैं। परन्तु रचना-काल के संबंध में मतभेद है। बाबू श्यामसुन्दरदास इसे पार्वती-मंगल और नहछू के साथ की जय सं० १६४२ (१५८५ ई०) की रचना मानते हैं।[२] पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"ग्रन्थ बनाने का समय नहीं दिया है, केवल 'सुभ दिन रच्यो स्वयम्बर मङ्गलदायक' लिख दिया है। परन्तु पार्वतीमङ्गल और यह दोनों एक ही समय के जान पड़ते हैं, क्योंकि दोनों का एक ही ढंग और एक ही छन्द है, यहाँ तक कि मङ्गलाचरण भी एक ही भाव का है, यथा—

विनइ गुरुहि, गुनगनहि, गिरिहि, गान गाथहिं। (पा० मं०)
गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति। (जा० मं०)
गावउँ गौरि गिरीस विवाह सुहावन। (पा० मं०)
सिय रघुबीर बिबाहु जथामति गावौं। (जा० मं०)

भाषा भी वही पूर्वी अवधी है।"[३] डा० माताप्रसाद गुप्त इसे पार्वती-मंगल के २२ वर्ष पहले सं० १६३१ (१५६४ ई०) की रचना मानते हैं।[४]

"इस ग्रन्थ में रामचरितमानस की कथा से कुछ भेद है जो नीचे दिया जाता है—" (१) इसमें फुलवारी-वर्णन न करके धनुष-यज्ञ का

१—'तुलसी के चार दल', पृ० २२४

२—'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० ८४, ८५

३—'तुलसी ग्रन्थावली', प्रस्तावना

४—'तुलसीसंदर्भ'

ही वर्णन आरम्भ हुआ है। सीता-राम का परस्पर संदर्शन भी इसमें धनुष-यज्ञ के समय लिखा गया है।

"(२) रामायण में जनक के धिक्कारने पर लक्ष्मण का कोप और तब विश्वामित्र की आज्ञा पर रामचन्द्र का धनुष तोड़ना लिखा गया है। इसमें सब राजाओं के हारने पर विश्वामित्र ने जनक से कहा है कि रामचन्द्र से कहो। इस पर जनक ने इनकी सुकुमारता देख सन्देह प्रकट किया। तब मुनि ने इनकी महिमा कही फिर जनक के कहने पर राम ने धनुष तोड़ा।

"(३) इसका १८वाँ और रामामण के ३५७वें दोहे का छन्द एक ही है, कुछ अदल-बदल मात्र है। ऐसे ही उसका अन्तिम २४वाँ छन्द और रामायण बालकांड का अन्तिम ३६५वें दोहे का छन्द है जिसमें एक-एक पद तो एक ही है।

"(४) रामायण में विवाह के पहले परशुराम आये हैं, इसमें विवाह बिदाई के पीछे, जैसा कि वाल्मीकि रामायण में है।

"पार्वतीमंगल और जानकीमंगल दोनों में तुलसी की वाक्य-रचना का वह गौरव विशेष दिखाई पड़ता है जो उन्हें हिन्दी के और कवियों से अलग करके रखता है। इतने छोटे छन्द में शब्द-विन्यास ऐसा गठा हुआ है कि शैथिल्य का नाम नहीं। एक शब्द भी ऐसा नहीं जो फालतू हो, प्रस्तुत भाव-व्यंजना में जिसका प्रयोजन न हो, जो केवल छन्द-पूर्ति के लिए रखा जान पड़ता हो।"[१]

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी वाल्मीकि रामायण और रामचरित-मानस के अन्तर्गत रामविवाह और जानकीमंगल की विवाह-कथा की तुलना करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—"इन तीनों कथाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि काव्य की दृष्टि से गोस्वामी जी ने रामचरितमानस में जिन प्रसंगों का समावेश किया है, उनका

१—'तुलसी-ग्रंथावली', प्रस्तावना

जानकीमंगल में बहिष्कार किया गया है। उसमें परशुरामजी धनुष-भंग के बाद नहीं आते, वरन् बारात के लौटते समय मिलते हैं। यही क्रम वाल्मीकि में भी है। जानकीमंगल में भी वाल्मीकि की भाँति, फुलवारी की योजना नहीं है। परन्तु चरित्र-चित्रण गोस्वामी जी का निजी है। उनके उपास्यदेव के सम्पर्क में जो आता है, वह गोस्वामीजी की ही भाँति भक्ति करता हुआ दिखाई देता है—

रामहिं भाइन्ह सहित जबहिं मुनि जोहेउ।
नैन नीर तनु पुलक रूप मन मोहेउ॥

विश्वामित्र का स्वरूप वाल्मीकि में नहीं है। रामचन्द्रजी के बालरूप के वात्सल्य रसवाले क्रियाकलाप जैसे जानकीमंगल में हैं वैसे अन्यत्र नहीं हैं। "महि महि धरनि लषन कह बलहि बढ़ावन" अथवा "दिसि कुञ्जरहु कमठ अहिकोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला।" आदि के सदृश प्रसंग वाल्मीकि में नहीं है, और न,

सिय भ्राता के समय भौम तहँ आयउ।
दुरी दुरा करि नेगु सुनात जनायउ॥

की भाँति भौम के आने का प्रसंग ही उसमें है. कदाचित् मानस में भी यह प्रसंग नहीं है। इसके सिवा और भी कुछ रस्मों का वर्णन जानकीमंगल में है, परन्तु वाल्मीकि रामायण में नहीं है। जानकी-मंगल में समसामयिक प्रभाव काफ़ी है।

राम के चरित्र-चित्रण में तो वाल्मीकि और गोस्वामी तुलसीदास दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। गोस्वामी जी अपने उपास्य को गुरु से पहले जगा देते हैं—

"गुरु से पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान" और वाल्मीकि कहते हैं—

कौशल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्य देवमहिकम्॥

वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र भक्त के रूप में अयोध्या नहीं जाते। ताड़का इतनी शीघ्रता से मुक्त नहीं होती। इसी प्रसंग में बाल-कांड रामायण का विश्वामित्र-वर्णन यद्यपि वास्तव में है तो प्रशंसा के लिए, परन्तु वशिष्ठ-संवर्ग के कारण उसमें भद्दापन आ गया है और कुछ अप्रासंगिक-सा जँचता है। गोस्वामी जी ने उसे बिलकुल उड़ा दिया है। रामचरितमानस की अहिल्या पत्थर के रूप में सामने नहीं आती कि रामचन्द्रजी चरणों से स्पर्श करें। वहाँ तो राम स्वयम् उसके चरणों को स्पर्श करते हैं। राजाओं का सेना लाकर झगड़ना भी मानस में नहीं है। मानस की "वीर विहीन मही मैं जानी" और "जो तुम्हार अनुशासन पाऊँ" ये उक्तियाँ वाल्मीकि रामायण में नहीं हैं और न उसमें दशरथ प्रतिदिन जनक से बारात विदा करने के लिए आग्रह ही करते हैं। लक्ष्मण और परशुराम का ओजस्वी संवाद भी मानस के रचयिता की उपज है।

पाठ-पुस्तक होने के कारण जानकीमङ्गल एक ओर कथाविन्यास में तो वाल्मीकि रामायण का अनुसरण करती है और दूसरी ओर भक्ति-भाव में मानस का आदर्श भी सामने रखती है।"[1]

५ — वैराग्यसंदीपिनी

बाबा बेणीमाधवदास सं० १६६९ की रचना मानते हैं। परन्तु अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। बाबू श्यामसुंदरदास और डा० पीताम्बर-दत्त बड़थ्वाल उसका रचना-काल सं० १६३८-१६३९ के बीच का मानते हैं। उनका कहना है कि उसकी रचना विनयपत्रिका के साथ-साथ हुई जो विषय और शैली को देखते हुए असम्भव जान पड़ता है। पं० राम-नरेश त्रिपाठी के अनुसार यह तुलसी की पहली रचना है जिसका समय सं० १६१५ है। डा० माताप्रसाद गुप्त के मत में इसकी रचना सं० १६३५ लगभग ज्ञात होती है।

१—'तुलसी के चार दल', पृ० २४७—२४९

इस ग्रन्थ में चौपाई, दोहे और सोरठे का प्रयोग हुआ है। विषय ज्ञान-सम्पादन है। "यह ग्रन्थ चार भागों में विभाजित है—

१—मंगलाचरण और वस्तुसंकेत—७ छन्दों में

२—संत-स्वभाव-वर्णन—२६ छन्दों में

३—संत-महिमा-वर्णन—६ छन्दों में

४—शांति वर्णन—२० छन्दों में"[1]

इसमें संत-साहित्य के कितने ही पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, अतः यह स्पष्ट है कि लेखक पर संतमत का प्रभाव है।

काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण नहीं है। परन्तु यह स्पष्ट है कि यह संग्रह नहीं है, पूर्ण रचना है, क्योंकि इसमें मंगलाचरण और उसके बाद वस्तुसंकेत मिलते हैं।

६—रामाज्ञा-प्रश्न

बाबा बेणीमाधवदास ने इसका रचना-काल सं० १६६९ माना है। डा० ग्रियर्सन ने लगभग सं० १६५५ की एक प्रति का उल्लेख किया है, परन्तु पं० सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि इसे रचना-तिथि न होकर प्रतिलिपि तिथि ही मानना उचित है। पं० रामनरेश त्रिपाठी रामाज्ञा-प्रश्न का रचनाकाल सं० १६२० के लगभग और डा० माताप्रसाद गुप्त सं० १६२३ के लगभग मानते हैं।

रामाज्ञा-प्रश्न की रामकथा का आधार वाल्मीकि रामायण है इसमें कई कथाएँ मानस की कथा के अतिरिक्त हैं—श्रवण-कुमार की कथा, सीता-त्याग, लवकुश-जन्म, वाल्मीकि द्वारा लवकुश की रामायण-शिक्षा और उनका अयोध्या की सभा में रामायण-गान और सीता का अग्नि-प्रवेश। प्रमुख कथाभेद ये हैं—सतानन्द का दशरथ को सीता-स्वयम्बर-समाचार देने आना, विवाह के बाद मार्ग में परशुराम भेंट, हनुमान-रावण-संवाद और अंगद-रावण-

१—डा० रामकुमार वर्मा ('हिं० सा० आ० इ०')

२—'हिं० सा० आ० इ०', पृष्ठ ४०७

संवाद का लोप। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कथाएँ भी नहीं हैं। जैसे, फुलवारी-वर्णन, लक्ष्मण-दर्प, हनुमान-रावण-भेंट, लक्ष्मण-मूर्छा आदि। स्वयम्बर की कथा दो स्थानों पर कही गई है, परन्तु क्रम भिन्न हैं।

रामकथा कुछ इस ढंग से कही गई है कि उससे शकुन निकालने का काम भी चल जाता है। प्रत्येक दोहे से शुभ या अशुभ संकेत निकलता है। तुलसी के अन्य ग्रन्थों की तरह इसकी कथावस्तु भी कांडों (सर्गों) में विभाजित है, परन्तु आश्चर्य यह है कि बालकांड की कथा दो सर्गों में मिलती है। प्रथम सर्ग की बालकांड की कथा के बाद फिर चतुर्थ सर्ग में हमें उस कथा के दर्शन होते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने कथा की इस पुनरुक्ति का कारण इस प्रकार दिया है—"चतुर्थ सर्ग में पुनः बालकांड लिखने के कारण यद्यपि कथा के क्रम में अवरोध होता है तथापि कवि को ऐसा करना इसलिए जान पड़ा क्योंकि मध्य में भी शकुन का मङ्गलमय और आनन्दमय रूप रखना था। इसके लिए उन्हें मगंलमय घटना की आवश्यकता थी। राम की कथा में बालकांड के बाद की कथा दुःखद है, अतः सुखद घटना के लिए उन्हें फिर बालकांड की कथा चतुर्थ सर्ग में लिखनी पड़ी।"[1]

यह स्पष्ट है कि कथा का रूप अव्यवस्थित और उसमें प्रबन्ध-रचना की ओर ध्यान नहीं दिया गया। भाषा अवधी और ब्रजभाषा मिश्रित है, परन्तु अवधी की ओर अधिक झुकती है। काव्य-सौन्दर्य और रसोद्रेक की दृष्टि से रामाज्ञा-प्रश्न महत्त्व-पूर्ण नहीं है।

७—सतसई

सतसई का रचनाकाल सं० १६४२ ग्रन्थ में ही दिया हुआ है। इससे तुलसी के काव्य के संबंध में एक नई बात का पता चलता है।

१—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृष्ठ ४०७।

यह नवीनता है कूटरचना । मध्ययुग में कूट लिखने का बड़ा चलन था; विद्यापति और सूर ने दृष्टकूट लिखकर जनता का मनोरंजन किया है। तुलसी ने ऐसा क्यों किया यह विचारणीय है। कदाचित् वे इसकी रचना के समय तक लोकोन्मुख ही थे, पूर्णतः रामोन्मुख नहीं।

सतसई में सात सर्ग हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

१—प्रथम सर्ग	११० दोहे	भक्ति
२—द्वितीय सर्ग	१०३ ,,	उपासना
३—तृतीय सर्ग	१०१ ,,	रामभजन
४—चतुर्थ सर्ग	१०४ ,,	आत्मबोध
५—पंचम सर्ग	९९ ,,	कर्म-मीमांसा
६—षष्ठ सर्ग	१०१ ,,	ज्ञान-मीमांसा
७—सप्तम सर्ग	१२९ ,,	राजनीति के सिद्धान्त

तृतीय सर्ग में कूट है। रामनाम और उसके प्रभाव को अनेक प्रकार के कूट-कौशल से प्रकाशित किया गया है।

भाषा और कवित्त की दृष्टि से यह पुस्तक तुलसी की रचनाओं में मध्यम श्रेणी में है, उसमें कवि का ध्यान कला पर अधिक है। यद्यपि अनेक स्थानों पर हमें ऐसी उक्तियाँ भी मिलती हैं जिनमें उच्चकोटि का अनुभव और निरीक्षण सन्निहित है।

८—गीतावली

गीतावली में पदों में रामकथा कही गई है। ये पद स्फुट हैं और इनकी संख्या ३२८ है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है और पदों पर कृष्ण-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। कथा कांडों में विभाजित है, परन्तु कितनी अनुपातहीन और विच्छृङ्खल है यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि किष्किंधाकांड में केवल दो पद हैं। तुलसी के बाल-वर्णन, संयोग-वियोग, वात्सल्य और राम के मध्यरूप के अध्ययन के लिए यह ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण है। तुलसी के किसी भी अन्य ग्रंथ में

माताओं का ऐसा सुन्दर और सांगोपांग चित्रण नहीं हुआ। जैसा गीतावली में। गीति-काव्य की दृष्टि से यह कृष्ण-गीतावली के समकक्ष रखी जा सकती है, यद्यपि विनयपत्रिका के गीत इससे अधिक प्रौढ़ और अधिक उत्कृष्ट हैं। विनयपत्रिका पर प्रबन्ध का प्रतिबन्ध नहीं है, और उसका प्रधान विषय कवि की आत्माभिव्यक्ति है, अतः वह अधिक सुन्दर बन पड़ी है।

कथा की दृष्टि से गीतावली की रचना वाल्मीकि के आधार पर हुई है। कथा सात कांडों में विभक्त है। उसका रूप अधिक सुव्यवस्थित नहीं है। मानस की अनेक घटनात्मक कथाएँ (खरदूषण-वध आदि) गीतावली में नहीं हैं और कुछ अत्यन्त सुन्दर मनोवैज्ञानिक स्थलों (लक्ष्मण-परशुराम-संवाद और कैकेयी-वर-याचना) का भी अभाव है। उनकी पूर्ति नये प्रसंगों से की जाती है, जैसे हनुमान का संजीवन लेकर लौटते हुए अयोध्या पर से जाना और भरत के वाण से नीचे गिरना, माताओं की विरह दशा का वर्णन, सुमित्रा का वीररस पूर्ण चित्र आदि।

गीतावली की रचना सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों की माधुर्य-प्रधान गीत-शैली पर है और उन्हीं के समान सरस और मनोहर है। भाषा की स्वाभाविक स्वच्छता की विशेषता ऊपर से है। कोमल और करुण वृत्तियों की व्यंजना अत्यन्त हृदयग्राहिणी है। आदि में बाल-लीला और अन्त में राम-राज्य की सुख-समृद्धि, क्रीड़ा और विहार का विस्तार इसमें अधिक किया गया है।" उत्तरकांड की हिंडोला और होली लीलाएँ कृष्ण-लीला के ही समान हैं, यद्यपि उनके विकास में राम का ऐश्वर्य-चित्रण स्थान-स्थान पर बाधक होता है। एक आश्चर्य की बात यह भी है कि बाल-लीला के कितने ही पद ऐसे ही जो लगभग अक्षरशः सूरसागर में मिलते हैं। ये पद निश्चय ही सूर के हैं, तुलसी की गीतावली में कैसे पहुँच गए, यह खोज का विषय है।

बाबा बेणीमाधवदास गीतावली का रचनाकाल सं० १६१६ और

१६२८ के बीच में, डा० माताप्रसाद गुप्त सं० १६४४ और १६४८ के बीच में तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी सं० १६१५-१६२० तक मानते हैं।

९—श्रीकृष्ण-गीतावली

इसका विषय श्रीकृष्ण-चरित्र है और भाषा ब्रजभाषा है। यह ग्रन्थ पदों में है और इसका रूप मुक्तक है जिसे कृष्ण-कथा के प्रसंगों के अनुसार रख दिया गया है। पदों की संख्या ६१ है।

श्रीकृष्ण-गीतावली से तुलसी की सहिष्णुता पर प्रकाश पड़ता है। राम के अनन्य भक्त होते हुए भी उन्होंने कृष्ण-चरित्र को भी अपना विषय बनाया है, यह उनकी व्यापक धर्म-भावना का ही प्रमाण है। दूसरे उन्होंने कृष्ण-कथा से केवल कुछ प्रसंग चुन लिये हैं। यह प्रसंग हैं—बाल-लीला-वर्णन, गोपी-उपालम्भ, ऊखल-बन्धन, इन्द्रकोप और गोवर्धन-धारण, कृष्ण के मथुरागमन पर गोपियों का विरह, उद्धव-प्रसंग और भ्रमरगीत, द्रौपदी-चीरहरण इस चुनाव में तुलसी ने किशोर कृष्ण की चीर-हरण आदि लीलाओं एवं गोपियों और राधा के संयोग शृंगार (वेणुवादन, रास, होली आदि) और उत्तर कथा को एकदम छोड़ दिया है। द्रौपदी-चीरहरण प्रसंग कृष्ण-कवियों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु इस गीतावली में उसे स्थान मिला है। सारे पदों में राधा का नाम एक बार भी नहीं आया है। यह स्पष्ट है कि तुलसी की मर्यादा-भावना और उनके नैतिक दृष्टिकोण ने प्रसंगों के चुनाव पर प्रभाव डाला है। यह भी स्पष्ट है कि कृष्ण-कथा को क्रमबद्ध रूप से उपस्थित करने की चेष्टा नहीं की गई। कथा को कृष्ण-जन्म से आरम्भ नहीं किया है, यह भी मौलिकता है। इस रचना पर उस समय की साहित्य-भाषा ब्रजभाषा और सूरदास का प्रभाव साफ़ दिखलाई देता है।

बेणीमाधवदास इसका रचना-काल सं० १६२८ के लगभग मानते हैं, डा० माताप्रसाद गुप्त सं० १६४६-५० के लगभग और पं० रामनरेश त्रिपाठी सं० १६२८ और ३० के बीच में।

तुलसी के बाल-वर्णन और विप्रलंभ शृंगार-चित्रण के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ नवीन सामग्री उपस्थित करता है। इन दोनों क्षेत्रों में तुलसीदास सूरदास से होड़ करते हैं, परन्तु उन तक पहुँच नहीं पाते। तुलसी ने बाल-वर्णन में अनेक नवीन उद्भावनाएँ की हैं, परंतु उनका उद्गम हृदय नहीं है, मस्तिष्क है। सूरदास के विप्रलंभ शृङ्गार में जितने संचारी भाव आये हैं उतने तुलसीदास के विप्रलम्भ शृङ्गार में नहीं आये, और न उनका उतना सुन्दर चित्रण ही हो सका।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कृष्ण-गीतावली में बाल-स्वभाव का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। उसमें कल्पना और निरीक्षण का अच्छा मिश्रण है। यद्यपि तुलसीदास सूरदास से प्रभावित हैं, तथापि उन्होंने अनेक प्रकार की नई उद्भावनाएँ की हैं और अपनी मौलिकता का परिचय दिया है—

(१) संवाद की सुन्दर योजना करके और अत्यन्त स्वाभाविक लाड़-प्यार की भाषा का प्रयोग कर—

'छोटी मोटी मीसी रोटी, चिकनी चुपरि कै तू दे री मैया।'
'लै कन्हैया' 'सो कब ?' 'अबहिं तात',
'सिगरियै हौं हीं खैहौं, बलदाऊ को न देहौं।'
सो क्यौं भट्ट तेरो कहा कहि इत उत जात।
बाल बोलि डहकि विरावत, चरित लखि,
गोपीगन महरि मुदित पुलकित गात।
नूपुर की धुनि किंकिन के कलरव सुनि,
कूदि कूदि किलकि किलकि ठाढ़े ठाढ़े खात।

(२) नये प्रसंगों की सृष्टि करके—

छाँड़ो मेरे ललित ललन लरिकाई।
ऐसे हैं सुत देखुवार कालि तेरे, बबै ब्याह की बात चलाई।
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि, हँसिहैं नई दुलहिया सुहाई।
उबटौं न्हाहु, गुहौं चोटिया, बलि देखि भलो बर करिहिं बड़ाई॥

मातु कह्यो करि कहत बोलि दै, भई बड़ि बार कालि तौ न आई।
जब सोइबो तात यों हाँकहि, नयन मीचि रहे पौढ़ि कन्हाई ॥
उठि कह्यो भोर भयो झँगुली दै, मुदित महरि लखि आतुरताई।
बिहँसी ग्वालि जानि तुलसी प्रभु, सकुचि लगे जननी उर धाई ॥

उलाहना के पदों में तुलसी सूर के क्षेत्र में काम कर रहे हैं, परन्तु अपने मनोवैज्ञानिक अध्ययन और नारी-स्वभाव के ज्ञान के कारण वे यहाँ भी नये रूप में आते हैं, जैसे इस उलाहना के पद में—

तोहिं स्याम की सपथ जसोदा आइ देखु गृह मेरे।
जैसी हाल करी यह ढोटा छोटे निपट अनेरे ॥
गोरस हानि सहौं न कहौं कछु यहि ब्रजबास बसेरे।
दिन प्रति भाजन कौन बेसा है? घर निधि काहू के रे ॥
किए निहारीं हँसत, खिझे तें डाटत नयन तरेरे।
अबहीं तें ये सिखे कहाधौं चरित ललित सुत तेरे ॥
बैठो सकुचि सालु भयो चाहत मातु बदन तन हेरे।
तुलसिदास प्रभु कहौं ते बातैं ने कहि भजे सबेरे ॥

१०—दोहावली

दोहावली में २५३ दोहे हैं। इनमें से ८५ मानस में, ३५ रामाज्ञा-प्रश्न में, ७ वैराग्यसंदीपिनी में और १३२ सतसई में मिलते हैं। शेष दोहे पहली बार सामने आते हैं, अतः दोहावली संग्रह-ग्रन्थ है। संग्रह करते समय अन्य पुस्तकों से दोहे चुन लिये गये हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है कि इस ग्रन्थ में जीवनान्त तक के दोहे मिलते हैं, अतः इसका संग्रह तुलसीदास की मृत्यु के बाद हुआ। पं० रामनरेश त्रिपाठी इसका समय सं० १६१०—१६७१ तक मानते हैं। दोनों अवस्थाओं में ग्रन्थ के किसी भाग को कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती। इसमें तुलसी के उत्तर जीवन की विभिन्न समय की रचनाएँ हैं, क्योंकि एक दोहे में रुद्रबीसी (१६०८ ई०—१६२८ ई०) की दशा का

वर्णन है,[१] कुछ में बाहुपीर का उल्लेख है जिससे तुलसी अपने अंतिम दिनों में पीड़ित थे।

११--कवितावली

कवितावली को बाबा वेणीमाधवदास सं० १६२८ की रचना मानते हैं, परन्तु उनमें कई छन्द ऐसे हैं जो महामारी आदि बात की ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना देते हैं और कवि के अन्तिम समय की रचनाएँ हैं, अतः उनका मत ठीक नही जान पड़ता। डा० माताप्रसाद गुप्त का विचार है कि कवितावली के स्फुट छन्दों की रचना एक विस्तृत समय के भीतर हुई है और उसका संग्रह तुलसी ने किया या अन्य किसी ने, यह अनिश्चित है। पं० रामनरेश त्रिपाठी का मत है कि तुलसी ने अपनी छात्रावस्था में ही (सं० १६१० के लगभग) इसकी रचना आरम्भ कर दी थी और उसका क्रम अन्त समय तक (सं० १६८०) चलता रहा।

कवितावली दो प्रकार से महत्त्वपूर्ण है। पहली बात यह है कि उससे हमें तुलसी के जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

(१) १९८ कवित्त से जान पड़ता है कि माता-पिता बचपन ही में मर गये थे या उन्होंने उन्हें छोड़ दिया था। (माता-पिता जग जाइ तज्यो विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई) इसका प्रमाण रामायण में भी मिलता है कि बचपन ही से गुरु के साथ ये घूमते थे। (मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत। समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।)

१—अपनी बीसो आपुही पुरिहि लगाए नाथ।
केहि बिधि बिनती बिश्व की, करौं, बिश्व के नाथ ॥२४०॥

२—भुज-रुज कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रवेस।
बिहगराज बाहन तुरत काढ़िइ मिटइ कलेस।
बाहु बिटप सुख बिहंग थलु लगी कुपीर कुआगि।
रामकृपा जल सींचिए बेगि दीन हित लागि ॥२३६॥

(२) २०३ घनाक्षरी से जान पड़ता है कि पहले उनका कुछ मान नहीं था, पर पीछे पंचों में बड़ा मान हुआ—(छार तें सँवार कै पहार हूँ तें भारी कियो गारो भयो पंच में पुनीत पच्छ पाइ कै।)

(३) २१४, २१५ कवित्त में स्पष्ट लिखा है कि मेरा जन्म मंगन के घर में हुआ और सभी जाति के टुकड़े खाकर मैं पला, पर रामनाम महात्म्य से मेरा मान मुनियों का सा है—(जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस खाये टूक सबके बिदित बात दूनी सो ॥२१४॥ जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को। बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन जानत हो चारिफल चारि ही चनक को ॥२१५॥)

(४) ३०७ कवित्त से यह स्पष्ट है कि उस समय के पंडितों ने तुलसी के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा (देवसरि सेवों बामदेव गाँव रावरेई नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं। दीबे जोग तुलसी ने लेत काहू को कछु लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं। एते पर हू कोऊ रावरो है जोर करै ताको जोर देवे दीन द्वारे गुदरत हौं।)

(५) उत्तरकांड १६६-१६८ में किसी विषम वेदना, कदाचित् बाहुपीड़ा का वर्णन है—(अबिभूत बेदना विषम होत भूतनाथ, तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं ॥१६६॥ मारिए तौ माँगी मीचु सुधियै कहतु हौं ॥१६७॥)

(६) उत्तरकांड १८० में प्रयाण समय के क्षेमकरी दर्शन का कथन है—(पेखि सप्रेम पयान समय सब सोच बिमोचन छेमकरी है।)

दूसरी बात यह है कि कवितावली के कितने ही पदों से सामयिक घटनाओं के संबंध में सूचना मिलती है।

(१) उत्तरकांड १६९-१७२ तक काशी की दुर्दशा और रुद्रबीसी का वर्णन है। यह समय सं० १६५५ से १६८५ के भीतर का है।

क्योंकि इस समय १७० कवित्त के अनुसार रुद्रबीसी थी। (बीसी बिस्वनाथ की बिषाद बड़ो बारानसी, बूझिए न ऐसी गति शंकर सहर की)। सं० १६५५ के लगभग से काशी में मुसलमानों का विशेष उपद्रव मचा था और इसी के पीछे यहाँ महामारी भी फूटी थी।

(२) उत्तरकांड १७३-१७६ तक काशी की महामारी का वर्णन है—(रोष महामारी परितोष महतारी दूनी, देखिये दुखारी मुनि-मानसी-मरालि के ॥१७३॥ संकर सहर सर नरनारि बारिचर, बिकल सकल महामारी माँजा भई है। उछरत उतरात हहरात मरि जात, भभरि भगत जल थल मिचुमई है ॥१७६॥)

(३) उत्तरकांड १७७-१७८ तक मीन की मनीचरी का उल्लेख है—(एक तो कराल कलिकाल सूल-मूल तामें, कोढ़ में की खाजु-सी सनीचरी है मीन की ॥१७७॥) मीन की सनीचरी से ग्रहों की उस स्थिति का तात्पर्य है जब शनि मीन राशि पर आ जाता है। यह योग सं० १६६९ के आरम्भ से १६७१ के मध्य तक पड़ा था।

(४) उत्तरकाण्ड १८३ में महामारी की शान्ति का उल्लेख है—(तुलसी सभीत-पाल सुमिरे कृपालु राम, समय सुकरुना सराहि सनकार दी।)

१२—बाहुक

बाहुक कवि के अन्तिमकाल (सं० १६८०) की रचना है। तुलसी के अन्तिम समय की धार्मिक भावना और उनकी मनःस्थिति पर इस रचना से महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। यह रचना तुलसी की प्रौढ़तम रचनाओं के साथ रखी जा सकती है, अतः तुलसी अन्त समय तक समस्त मानसिक शक्तियों के स्वामी रहे, यद्यपि उनका अध्यात्मभाव डिगता दीखता है। बाहुक में उस वात-विकार का वर्णन है जिसका आरम्भ रूप कवितावली की बाहु-पीड़ा थी।

१३—विनयपत्रिका

सं० १६६६ (१६०६ ई०) की विनयपत्रिका की पोथी में १७६ पद हैं। नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित तुलसी-ग्रन्थावली की विनय-पत्रिका में २७६ पद हैं । इस उपलब्ध प्राचीन प्रति में छः पद ऐसे हैं जो विनयपत्रिका में नहीं हैं। इनमें से पाँच पद गीतावली में मिले हैं। इस प्रति का नाम विनयपत्रिका न देकर 'विनयावली' दिया गया है। इसके पदों का क्रम भी दूसरी प्रतियों से भिन्न है। इस प्रति ने विनयपत्रिका के संबंध में कुछ उलझन उपस्थित कर दी है। जो पद प्राचीन प्रति में हैं और आज गीतावली में मिलते हैं उनके संबंध में क्या कहा जाय ? डा० माताप्रसाद गुप्त का अनुमान है कि ये पद पहले विनयपत्रिका की सम्पत्ति थे और विनयपत्रिका को उसका प्रस्तुत रूप देने के लिए वे उस संस्करण में से निकाल कर गीतावली में रख दिये गये हैं। श्री विजयानन्द त्रिपाठी का अनुमान है कि लसीदास ने कृष्ण-गीतावली के जोड़ की एक राम-गीतावली भी अलग लिखी थी और विनयावली एक अलग ही पुस्तक थी। पीछे से स्वयं तुलसीदास ने या अन्य किसी ने दोनों को एक कर दिया और उसका नाम विनयपत्रिका रख दिया क्योंकि तुलसीदास के एक पद में यह शब्द आया है जो अधिक सार्थक है—

विनयपत्रिका दीन की बापु आपुहि बाँचो।

जो हो, इस प्राचीन प्रति ने तुलसी की रचनाओं पर एक नया प्रकाश डाला है। अभी हमें यह पता लगाना है कि स्वयम् तुलसी ने कितने ग्रन्थों का सम्पादन किया और अन्य व्यक्तियों ने कितने ग्रन्थों का। आज हमें उनके जो नाम प्राप्त हैं उनके विषय में भी हम निश्चित रूप में यह नहीं कह सकते कि ये तुलसी के ही दिये नाम हैं।

विनयपत्रिका को तुलसी की लगभग प्रौढ़तम रचना मानने में किसी को भी सन्देह नहीं। सभी इसे तुलसी की प्रौढ़ावस्था अथवा

वृद्धावस्था की रचना मानते हैं, परन्तु समय के संबंध में मतभेद है। बाबा वेणीमाधवदास ने इसे संवत् १६२६ (१५८२ ई०) की रचना माना है। डा० माताप्रसाद गुप्त इसका रचनाकाल सं० १६५६ (१५९९ ई०) से १६६९ (१६१२ ई०) तक मानते हैं। प० रामनरेश त्रिपाठी के मत में सं० १६४५ (१५८८ ई०) से विनयपत्रिका आरम्भ हुई और सं० १६६८ (१६११ ई०) तक उसके पद रचे जाते रहे। उसकी समाप्ति तक तुलसीदास जीवन के अन्तिम छोर तक पहुँच रहे थे।

विनयपत्रिका में तीन शैलियों का प्रयोग हुआ है—(१) स्त्रोत-शैली। (२) पद-शैली। (३) कवित्त आदि छन्द-शैली। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण पद-शैली है। विनयपत्रिका का महत्त्व कई प्रकार से है—

१—वह कवि की प्रौढ़तम रचना है। उसकी शैली कवितावली के कुछ छन्दों को छोड़कर तुलसी के सभी ग्रन्थों की शैली से अधिक पुष्ट है। भाव-व्यंजना में इतनी तीव्रता है कि कवि को एक से अधिक भाषा का सहारा लेना पड़ता है।

२—वह हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गीति-साहित्य की कोटि में रखा जा सकता है। विनय-भावना के इतने सुन्दर पद तो सूर-साहित्य में भी नही मिलेंगे। तन्मयता, आत्म-विस्मृति, भाव-संगठन, और गीतात्मकता गीति-काव्य के प्रधान गुण हैं और तुलसी के इस ग्रन्थ में ये सब प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

३—तुलसी की भक्ति को समझने के लिए इस ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति महत्त्वपूर्ण है।

४—तुलसी के आध्यात्मिक विचारों के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ एक प्रकार से नई सामग्री उपस्थित करता है। यह आवश्यक है कि इस सामग्री को रामचरितमानस की सामग्री के साथ रक्खा जाय। इसी सामग्री के आधार पर तुलसी के जीवन-निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं।

५—कुछ सामग्री कवि के लौकिक जीवन से सम्बन्ध रखती है, यद्यपि अधिकांश वृद्ध कवि के अन्तर्जगत का चित्र है।

तुलसी के स्तोत्र साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उसमें भक्त कवि ने संस्कृत स्तोत्रों का अनुकरण किया है। इनमें से अधिकांश संस्कृत-गर्भित हैं और साधारण हिन्दी पाठक के लिए क्लिष्ट हैं। इनमें अनेक देवी-देवताओं की लीलाओं का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है और एक ही प्रकार की बात की बार-बार पुनरावृत्ति हुई है। शंकर के प्रति एक स्तोत्र इस प्रकार है—

देव ! मोहतम तरनि हर रुद्र संकरसरण,
हरन भयसोक लोकाभिरामं।
बाल-ससि-भाल सुविसाल-लोचन-कमल,
काम-सतकोटि-लावण्यधामं ॥
कंबु-कुंदेंदु-कर्पूर-विग्रह-रुचिर,
तरुण रवि कोटि तनु तेज भ्राजै।
भस्मसर्वांग अर्द्धांग सैलात्मजा,
व्यालनृकपालमाला विराजै ॥
मौलिसंकुलजटामुकुट विद्युतछटा,
तटिनिवरवारि हरिचरनपूतं।
श्रवणकुंडल, गरलकंठ करुणाकंद,
सच्चिदानन्द वंदेऽवधूतं ॥

× × ×

नष्टमति दुष्ट अति, कष्टरत खेदगत,
दास तुलसी संभु सरण आया।
देहि कामारि श्रीरामपदपंकजे
भक्तिमनवरत गतभेदमाया ॥

इन स्तोत्रों में गणेश[१], शंकर[२], पार्वती[३], गंगा[४], हनुमान[५], भैरव[६], लक्ष्मण[७], भरत[८], शत्रुघ्न[९], कालिका की स्तुति करके कवि ने उनसे यह प्रार्थना की है कि श्रीराम-चरण में मुझे भक्ति हो। इनके अतिरिक्त बिन्दुमाधव के प्रति एक स्तोत्र[१०] है और एक अन्य स्तोत्र में विष्णु और शिव की सम्मिलित उपासना की गई है[११]। इन स्तोत्रों से तुलसी की भक्ति-भावना संबंधी एक बात पर विशेष प्रकाश पड़ता है। तुलसी ने अनेक देवताओं आदि से प्रार्थना की है, परन्तु उनकी भक्ति अनन्य कोटि की ही है। सब देवता राम के निमित्त ही उपास्य हैं, तुलसी के लिए उनका स्वतंत्र रूप से कोई उपयोग नहीं।

विनयपत्रिका के पदों से तुलसीदास की दैन्यपूर्ण विनय-भक्ति पर विशेष प्रकाश पड़ता है। विनय-भक्ति के छः अंग माने गये हैं—(क) प्रपत्ति अथवा अनुकूल होने का संकल्प—दास्य भाव; (ख) प्रतिकूलस्यवर्जनम्—भगवदेच्छा के प्रतिकूल कुछ न करूँगा—ऐसा भाव; (ग) रक्षिष्यतीति विश्वासः—भगवान् की रक्षा में विश्वास; (घ) गोप्तृत्वावर्णनम्—भगवान् को मुक्तिदाता और भक्तवत्सल जानना; (ङ) आत्मनिक्षेप—समर्पण भाव; (च) कार्पण्य—भगवान् के प्रति दीनता का भाव। विनयपत्रिका के अनेक पद इनके उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं—

(क) तौ तू पछितैहै मन मींजि हाथ।

भयो है सुगम तोको अमर अगम तनु समुझिधौं कत खोवत अकाथ॥
सुखसाधन हरिविमुख वृथा जैसे श्रम-फल घृतहित मथै पाथ।
यह विचारि तजि कुपथ कुसंगति चलु सुपंथ मिलि भले साथ॥
(प्रपत्ति)

१—१; २—१०, १२, १३, १४; ३—१५, १६, १७; ४—१८, १९, २०; ५—२५, २६, २७, २८, २९, ३६; ६—११; ७—३८; ८—३९; ९—४०; १०—६१; ११—४९ (हरिशंकरी पद)

(ख) अबलौं नसानी अब न नसैहौं।
रामकृपा भवनिसा सिरानी, जाग्यौं फिर न डसैहौं॥
पायो नाम चारु चितामनि, उर कर तें न खसैहौं।

× × ×

परवस जानि हँस्यो हों इन्द्रिन्ह निज बस ह्वै न हँसैहौं।
(प्रतिकूलस्यवर्जनम्)

(ग) कृपासिन्धु ताते रहों निसि दिन मन मारे।
महाराज लाज आपुही निज जाँघ उघारे॥
मिले रहैं, मार्‍यो चहैं कामादि संघाती।
मो बिनु रहैं न मेरियै जारैं छल छाती॥
बसत हिये हित जानि मैं सबकी रुचि पाली।
कियो कथिक को दंड हौं जड़करम कुचाली॥
देखी सुनी न आज लौं अपनायत ऐसी।
करहिं सबै सिर मेरेई फिरि परै अनैसी॥
बड़े अलेखी लखि परैं परिहरे न जाहीं।
असमंजस में मगन हौं लीजै गहि बाँहीं॥
बारक बलि अवलोकिए कौतुक जन जी को।
अनायास मिटि जाइगो संकट तुलसी को॥
(रक्षिष्यतीति विश्वासः)

(घ) है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।
सुभग सरोज-लोचन सुठि सुन्दर स्याम॥
सिय समेत सोभित सदा छबि अमित अनंग।
भुज विसाल सर धनु धरे कटि चारु निषंग॥
बलि पूजा माँगै नहीं, चाहै एक प्रीति।
सुमिरनही मानै भलो, पावन सब रीति॥
देइ सकल सुख दुख दहै आरतजन-बंधु।
गुन गहि अघ अवगुन हरै, ऐसो करुनासिंधु॥

देस काल पूरन सदा, बद बेद पुरान।
सब को प्रभु सब मों बसै सब की गति जान ॥
को करि कोटिक कामना पूजै बहु देव।
तुलसीदास तेहि सेइए संकर जेहि सेव ॥

(गोप्तृत्वावर्णनम्)

(ङ) जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे ॥
कौने देव बराय बिरद-हित हठि हठि अधम उधारे।
खग मृग व्याध पषान त्रिटप जड़ जवन कवन सुर तारे ॥
देव दनुज मुनि नाग मनुज सब मायां-विवस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे ॥

(आत्मनिक्षेप)

(च) माधव जू मो सम मंद न कोऊ।
जद्यपि मीन पतंग हीनमति मोहिं नहिं पूजहिं ओऊ ॥
रुचिर रूप आहार वस्य उन पावक लोह न जान्यो।
देखत बिपति विषय न तजत हौं ताते अधिक अजान्यो ॥

× × ×

मेरे अघ सारद अनेक जुग गनत पार नहिं पावै।
तुलसिदास पतितपावन प्रभु यह भरोस जिय आवै ॥

(कार्पण्य)

सच तो यह है कि विनय के पदों में वैष्णव सम्प्रदाय के विनय-सम्बन्धी सिद्धान्तों का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार विनय में सात प्रकार की भूमिकाएँ होती हैं। १—दीनता, २—मान-मर्षता, ३—भय-दर्शन, ४—भर्त्सना, ५—आश्वासन, ६—मनोराज्य, ७—विचारणा। इन सात भूमिकाओं के अभाव में विनय अपूर्ण समझी जाती है। तुलसी के विनय के पदों में ये सातों प्रकार की भूमिकाएँ मिलती हैं। अतः साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी तुलसी के विनय-पद उत्कृष्ट हैं।

(१) दीनता—अपने को अति तुच्छ समझना और असफलता का सारा दोष अपने सिर लेना—

तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं।
जो जमराज काज सब परिहरि इहै ख्याल उर अनिहैं ॥
चलिहैं छूटि पुंज पापिन के असमंजस जिय जनिहैं।
देखि खलल अधिकार प्रभू सों मेरी भूरि भलाई मनिहैं ॥
हँसि करिहैं परतीति भगत की भगत सिरोमनि मनिहैं।
ज्यों त्यों तुलसिदास कोसलपति अपनाएहि पर बनिहैं ॥

(२) मान-मर्षता—अभिमान रहित होकर इष्टदेव की शरण में जाना—

कस न करहु करुना हरे दुख हरन मुरारि !
त्रिबिध ताप संदेह सोक संसय भयहारि ॥
येहु कलिकाल-जनित मल मतिमंद मलिन मन।
तेहि पर प्रभु नहिं कर संभार केहि भाँति-जियै जन ॥
सब प्रकार समरथ, प्रभो ! मैं सब विधि दीन।
यह जिय जानि द्रवहु नहीं मैं करमविहीन ॥
भ्रमत अनेक जोनि फिरों रघुपति ! पति आन न मोरे।
दुख सुख सहौं रहौं सदा सरनागत तोरे ॥

(३) भय-दर्शन—जीव को भय दिखाकर इष्टदेव के सम्मुख करना—

राम से प्रीतम की प्रीति रहित जीव जाय जियत।
जेहि सुख सुख मानि लेत सुख सो समुझ कियत ॥
जहँ तहँ जेहि जोनि जनम महि पताल बियत।
तहँ तहँ तू विषय सुखहिं चहत लहत नियत ॥
कत विमोह लट्यो फट्यो गगन मगन सियत।
तुलसी प्रभु सुजस गाइ क्यों न सुधा पियत ॥

(४) भर्त्सना—मन को शासित करना और डाँटना—

सुनि मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरिपद-विमुख काहु न लह्यो सुख सठ यह समुझु सबेरो ॥

बिछुरे रवि, ससि मन नैननि तें पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत स्रमित निसि दिवस गगन मों तहँ रिपु राहु बड़ेरो॥
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता तिहुँपुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो॥
मिटै न बिपति भजे बिनु रघुपति स्रुति संदेहु निबेरो।
तुलसीदास सब आस छाँड़ि करि होहि राम को चेरो॥

(५) आश्वासन—इष्टदेव के गुणों पर विश्वास रखना और उसी की कृपा के भरोसे मन को धीरज देना—

मेरे रावरिये गति है रघुपति बलि जाऊँ।
निलज नीच निरधन निरगुन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ॥
हैं घर घर बहु भरे सुसाहिब, सूझत सबनि आपनो दाउँ।
बानर-बंधु बिभीषन-हित बिनु कोसलपाल कहूँ न समाउँ॥
प्रनतारति-भंजन जनरंजन सरनागत पबि-पंजर नाउँ।
कीजै दास दास तुलसी अब कृपासिंधु बिनु मोल बिकाउँ॥

(६) मनोराज्य—अपने मन में बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ करना और इष्टदेव से उनकी पूर्त्ति की आशा करना—

कबहुँ सो करसरोज रघुनायक धरिहौ नाथ ! सीस मेरे।
जेहि कर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरे॥

× × ×

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।
निसि बासर तेहि करसरोज की चाहत तुलसीदास छाया॥

(७) विचारणा—मायाजाल की जटिलता दिखा कर मन को संसार से विरक्त करना और भक्ति-मार्ग के प्रति उसमें आसक्ति उत्पन्न करना—

कबहुँ मन बिस्राम न मान्यो।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यौं॥
जदपि बिषयसँग सह्यो दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यौं।

तदपि न तजत मूढ़ ममताबस जानत हूँ नहिं जान्यौं ॥
जनम अनेक किए नाना बिधि करम-कीच चित सान्यौं ।
होइ न विमल विवेक नीर विनु वेद पुरान बखान्यौं ॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यौं ।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यौं ॥

तुलसीदास के आध्यात्मिक विचारों के अध्ययन के लिए विनय-पत्रिका बहुत महत्त्वपूर्ण है, कदाचित् रामचरितमानस से भी अधिक। उससे तुलसीदास की वृद्धावस्था की भक्ति-भावना पर प्रकाश पड़ता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचरितमानस की रचना के बाद भी तुलसी के आध्यात्मिक विचारों में बराबर विकास होता गया और विनयपत्रिका में हमें उनके पूर्ण विकसित रूप के दर्शन होते हैं। जैसा हम एक स्थान पर कह चुके हैं, तुलसी की रामचरितमानस की भक्ति ज्ञान और कर्म को साथ लेकर चलती है। उसे हम ज्ञान-कर्म-समन्वित भक्ति कह सकते हैं। विनयपत्रिका की भक्ति अनन्य भक्ति है। वह न किसी दूसरे देवता का आश्रय लेती है, न किसी दूसरी उपासना-पद्धति का। ज्ञान और कर्म पीछे छूट गये हैं। तुलसी उनकी ओर मुड़ कर भी नहीं देखते। उनके लिए केवल भक्ति ही एक साधना है, जिससे वे अपने उपास्य के निकट पहुँचते हैं। यही नहीं, भक्ति उनके लिए केवल साधना ही नहीं है, वह साध्य भी है। तुलसीदास प्रत्येक देवता से रामभक्ति की याचना करते हैं, स्वयम् राम से भी वे यही याचना करते हैं कि राम-चरण-रति प्राप्त हो। उनका कहना है—और काहि माँगिए (८०)। इस अन्तिम समय में तुलसी ने सारे नाते छोड़ कर केवल राम से नाता जोड़ रखा है। उनका और उनके उपास्य का सम्बन्ध इस पद से पूर्णतः स्पष्ट है—

तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पापपुंजहारी ॥
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसों।
मो समान आरत नहिं आरतहर तोसों ॥

ब्रह्म तू हौं जीव तुही ठाकुर हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥

इस राम-भक्ति को प्राप्त करने के साधनों के विषय में भी तुलसी को कुछ कहना है।

१—पहला साधन है राम के शील स्वभाव का मनन—

सुनत सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन तन पुलक, नैन जल सो नर खेहरु खाउ॥

२—दूसरा साधन है नाम-स्मरण—

मति रामनाम ही सों, रति रामनाम ही सों,
गति रामनाम ही की विपति हरनि।
रामनाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक।
तुलसी ढरैंगे राम आपनी दरांन॥

३—तीसरा साधन है अति निवेदन—

बलि जाऊँ हौं राम गोसाईं। कीजे कृपा आपनी नाईं॥
परमारथ सुरपुर-साधन सब स्वारथ सुखद भलाई॥
कलि सकोप लोपी सुचाल निज कठिन कुचाल चलाई॥
जहँ जहँ चित चितवत हित तहँ नित नव विषाद अधिकाई॥
रुचि भावती भभरि भागहि समुहाहिं अमित अनभाई॥
आधि मगन मन व्याधि-विकल तन बचन मलीन झुठाई॥
एतेहुँ पर तुम सों तुलसी की सकल सनेह सगाई॥

४—चौथा साधन है सत्संग—

सेवत साधु द्वैत-भय भागे। श्रीरघुवीर-चरन लय लागे॥
द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई॥

इसी के अन्तर्गत आ जाता है असाधु से असहयोग—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

५—पाँचवा और कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है हरिकृपा। हरिकृपा के बिना अन्य साधन भी नहीं सधते। उसके बिना सत्संग

की प्राप्ति तो असंभव ही है। यह कृपा तभी मिल सकती है जब राम करुणा से द्रवित हों—

तुलसीदास यह होहि तबहि जब द्रवै ईश जेहि हतो सीस दस।

परन्तु राम को द्रवित करना भी कुछ कठिन नहीं है। भक्त पर कृपा करना तो राम की बानि ही है, उन्हें पता चल जाय कि वह उनसे प्रेम कर रहा है—

श्रीरघुबीर की यह बानि।
नीचहूँ सो करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥

परन्तु आवश्यकता यह है कि मनुष्य पहले राम की शरणागति में जाय। फिर हरि-कृपा उसे अनायास ही प्राप्त होगी और उसके लिए हरिभक्ति के साधन भी इकट्ठे हो जायँगे।

परन्तु हरिभक्ति की आवश्यकता क्या है? इसकी आवश्यकता इसलिए है कि मनुष्य शान्ति चाहता है, शान्ति मन का विषय है। मन को शुद्ध और संयत करने से शान्ति प्राप्त होती है, परन्तु मन को शुद्ध और संयत करना सरल नहीं है।

कबहुँ मन बिस्राम न मान्यो॥

इसके लिए अनेक साधन कहे गये हैं परन्तु इस कलियुग में सब व्यर्थ हैं—

जप तप तीरथ जोग समाधी
कलि महि बिकल कछु निरुपाधी॥

इसीलिए आवश्यकता है कि मन किसी एक वस्तु की ओर उन्मुख किया जाय। राम के चरणों में अनुरक्ति होने से सारे दुःख-दैन्य दूर हो जाते हैं और मन शुद्ध और एकनिष्ठ होकर शांति को प्राप्त करता है। इसीलिए तुलसी का मत है—

जो बिनु जोग जज्ञ व्रत संयम गयो चहत भव पारहि।
हौं जनि तुलसिदास निसिवासर हरिपद कमल बिसारहि॥

मन की अशांति का कारण क्या है, इस पर भी तुलसी ने विचार

किया है। यह है संसार की द्विविधि सत्ता। यह संसार रमणीय दिखलाई पड़ता है परन्तु परिणाम में भयंकर है—

अन विचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी॥

परन्तु वास्तव में यह संसार न रमणीय है न भयंकर। यह संसार हमें भयानक लगता है इसका कारण हमारा ही भ्रम और अविवेक है। इस अविवेक और भ्रम के दूर होने पर संसार की भयंकरता भी नष्ट हो जाती है। परन्तु यह भ्रम हरिकृपा के बिना नहीं छूटता। इस प्रकार भी हरिकृपा वांछनीय है।

परन्तु तुलसी की भक्ति संसार को छोड़ कर नहीं चलती। उसमें जीवन-निर्माण का एक अत्यन्त उन्नत आदर्श सन्निहित है। उसकी नींव नैतिकता में है। संतोष, परहित-चिंतन, मृदु संलाप, रागद्वेष-हीनता, मानहीनता, शीतलता, सुख-दुःख में समबुद्धि (१७२)— ये कुछ ऐसे गुण हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपादेय हैं, भले ही वह रामभक्ति में विश्वास करे या नहीं। तुलसीदास ने अपने जीवन का आदर्श यही नैतिक जीवन रखा है—

जो मन भज्यो चहै हरि सुरतरु।
तौ तजि विषय बिकार सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु॥
सम संतोष विचार विमल अति सतसंगति ए चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु।
स्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
नैननि निरखि कृपा-समुद्र हरि अग जग रूप भूप सीतावरु॥
इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास सिवमत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु॥

ऊपर जो लिखा गया है उससे विनयपत्रिका का विशेष महत्त्व प्रकट नहीं होता। केवल भक्ति के शास्त्रीय अंगों को विनयपत्रिका के पदों पर घटा देने से हम उसके भक्ति-सरोवर में निमज्जित नहीं हो जाते। सच तो यह है कि विनयपत्रिका मानस के बाद तुलसी का सबसे सुन्दर ग्रन्थ है, कुछ अंशों में मानस से भी बढ़-चढ़कर

है। मानस में हम तुलसी को कथाकार के रूप में देखते हैं। उनका अपना व्यक्तित्व चरित्रों की राम-भक्ति, भक्तिपूर्ण उक्तियों और ज्ञान-वैराग्य की मार्मिक मीमांसा में ही प्रकट होता है, परन्तु विनयपत्रिका में तुलसी के भक्ति-पूर्ण, निःसंकोच हृदय के दर्शन होते हैं। यहाँ कथा की ओट नहीं है। तुलसी के शेष सारे ग्रन्थों में कथा कवि के व्यक्तित्व को ढक लेती है। यहाँ तुलसी का व्यक्तित्व ही सौ-सौ वर्णच्छटाओं में फूट पड़ा है। वास्तव में विनयपत्रिका के कई पक्ष हैं—पहला, धर्म-सम्बन्धी। दूसरा, आत्मोल्लेख-सम्बन्धी। तीसरा, भक्ति-सम्बन्धी। चौथा, ज्ञान-मूलक विवेचना सम्बन्धी। पाँचवाँ, साहित्य-सम्बन्धी। इनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में विशद रूप से विचार किया जा सकता है। आत्मोल्लेख सम्बन्धी पद कम हैं। कवितावली के उत्तरकांड में उनका प्राचुर्य है। यहाँ कुछ ही पद हैं जिनमें कवि के बालजीवन पर प्रकाश पड़ता है। दीन-भाव से भगवान् से प्रार्थना करते हुए भक्त अपनी अपदार्थता की घोषणा करता हुआ बाल-काल के कष्टों को याद करता है जब वह रोटी, लूगा (वस्त्र) के लिए भी तरसता था। परन्तु तुलसी की आत्मनिष्ठ साधना की कहानी जिस सच्चाई के साथ विनयपत्रिका में मिलती है, उतनी सचाई से अन्य किसी स्थान पर नहीं मिलती। तुलसी निरन्तर साधना-भूमि पर बढ़ते हुए कहते हैं—

ज्यौं ज्यौं निकट भयो चहौं, कृपालु त्यौं त्यौं दूरि पर्‌यो हौं।
तुम्ह चहुँ जुग रस एक राम हौं हूँ रावरो, जदपि अघ-अवगुननि भर्‌यो हौं॥
बीच पाइ नीच बीचहीं छरनि छर्‌यो हौं।
हौं सुबरन कुबरन कियो, नृप तें भिखारी करि, सुमति तो कुमति कर्‌यो हौं॥
अगिनित गिरि-कानन फिर्‌यों, बिनु आगि जर्‌यों हौं।
चित्रकूट गये हौं, लखी कलि की कुचालि सब अब अपडरनि डर्‌यो हौं॥

(हे कृपानिधान, ज्यों-ज्यों मैं आपके समीप आया चाहता हूँ, त्यों-त्यों दूर होता जाता हूँ। आप चारों युगों में सदा एक-से रहे हो और मैं भी आपका रहता आया हूँ, यद्यपि मैं पापों और दोषों से

परिपूर्ण हूँ। आपसे प्रथक रहने का मौक़ा पाकर कलियुग ने बीच में छल लिया × × परन्तु जब मैं चित्रकूट में गया, तो कलि-कुचाल का पता लगा।) इस पद से स्पष्ट है कि तुलसी मानस-रचना के बाद मुख्यतः साधना में जागरुक बने रहे। साहित्य उनके लिए धीरे-धीरे अप्रधान होता गया। दास्यभाव का भक्त निरन्तर पूर्णता की ओर बढ़ना चाहता है। एक ओर उसके आराध्य का हीरक सिंहासन है, दूसरी ओर पृथ्वी पर खड़ा हुआ वह दीन पुजारी। गेटे ने मरते समय कहा था, प्रकाश चाहिए, और प्रकाश! भक्त कवि चाहता है हृदय और मन का परिष्कार, अधिक परिष्कार। अंतःसंस्कार की यह भावना उसे सतत प्रयत्नशील, सदा जाग्रत बनाए रखती है। इसका आदर्श इन पंक्तियों में है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत-सुभाउ गहौंगो॥
जथा लाभु संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम शीतल मन, पर गुन औगुन न कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरिभक्ति लहौंगो॥

यह 'अविचल हरि-भक्ति-पथ' ही तुलसी का ध्येय है। साधना का पाथेय लेकर तुलसी इसी पथ पर यावज्जीवन चलते रहे। विनयपत्रिका इस धर्म-बटोही की इसी तीर्थ-यात्रा का इतिहास है। परन्तु भाव-प्रधान भक्ति की साधना के अतिरिक्त धर्म और ज्ञान की अनेक बातें भी इस ग्रन्थ में मिलती हैं। धर्म के सम्बन्ध में तुलसी सर्वग्राही हैं। उन्होंने रामभक्ति में हिन्दू धर्म की सारी मान्यताओं का समाहार कर दिया है। विनयपत्रिका में उन्होंने गणेश, सूर्य, शिव, देवी, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, की स्तुतियाँ उपस्थित की हैं। चित्रकूट का महत्त्व राम के नाते है, परन्तु शेष स्थलों पर धर्म

और भावना के बिखरे हुए सूत्रों को समेट रखने का ही दृष्टिकोण जान पड़ता है, परन्तु इन सब इष्टदेवों से तुलसी चाहते क्या हैं—

> बसहिं राम-सिय मानस मोरे। (गणेश-स्तुति)
> तुलसि राम-भक्ति बरु माँगे। (सूर्य-स्तुति)
> देहु काम-रिपु रामचरन-रति, तुलसिदास कहँ कृपानिधान। (शिव-स्तुति)
> रघुपति-पद परम प्रेम,
> तुलसी यह अचल नेम,
> देहु ह्वै प्रसन्न पाहि प्रनत-पालिका। (देवी-स्तुति)
> देहि रघुवीर-पद-प्रीति निरभर मातु। (गंगा-स्तुति)
> तुलसी बस हरपुरी रामजपु। (काशी-स्तुति)

स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण तुलसी की राम-भक्ति को ऐसी व्यापकता दे देता है जो मध्ययुग के किसी भी धर्म-सम्प्रदाय को प्राप्त नहीं। इस प्रकार तुलसी रामानन्द की क्रान्ति को आगे बढ़ाते हैं। यही नहीं, एक दशावतारी पद में तुलसी मत्स्य, वाराह, कूर्म, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, एक साँस में सबको वंदना करते हैं। अतः स्पष्ट है कि तुलसी पौराणिक धर्मों की सारी भूमियों को रामभक्ति के अंतर्गत स्वीकार कर लेते हैं। राम के पार्श्वद हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न नये देवताओं के रूप में उपस्थित हुए हैं और सीता तो ब्रह्मपर राम की पराशक्ति हैं ही। इस प्रकार विनयपत्रिका में एक अभूतपूर्व प्रयत्न मिलता है—हिन्दू धर्म को रामनिष्ठ करने का महान् स्वप्न तुलसी ने देखा। रामचरितमानस के तुलसी निर्गुण-सगुण और राम-शिव का समाहार उपस्थित करके ही संतोष कर लेते हैं। यहाँ उनकी धारणा-भूमि ने और भी विस्तार पा लिया है। उन्होंने सारे प्रचलित धर्मों को 'सीतारामामय' बनाकर अपना लिया है।

ज्ञान की बात विनयपत्रिका में अधिक नहीं है। तुलसी का मंतव्य है—

वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुण भव-पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥

विनयपत्रिका 'अनुभूति'-प्रधान है। वाक्य-ज्ञान मानस के उत्तर-कांड तक सीमित है। जहाँ-जहाँ दार्शनिक विवेचना है भी, वहाँ-वहाँ यही दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है।

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥

द्वैत, अद्वैत और विशिष्ठाद्वैत (या द्वैताद्वैत) तीनों वाद एकांकी हैं। यद वाक्य-ज्ञान मात्र हैं। सत्य इन वादों से परे है। सत्य है केवल शरणागति। भगवान् ने कहा है—

मामेकं शरणं व्रज।—(गीता)

इसी से तुलसी का आदेश है कि मन के तर्क-वितर्क को छोड़कर

समुझि मनहिं मन रहिये।

'मानस' में 'सगुण भक्ति की स्थापना की जो उत्कंठा है, विशिष्टाद्वैत की जो झलक है, विनयपत्रिका तक पहुँचते-पहुँचते तुलसी को सब मतों के प्रति सहिष्णु बना दिया है और अब निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत सब राम-भक्ति में डूबकर एकरंग हो गये हैं। तुलसी कहते हैं—

करय उपासन ग्यान वेद मत, सो सब भाँति खरो।
मोहि तो सावन के अन्धहि त्यों, सूझत रंग हरो॥

सारे धर्म-भेदों और वर्ग-भेदों से ऊपर उठकर तुलसी घोषणा करते हैं—

हरिहि हरिता, विधिहि विधिता, सिवहि सिवता जेहि दई।
सोई जानकीपति मधुर मूरति मोदमयि मंगलमई॥

'वाद'-विशेष वाक्य-ज्ञान करा सकते हैं—उपादेय है अनुभव मात्र। अनुभूति-प्रधान भक्तिमार्ग में आगे बढ़कर 'मानस' का कवि देखता है कि उसका मानस उत्तरकांड का प्रयत्न बाल-प्रयत्न था। भक्ति की चरमावस्था पर पहुँच कर सारे संशय नष्ट हो जाते हैं। तर्क-मूलक

वाद का कारण संशय है, अतः भक्त सहज ही ज्ञानयोग की चरमावस्था को प्राप्त हो जाता है—

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवे निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-वियोगी॥
सोक, मोह, भय, हरष, दिवस निसि, देसकाल तहँ नाहीं।
तुलसिदास एहि दसा हीन संशय निमूँल न जाहीं॥

इस बीथिका में रखने से तुलसी द्वारा विनयपत्रिका में प्रयुक्त 'द्वैत', 'संसार', 'ब्रह्म' आदि दार्शनिक शब्दों के नये अर्थ लगते हैं। इन नवीन मूल्यों को न समझ कर ही आलोचक उन्हें वाद-विशेष में घसीटने का प्रयत्न करते हैं।

विनयपत्रिका में जो महत्त्वपूर्ण है—जो रस नवनीत की तरह तैरता हुआ ऊपर आ जाता है, वह है भक्तिरस। आलोचक-श्रेष्ठ पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा है—"भक्ति रस का पूर्णतः परिपाक जैसा विनयपत्रिका में देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं।" (वियोगी हरि की हरितोषिणी टीका के 'परिचय' में)।

यह भक्ति-रस मानस के भक्ति-रस से थोड़ा भिन्न है। मानस में अपने इष्टदेव में अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति और अनन्त शील की पराकाष्ठा दिखा कर कवि आगे बढ़ता है। भूमिका दृढ़ हो चुकी। जीवन के नए सर्ग में एक अत्यन्त मार्मिक वेदना है, अपनी अपूर्णता और राम की पूर्णता की चौड़ी खाई को पाटने का अथक परिश्रम है। 'मानस' की भक्ति की भूमि शास्त्रीय है। तुलसी अध्यात्म रामायण के नवधा भक्ति-प्रकारों और नारद-भक्ति-सूत्र-प्रभृति भक्ति-ग्रन्थों से प्रभावित हैं। उन्होंने सोपानों के रूप में भक्ति के अंगों एवं प्रकारों की कल्पना की है। विनयपत्रिका में विवेचना का नाम भी नहीं है। अपनी साधना के अदम्य उत्साह से प्रभावित होकर तुलसी कहते हैं—

१—राम सों बड़ो है कौन, मोंसों कौन छोटो?
राम सों खरो है कौन, मोंसों कौन खोटो?

२—सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ।
३—सब साधन-फल कूप-सरित-सर, सागर-सलिल निरासा।
राम-नाम रति स्वाति-सुधा-सुभ-सीकर, प्रेम पियासा।

राम के सौन्दर्य, शक्ति और शील से प्रचलित राम-भक्ति ध्येय है। राम-नाम साधन है। भगवान् के योग्य स्वयं को बनाना साधना है। ध्येय, साधन और साधना की एकसूत्री निबंधना विनयपत्रिका को संसार का सर्वोत्तम भक्ति-ग्रन्थ बना देती है। शब्द-शब्द में साधना-रत तुलसी का हृदय चिल्ला उठता है—

राम राम रमु राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।
राम-नाम नव नेह मेह को, मन हठि होहि पपीहा॥

'षटधा'—'नवधा' साधन कुछ नहीं। जिससे बन पड़े वही साधन है—

रघुपति भगति करत कठिनाई।
करत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई॥

इस ऊँची भावना-भूमि पर पहुँच कर ही तुलसी किसी के भी न होते हुए सब सम्प्रदायों के प्रिय बन गये हैं।

विनयपत्रिका के साहित्य-पक्ष के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। ग्रन्थ पद-संग्रह-मात्र है। इन पदों में वर्षों की लम्बी साधना का इतिहास छिपा है। इसीसे अनेक भाव-धाराएँ और उनके प्रकाशन की अनेक शैलियाँ हैं। एक शैली संस्कृत-गर्भित, समास-प्रधान स्तोत्र-शैली है। 'गीतगोविन्द', 'विद्यापति' और संस्कृत भक्ति स्तोत्रों और 'पाठों' में इस शैली का व्यापक प्रयोग मिलता है। आज भी संस्कृतज्ञ उपासकों को संस्कृत तत्सम-शब्द-प्रधान स्तोत्र-शैली प्रिय है। तुलसी स्वयं पंडित कवि थे, अतः साधना का पाण्डित्य-पूर्ण ढंग उन्होंने अपनाया तो इसके लिए हम उन्हें लांछित नहीं कर सकते। यह अवश्य है कि इन स्तोत्रों का तुलसी-साहित्य में कोई विशेष मूल्य नहीं। तुलसी की साधना पर भी इनसे कोई नवीन

प्रकाश नहीं पड़ता। इस शैली से उतर कर तुलसी के ये पद हैं जिनमें वे अभिव्यंजना की सरल, हृदयग्राही पद्धति की ओर बढ़ रहे हैं। परन्तु उनके सबसे सुन्दर अनुभूतिपूर्ण पद वे हैं जिनमें उन्होंने सूर के विनय-पदों की भाँति सरल, ग्रामीण ब्रज में, साहित्यिकता को पीछे छोड़ते हुए, अपनी साधना को रूप देने की चेष्टा की है। इस शैली का उनका सबसे मार्मिक पद सीता की स्तुति है—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ॥
दीन सब अंगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।
नामु लै भरै उदर एक प्रभु दासि दास कहाइ॥
बूझिहैं 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाई।
सुनत राम कृपालु के मेरि बिगरिऔ बनि जाइ॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ गुन-गन गाइ॥

परन्तु इस शैली में भी कहीं-कहीं तुलसी कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित दीखते हैं। वहाँ वह मौलिक शक्ति देने के लिए नई ध्वनि, नई लय, नया छंद खोजते दिखलाई देते हैं, जैसे—

राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसें नीर मीन कों?
सुख जीवन ज्यों जीव कों, मनि ज्यों फनि कों,
हित ज्यों धन लोभ-लीन कों॥
ज्यों सुभाय प्रिय नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर पावन प्रेम पीन को॥
मनसा को दाता कहैं स्त्रु ति प्रभु प्रबीन को।
तुलसिदास को भावतो बलि जाऊँ दयानिधि दीजे दान दीन कों॥

केवल संगीत और छंद ही नहीं, भाषा, अलंकार, व्यंजना, काव्य के सभी क्षेत्रों के अनेक नये प्रयोग विनयपत्रिका में मिलेंगे। स्पष्ट है कि विनयपत्रिका का साहित्य-पक्ष भी उतना ही पुष्ट है जितना

उसका अध्यात्म पक्ष। साहित्यिकों का ध्यान इस ओर नहीं गया है, यह दूसरी बात है। अब तक हमारे तुलसी के अध्ययन का आधार रहा है एकमात्र रामचरितमानस। तुलसी के अन्य ग्रन्थों की ओर हमारी दृष्टि अभी नहीं उठी है। निकट भविष्य में हम विनयपत्रिका और अन्य ग्रन्थों के आधार पर तुलसी की साधना और उनके व्यक्तित्व के विकास के इतिहास से पन्ने उलट सकेंगे, ऐसी आशा व्यर्थ नहीं है। विनयपत्रिका को छोड़ने से तुलसी का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण पक्ष (उनकी साधना) हमारे सामने नहीं आयेगा और उनका अध्ययन अधूरा रहेगा।

१४—कुंडलिया रामायण

तुलसीदास की 'कुंडलिया रामायण' का सम्पादन श्री रूपनारायण पांडेय ने किया है (प्र० इंडियन प्रेस, प्रयाग)। 'वक्तव्य' में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे पता चलता है कि हिन्दी के विद्वान् इस ग्रंथ को प्रामाणिक मानने के लिए तैयार हैं। जैसा हम पीछे कह चुके हैं, तुलसी का विशेष किसी छंद, शैली या कथा पर आग्रह नहीं था। उन्होंने प्रचलित सभी शैलियों और छंदों में रामकथा कही। कुंडलिया प्रचलित छंद रहा है, यद्यपि पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "गोस्वामीजी से पहले किसी भी कवि का लिखा कुंडलिया छन्द नहीं मिलता।" (वक्तव्य, कुंडलिया रामायण)। परन्तु अप्राप्य भले ही हो, कुंडलिया उस समय का प्रचलित छंद रहा होगा। संपादक का कहना है—

"कुंडलिया रामायण के कथानक की तुलना रामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, रामाज्ञा-प्रश्न तथा जानकीमंगल से करने पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इस ग्रंथ की रचना मानस के अधिक समकक्ष है।" अध्ययन करने से पता लगता है कि इस ग्रंथ में कई नवीन उद्भावनाएँ हैं—

१—रामजन्म पर शंकरजी भस्म रमा कर, योगी-वेष में, रामचंद्रजी

के दर्शन करने पहुँचे और अंतःपुर में रानियों को राम का भविष्य बताया।

२—विवाह-प्रसंग में रमा के हास-परिहास का अच्छा चित्रण एक नवीन प्रसंग है। रमा कहती है, हमारी सीता तो सीधी है, ऋषिपत्नी (अहल्या) जैसा इनका हाल मत करना।

३—बाललीला तथा माताओं के प्रेमभाव आदि की मनोहर और तीव्र व्यंजना हुई है जो अन्यत्र मिलना कठिन है।

इस ग्रंथ में प्रबन्धात्मकता भी अधिक है। जान पड़ता है, मानस लिखने के बाद उसको आधार बना कर ही इसकी स्वतंत्र रचना हुई और ग्रन्थ एक साथ थोड़े ही काल में लिखा गया। कहीं-कहीं तो भावसाम्य एवं शब्दसाम्य अत्यन्त निकट पहुँच जाता है जैसे—

मृगमद चन्दन कुंकुम कीचा।
मची सकल बीपिन बिच बीचा॥
अगुरु धूप बहु जनु अँधियारी।
उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी॥ (मानस)

भरी चौक गजमुक्त अगर कुंकुम मृदमद घना।
कुसुम सुगन्ध अबीर रहेउ भरि दिसा विदिस तन॥ (कुं० रा०)

लेखक का कहना है कि "कुंडलिया रामायण की रचना 'रामाज्ञा' और रामचरितमानस के बीच कही जा सकती है, पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस बीच में और ग्रंथ लिखे गये कि नहीं," (पृ० ४२) परन्तु इस ग्रन्थ और रामचरितमानस में भावसाम्य एवं शब्दसाम्य इतना है कि यह मानस के बाद प्रणीत जान पड़ता है। रामकथा पर प्रकीर्णक ग्रन्थ तुलसी ने मुख्यतः मानस के बाद ही लिखना आरम्भ किये हैं। वास्तव में तुलसी के ग्रंथों की रचना-तिथि एवं उनका रचनाक्रम अभी समस्या ही बने हैं। कुंडलिया रामायण की भी यही स्थिति है।

कुंडलिया रामायण की भाषा-भित्ति ब्रजभाषा पर स्थिर है, परन्तु अवधी और बुंदेलखंडी के क्रियारूपों और कारक-चिह्नों का भी

बहुतायत से प्रयोग हुआ है। अंत में कुंडलिया रामायण के एक छंद में हम इस उल्लेख को समाप्त करते हैं—

एक राम गुन गाइबो, यह कलिकर्म न और।
ताते तुलसीदास के, मंत्र चहै सिरमौर॥
मंत्र चहै सिरमौर राम सुचि कीरति गाऊँ।
साधन उत्तम जानि सुमति निज मनहिं दृढ़ाऊँ॥
मनहिं दृढ़ाऊँ मंत्र यह, जेहि प्रसाद सुख पाइबो।
सुक नारद की सीख यही, एक राम गुन गाइबो॥

(उत्तर० २५)

इस कुंडलिया से तुलसी की कविकर्म-विषयक धारणा पर प्रकाश पड़ता है। अनेक ग्रंथों में, अनेक छंदों में, अनेक शैलियों में, अपने समय की उत्तर भारत की दो प्रचलित साहित्यिक भाषाओं में तुलसी ने राम का गुन गाया और स्वयं धन्य होकर इस कलिकाल को धन्य कर दिया।

१७—अकबर-युग और तुलसीदास

तुलसीदास का जीवनकाल १५३३ ई०—१६२३ ई० है। उनके रामचरितमानस का समय १५७४ ई० है। मुग़ल सम्राट् अकबर का राजकाल १५५६ ई० से आरंभ होता है और १६०५ तक चलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी का काव्य-रचना का अधिकांश समय अकबर-काल के अन्तर्गत आ जाता है। तुलसी के ग्रन्थ-रचना का आरंभ १५६६ ई० (आयु ३३ वर्ष, रामाज्ञा-प्रश्न) के लगभग हो गया होगा। उनका अधिकांश काव्य १६०५ (आयु, ७२ वर्ष) तक लिखा जा चुका होगा। तुलसी की तीन प्रसिद्ध रचनाओं की तिथि इस प्रकार है—तुलसी-सतसई १५८५ ई०, पार्वतीमंगल १५८६ ई० और मानस १५७४ ई०। तुलसी के ग्रन्थों में मीन की सनीचरी और

रुद्रबीसी का उल्लेख है। रुद्रबीसी का समय १६०८—१६२८ ई० है और मीन की सनीचरी का समय १६११—१६१४ ई० है। तुलसी का १६१४ तक जीवित रहना (आयु ८१ वर्ष) उनके ग्रन्थों से सिद्ध है। जनश्रुति के अनुसार उनकी मृत्यु-तिथि १६२३ ई० है। अतः अकबर-काल के अतिरिक्त जहाँगीर-काल (१६०५-१६२७) का अधिकांश भाग भी तुलसी के जीवनवृत्त में आ जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसी ने जब आँखें खोलीं और होश सँभाला (१५५६ ई०, आयु २३ वर्ष, अकबर का राज्याभिषेक-वर्ष) तो एक विदेशी सत्ता का पैर भारत में जम रहा था। उनके रामचरित के प्रणयन के समय (१५७४ ई०, आयु ४१ वर्ष) देश में महान् परिवर्तन हो गये थे। १५५६ ई० की पानीपत की लड़ाई में हीमू की हार हुई और एक ऐसी हिन्दू केन्द्रीय शक्ति के स्वप्न का नाश हो गया जो अत्यन्त आशाजनक था। अकबर आरंभ काल में गृह-विद्रोह में फँसा रहा। १५६२ ई० में उसने अजमेर की पहली तीर्थ-यात्रा की और इसी वर्ष तानसेन दरबार में आए। १५६६ ई० में अकबर ने बनारस पर आक्रमण किया (तुलसी की आयु ३३ वर्ष)। १५६७ ई० में उसने कड़ा, मानिकपुर, इलाहाबाद और बनारस को लूटा और जौनपुर होता हुआ आगरा लौट आया। १५६८ ई० में चित्तौड़ परास्त हुआ (तु० की आयु ३५ वर्ष)। एक वर्ष बाद रणथंभौर और कालिंजर (तु० आ० ३६ वर्ष)। विजित हुए। १५६९ ई० (तु० आ० ३६ वर्ष) में उसने फतेहपुर सीकरी की नींव डाली। १५७० ई० (तु० आ० ३७ वर्ष) में बीकानेर और जैसलमेर की राजपुत्रियों से विवाह किया। १५७४ ई० (तु० आ० ४१ वर्ष) में अकबर ने हाजीपुर का मुहासरा किया और दाऊद जंगल की ओर भाग गया। अगले वर्ष (१५७५ ई०, तुलसी की आयु ४२ वर्ष) अकबर ने इबादतगाहों की नींव डाली। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मानस' की रचना तक अकबर का जीवन संकट-मुक्त नहीं हुआ था। १५७४ ई० में उसे विश्राम मिला और धर्म-चिंतन के लिए अवकाश मिलने लगा।

तब हमें यह देखना है कि मानस (१५७४ ई०) के पीछे कौन सी ऐतिहासिक प्रेरणा थी। तुलसी ने मानस ३ वर्ष में लिखा (१५७४-७७ ई०) और जनश्रुति के अनुसार १५ वर्ष (१५९२ ई०) तक वह उसमें संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन करते रहे।

तुलसी की रचनाओं से कई बातें स्पष्ट हैं। उन्होंने कई स्थानों पर कलियुग का वर्णन किया है। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से पता लगता है कि कलियुग-वर्णन की एक पौराणिक परिपाटी थी। उत्तरकांड में इस परिपाटी को निभाते हुए उन्होंने स्वानुभव लिखे हैं— उत्तर० ९७ (क)—१०२ (क) इनसे उस युग के आचार-शैथिल्य पर प्रकाश पड़ता है। तुलसी का दृष्टिकोण धार्मिक ही अधिक था, राजनीतिक कम। उनकी प्रेरणा के कई स्रोत हैं—

(१) आचार की शिथिलता का विरोध और उसके लिए नई व्यवस्था (मर्यादा-भाव)।

(२) वैष्णव और शैवों के विरोध का परिहार।

(३) संतमत, सूफीमत और कृष्णभक्ति के विरोध में जनहित के लिए रामभक्ति की स्थापना।

(४) राम-राज्य का स्वप्न। राम-राज्य का आदर्श।

(५) विभिन्न दार्शनिक मतवादों का सामंजस्य।

यह स्पष्ट है कि तुलसी का प्रधान अभिप्राय आध्यात्मिक एवं धार्मिक है। वह जहाँ पंडितों के लिए दार्शनिक मतवादों और वैष्णव-शैव विरोध का हल लेकर उपस्थित हैं, वहाँ उन्होंने जन-समाज के लिए आचार-नियम और रामभक्ति को भी उपस्थित किया। उनके काव्य पर यदि राजनीतिक प्रभाव है, तो परोक्ष में। उन्होंने अपने समय के विदेशी राज्य में रावण-राज्य का प्रतिबिम्ब पाया, अतः उन्होंने विशेष उत्साह से उसका चित्रण किया और उसके विरोध में आदर्श राज—राम-राज्य की कल्पना उपस्थित की (उत्तर २०-२३)। उन्होंने विजय-रथ के चित्रण में उन सात्विक गुणों का वर्णन किया जो युग-पुरुष में होना चाहिए—लंका० ८० (क) (ख)। युग-पुरुष

की यह कल्पना ही तुलसी की चुनौती थी। जिस शक्ति से उन्होंने राम-कथा लिखी है और रावण के प्रति विरोध का प्रदर्शन किया है, वह शक्ति प्रच्छन्न रूप से सामयिक व्यवस्था और विदेशी राज्य के प्रति विद्रोह से ही जन्म ले सकती है।

तुलसी का केन्द्र हिन्दू समाज था। इस हिन्दू-समाज में कई देवता चल रहे थे, विष्णु, शिव, शक्ति, कृष्ण, राम, पंचदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, सूर्य), रुद्र, भैरवादि। उन्होंने इन सबको स्वीकार किया। ये वेद-विहित धर्म थे। उन्हें स्वीकार कर तुलसी ने राम-भक्ति में उनका परिहार कर दिया। इस प्रकार उन्होंने प्रचलित धर्मोपासना को उच्च भित्ति दी (देखिए विनयपत्रिका)। तुलसी के समय त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—में विष्णु और शिव ही उपास्य रह गये थे। इनमें उन्होंने विचित्र ढंग से पटरी बैठाई (देखो विनय-पत्रिका और रामचरितमानस)। शिव राम के भक्त हैं और राम शिव के। परन्तु अवतारी राम के ऊपर जो ब्रह्मपर राम हैं, वह त्रिदेवों के कहीं ऊपर हैं। इस प्रकार उन्होंने राम की सर्वोपरिता स्वीकार करते हुए अवतारी राम और शिव को एक ही समतल पर रख दिया।

रह गये कुछ वेद-निन्दित पंथ—संतमत, सूफ़ीमत, इस्लाम। ये तुलसी को मान्य नहीं हैं। योगियों के 'अलख' से उनका मतभेद नहीं परन्तु उनकी आडम्बर-प्रियता उन्हें अमान्य है। इस प्रकार तुलसी ने हिन्दू-धर्म को एक नया संगठित रूप देने की चेष्टा की। उन्होंने इस नये संगठित हिन्दू-धर्म का केन्द्र वेद-पुराण ही रखा। 'निगमागम-सम्मत' यह राम-भक्ति-पथ तुलसी की देन था। तुलसी का संदेश हिन्दू-समाज को पार नहीं कर सका। उन्होंने इस्लाम से अपरोक्ष रूप में विरोध ही माना। इस्लाम से प्रभावित संत और सूफ़ीमत भी उन्हें ग्राह्य नहीं थे। ईसाइयों से वे परिचित थे या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। हिन्दू-धर्म ने १२०० ई० के बाद मुसलमानों से एक बड़ा असहयोग कर रखा था। १२०० ई० के आस-पास मिथिला और काशी के पंडितों ने नई स्मृतियाँ बनाकर हिन्दू-संगठन को दृढ़ करने

की चेष्टा की। १२००—१५०० ई० तक यह विरोध चलता रहा। गोरखपंथियों और रामानन्द एवं संतों और उदार सूफ़ियों ने इस विरोध को कम करने की चेष्टा की, पर वे हिन्दू-गढ़ (द्विजाति) पर विजय प्राप्त नहीं कर सके। गोरखपंथियों ने दोनों विरोधी अखाड़ों से तटस्थता घोषित की—

हिन्दू मुसलमान दोनों खुदाई के बन्दे,
हम जोगी न रहे काहू ही के फन्दे। ('काफिरबोध')

रामानन्द ने कबीर जैसे मुसलमान को दीक्षित कर आध्यात्मिक क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमानों की एकता घोषित की। कबीर और संतों ने दोनों धर्मों की समान विशेषताओं पर बल दिया, दोनों की मूल मानवता की ओर संकेत किया। प्रकृति-व्यापार में दोनों में कोई भेद नहीं। इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों को एक ही भित्ति दी। तुलसी इतने उदार (Catholic) नहीं थे। उन्होंने सार्वभौम धर्म के प्रचार की चेष्टा नहीं की। उन्होंने सीमित क्षेत्र में ही काम करना स्वीकार किया। उनके ग्रन्थों ने नये आदर्श सामने रखे। कृष्ण-भक्ति के समकक्ष कम भावुक, अधिक आदर्शवादी राम-भक्ति का प्रचार किया। इस प्रकार उन्होंने हिन्दुओं को कच्ची भावुकता से ऊपर उठाया। स्पष्ट है, धर्म के क्षेत्र में तुलसी से पहले कई शक्तिशाली प्रयत्न हो चुके थे। गोरख, रामानन्द और कबीर आदि संतों ने ज्ञान के बल पर और कृष्ण-भक्तों और सूफ़ियों ने सहज भावना को प्रधानता देकर हिन्दू-मुसलमानों को पास लाने की चेष्टा की। तुलसी के लिए मुसलमान मलेच्छ ही रहे। कृष्ण-भक्तों ने देश के राजनीतिक अंधकार में डूबे पराजय भाव को भगवान् की लीला के आनन्द में रससिक्त कर जनता को ऊपर उठाने की चेष्टा की। तुलसी ने राम को हिन्दू-जाति का नायक बनाकर इस भाव को नष्ट किया। हनुमान, राम और लक्ष्मण उनके वीर नेता थे। रामराज्य उनका आदर्श था। मलेच्छ-राज्य उनका रावण-राज्य था।

स्वयं तुलसी के समय में अकबर ने एक सार्वभौम धर्म के

प्रचार का प्रयोग किया। १५७४ ई० से १६०५ ई० तक अकबर का यह प्रयत्न जारी रहा, परन्तु वह सफल नहीं हो सका। ऐतिहासिकों ने इस प्रयत्न की राजनीतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देने की चेष्टा की है। ११९२ ई० की तराइन की दूसरी लड़ाई में पृथ्वीराज की पराजय हुई और दिल्ली का शासन गोरीवंश के हाथ में आ गया। लाहौर में मुसलमान औलिया, सूफ़ी और पीर इस्लाममत का प्रचार कर रहे थे। ११९४ ई० में जयचन्द परास्त हुआ और कन्नौज और काशी का राज्य ग़ोरी के हस्तगत हुआ। ११९७ ई० में बख्तियार ख़िलजी ने बिहार और बंगाल को भी जीत लिया। इस प्रकार १२०० ई० तक सारा उत्तर भारत मुसलमानों के शासन में आ गया। १२०६ ई० में कुतुबुद्दीन दिल्ली का शासक बना और १२१० ई० तक—अपनी मृत्यु तक—दिल्ली से लेकर बंगाल की राजधानी लखनौती (लक्ष्मणपुर) और लाहौर से लेकर गुजरात तक सारा देश विदेशी सत्ता के चरणों में प्रणत था।

मुसलमानों से पराजित होकर राजपूत राजपूताना को केन्द्ररूप में दृढ़ करने लगे। राठौरों ने जोधपुर के राजवंश की नींव डाली। उज्जैन, ग्वालियर, उदयपुर आदि अनेक राजपूत-वंश अकबर-काल तक विदेशी सत्ता से बराबर मोरचा लेते रहे। अल्तमश (१२११ ई०—१२३६ ई०) ने हिंदू केन्द्रों को परास्त करने की चेष्टा की, परन्तु असफल रहा। ख़िलजी वंश के आरम्भ (१२९० ई०) तक परिस्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ। अलाउद्दीन ख़िलजी (१२९६-१३१५ ई०) ने चित्तौड़, बारंगल, द्वारसमुद्र को जीतकर साम्राज्य में विशेष वृद्धि की।

इसी अलाउद्दीन ख़िलजी ने पहली बार सोचा कि तलवार के बल पर एक नवीन सार्वभौम धर्म की स्थापना की जाय। उसने कहा—मुहम्मद के चार मित्र थे, मेरे भी चार मित्र हैं, उनकी सहायता से मैं नये धर्म की स्थापना क्यों न करूँ। परन्तु नगर कोतवाल अलाउल-मुल्क ने उसे शिक्षा दी कि धर्म-स्थापन पैग़म्बरों का काम है, सुलतानों

का काम नहीं। उसने चंगेज़ख़ाँ का उदाहरण देकर बताया कि राज-दण्ड-भय से कोई भी मुसलमान मुग़ल नहीं हुआ है, मुग़ल ही मुसलमान हो रहे हैं। राजशक्ति और धर्म-स्थापन अलग-अलग वस्तुएँ हैं। सुलतान ने इस बात को मान लिया।

जब अकबर ने १५७४ ई० तक अपने साम्राज्य को दृढ़ कर लिया, तो उसने धर्मनेता बनने की बात सोची। इसके कई कारण थे। एक तो अकबर ने भारतीय शक्ति के मूल को समझ लिया था। अधिकांश भारतीय जनता हिन्दू थी। उसने इस्लाम मत स्वीकार नहीं किया था। हिन्दूमत आचार-प्रधान था। इस्लाम धर्म के अनेक आचार हिन्दू आचारों के एकांततः विरुद्ध थे। अतः अकबर ने ऐसे धर्म की स्थापना करना चाहा जिसके आचार हिन्दू आचारों से भिन्न नहीं हों, हिन्दुओं के भक्ष्य-अभक्ष्य, प्रिय-अप्रिय का विचार रखा जाय। स्वयं मुग़ल कट्टर मुसलमान नहीं थे। चंगेज़ख़ाँ का मंगोल रक्त अभी ताज़ा था। उधर अफ़ग़ानों के समय से काज़ी और मुल्ला की राज-नीतिक शक्ति प्रबल थी। अधिकांश नव मुसलमान जहाँ एक ओर दिल्ली के तख़्त को मानते थे, वहाँ दूसरी ओर इमाम और काज़ी से शासित होते थे। रूढ़िपंथी मुल्ला-काज़ी-वर्ग अकबर को अप्रिय था, स्वयं अकबर उन्हें 'हिन्दू' लगता था। अतः अकबर की प्रज्ञा ने ऐसे धर्म की संभावना की जो ऊपर से इस्लाम लगता हो, जिसका हृदय हिन्दू आचार-विचार से भरा हो, और जो मुसलमान वर्ग को मान्य होकर काज़ी-मुल्ला-शक्ति को निर्बल बना दे। काबुल-विजय (१५७४ ई०) से लौटने के बाद अकबर ने एक नये धर्म की पैग़म्बरी की ओर ध्यान दिया। इस नये धर्म ('दीने इलाही') का आधार कुरान, वेद-उपनिषद् और ईसाई धर्म पुस्तकों के संदेशों का मिश्रण होता। उसने एक इजलास किया जिसमें ईसाई पादरी फादर रिदाल्गो (Father Ridolgo) के अतिरिक्त दिल्ली और समीपवर्ती नगरों के विद्वान् और वीर नेता थे। उसमें अकबर ने कहा, एकाधिपति से शासित इस बड़े साम्राज्य की प्रजा का अनेक धर्मों और सम्प्रदायों में बँटा होना

अच्छा नहीं है। अच्छा हो, यदि हम सब धर्मों की सुन्दर बातें ग्रहण करके एक स्वतन्त्र धर्म-पथ की प्रतिष्ठा करें। जी-हजूरों ने उसे सलाह दी कि खुदा की सारी न्यामतें उसे मिली हैं, वही ऐसे नये धर्म की व्यवस्था कर सकता है। वदोऊनी ने लिखा है कि राजा भगवानदास ने इस इजलास में अकबर का विरोध किया। उन्होंने अकबर से जिज्ञासा की कि वह नये धर्मशास्त्र का उद्घाटन करे। अकबर इसके लिए तैयार नहीं था। इसी लेखक द्वारा हमें यह पता लगता है कि १५८७ में राजा भगवानदास के दत्तक पुत्र राजा मानसिंह ने यह कह कर अकबर की शिष्यता अस्वीकार कर दी कि हिन्दू-मुसलमान धर्म के अतिरिक्त किसी तीसरे धर्ममत को मानने के लिए मैं तैयार नहीं। सच तो यह है कि—

१—दीने-इलाही अकबर की राजनीतिक चाल थी। वह राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर चुका था। धार्मिक क्षेत्र में पैग़म्बरी का दावा करके एक नई शक्ति पाना ही उसका उद्देश्य था।

२—उसकी मंगोल-प्रवृत्ति कट्टर इस्लाम के विरुद्ध पड़ती थी, अतः धीरे-धीरे इस्लाम का जुआ कंधे से उतार कर वह नये धर्माधिष्ठाता के रूप में स्वतन्त्र हो गया।

३—उसके पास विद्वानों और पंडितों का एक ऐसा दल था जो उसकी धर्म-चिंतन-विषयक अहमन्यता को उत्तेजित किया करता था। इनमें अबुलफ़ज़ल और उसके पिता शेख़ मुबारिक प्रधान थे। १५७३ ई० में जब अकबर गुजरात-विजय के बाद लौटा तो शेख मुबारिक ने उसे सलाह दी कि वह इमामत का बोझ भी उठा ले। कई वर्ष युद्धों में बीत गये। १५७९ ई० में अकबर ने पेश-इमामत का दावा किया। वह तीर्थयात्रा अब भी करता है, परन्तु १५८० ई० में ही वह धर्म-गुरु के रूप में उपस्थित हो जाता है। शेख़ मुबारिक, अबुलफ़ज़ल और दूसरे मुसलमान अकबर के दीने-इलाही या तौहीदे इलाही को इस्लाम का परिष्कृत रूप ही कहते थे, परन्तु अकबर की धार्मिक आज्ञाओं से यह स्पष्ट है कि उसके धर्म में 'इस्लाम' का अंश कितना कम था। उसकी

धाराओं में इस्लाम का विरोध ही अधिक लक्षित है। दीक्षा की अपनी रस्म थी जिसमें इस्लाम-धर्म छोड़ने की बात भी शिष्य को कहनी पड़ती थी। ईसाई पादरियों के उल्लेख के आधार पर हम कह सकते हैं कि १५८० ई० के बाद अकबर कट्टर मुसलमान नहीं रहा था। आइने-अक़बरी के आईन सं० ७७ से अकबर के दीने-इलाही धर्म पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। बीरबल के अतिरिक्त किसी भी हिन्दू का नाम इस नये धर्म से संबंधित नहीं हो सका, यही इसकी असफलता की दलील है। मुसलमानों में इसकी संख्या कुछ हजार से आगे नहीं बढ़ सकी। यह भी धन और सम्मान-लिप्सा के कारण ही दीने-इलाही में दीक्षित हुए थे। अबुलफ़ज़ल की मृत्यु (१६०२ ई०) के बाद इस संख्या में शिथिलता आती गई और अकबर की मृत्यु (१६०५ ई०) के साथ वह समाप्त हो गई। जहाँगीर के शासनकाल में इसका नामोल्लेख भी नहीं मिलता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के जीवनकाल (१५३३-१६२३ ई०) में ही सार्वभौम धर्म की स्थापना का एक कृत्रिम और असफल प्रयत्न किया गया। कहा जाता है, रहीम खानखाना, (१५५६-१६२७ ई०) तुलसी के मित्र थे, अतः वह इस प्रयत्न से अपरिचित नहीं रहे होंगे। स्वयं तुलसी से अकबर की भेंट कभी हुई, ऐसा नहीं जान पड़ता। आईने-अकबरी में तुलसी का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। हो सकता है, १६०२ ई० (अबुलफ़ज़ल की मृत्यु-तिथि) तक तुलसी का रहीम से परिचय नहीं हुआ हो। कन्नौज में रहीम की जागीर थी अतः अकबर की मृत्यु के बाद पूर्वीय प्रदेश में रहते हुए उनका तुलसी से परिचय होना सम्भव है।

सच तो यह है कि तुलसी की साधना-भूमि काशी, अयोध्या और चित्रकूट के रमणीक एवं एकांत मंदिर भवन थे। वे राज केन्द्र से दूर थे। यद्यपि मानस की रचना-तिथि १५७४ ई० है, परन्तु तुलसी १४-१५ वर्ष तक उसका संशोधन करते रहे। अतः १५६० ई० के लगभग जनता उनके इस अलौकिक ग्रन्थ से परिचित हुई होगी।

जहाँगीर-काल (१६०५–२७) में ही रचना विशेष लोकप्रिय हुई होगी। एकान्त होकर भी तुलसी की साधना अत्यन्त जागरूक थी। उसने हिन्दू-समाज के व्यापक हितों को सदा सामने रखा। उस समय संत और सूफ़ी साधक अंतःसाधना पर बल दे रहे थे। तुलसीदास का कार्यक्षेत्र अवध उनका केन्द्र था, परन्तु हिन्दू-मुसलमानों में अब भी सामाजिक असहयोग की ही प्रधानता थी। राजनीतिक क्षेत्र में असहयोग की बात ही नहीं है, मुसलमान विजेता थे, उनसे असहयोग का अर्थ था विद्रोह और दमन, परन्तु सामाजिक क्षेत्र में यह असहयोग आज भी चल रहा है। तुलसी अवश्य ही इसके समर्थक रहे होंगे। उन्होंने रामचरितमानस का बल देकर निर्जीव हिन्दू-भावना में घर-घर भरत, हनुमान, लक्ष्मण की वीरता और त्याग की आदर्श मूर्तियाँ सजा दीं। यह नहीं कहा जा सकता कि अपने समय में तुलसी का प्रभाव कितना व्यापक रहा। उनका कार्यक्षेत्र मुस्लिम शक्ति के केन्द्र से बहुत दूर अयोध्या, चित्रकूट और काशी में रहा। इस क्षेत्र में उन्हें सफलता भी शीघ्र मिली। परन्तु शीघ्र ही तुलसी का प्रभाव देशव्यापी हो गया। मोरोपंत के 'तुलसी-स्तवन' और समर्थ रामदास (आविर्भाव काल १६२५-१६८० ई०) के जीवन से यह प्रभाव स्पष्ट है। हिन्दी प्रदेश में स्वयं केशव ने १६०१ ई० में रामचन्द्रिका लिखी। इस पर भी तुलसी का अपरोक्ष प्रभाव लक्षित है। २५ वर्ष में ही तुलसी इतने प्रसिद्ध हो गये थे कि मौलिकता के आग्रह में केशवदास को पद-पद पर उनका अनुकरण बचाने की धुन हुई। ५० वर्ष के भीतर तुलसी का 'मानस' सारे देश में फैल गया होगा। शिवाजी और समर्थ अवश्य उससे परिचित रहे होंगे। तुलसी के ग्रन्थों की कई श्रेणियाँ हैं—

(१) राम-कथा—मानस, गीतावली, कवितावली, बरवै रामायण, कुंडलिया।

(२) शिव-कथा—पार्वतीमंगल, मानस बालकांड की शिव-कथा।

(३) कृष्ण-कथा—श्रीकृष्ण-गीतावली।
(४) शकुन—रामाज्ञा-प्रश्न।
(५) आरती, स्तुति, भक्ति-स्तोत्र, प्रार्थना—विनयपत्रिका।
(६) हनुमान-भक्ति—राम० च० सुंदरकांड, बाहुक।
(७) राम-कथा के प्रसंग—जानकीमंगल, नहछू।
(८) फुटकर—सतसई, दोहावली।
(९) वैराग्य—वैराग्यसंदीपिनी।

इनमें वैराग्यसंदीपिनी सबसे पहली रचना है। संन्यास के बाद तुलसी पर संतमत का प्रभाव संभव है। प्रधान साधना राम-भक्ति और रामकाव्य है। शिव और हनुमान भी परम रामभक्त होने के नाते उपास्य हैं। कृष्ण-भक्ति सामयिक प्रभाव मात्र है जो उदार हृदय तुलसी ने स्वीकार कर लिया। शकुन और नीति (फुटकर ग्रंथ) तुलसी के व्यक्तित्व के प्रधान अङ्ग नहीं हैं। वह उनके ज्योतिष-ज्ञान और नैतिक व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हैं। स्पष्ट है कि तुलसी के व्यक्तित्व के कई भाग हैं, (१) भक्त, (२) दार्शनिक पंडित, (३) कवि, (४) नीतिज्ञ, (५) समाज-सुधारक और (६) विचारक। ऐसा बहुव्यक्तित्व संपन्न पुरुष मध्ययुग में कोई नहीं था।

अकबर-युग की कला का अपना स्वतंत्र इतिहास है। वृन्दावन के मन्दिर इसी युग की वस्तु हैं। जनश्रुति है कि १५७३ ई० में गुजरात-विजय के बाद अकबर वृन्दावन पहुँचा। उसने गुसाईं लोगों से भेंट की। मानसिंह और अन्य राजा साथ थे। वे उसकी आँखों पर पट्टी बाँध कर उसे 'मधुवन' ले गये जहाँ उसे अलौकिक भाव के दर्शन हुए। राजाओं के कहने से उसने ४ मंदिरों के निर्माण की आज्ञा दी। ये मंदिर थे—गोविन्ददेव, मदनमोहन, गोपीनाथ और जुगलकिशोर। गोपीनाथ का मंदिर सबसे पहले बनना शुरू हुआ। पहले तीन १५९० ई० तक बन गये, जुगलकिशोर १६२७ ई० में बन कर समाप्त हुआ। इसमें गोविन्ददेव सबसे भव्य है। कृष्ण-भक्ति वृन्दावन तक ही सीमित नहीं। तुलसी ने इसके प्रभाव को गीतावली

में स्वीकार एवं परिष्कृत किया। उन्होंने ऐकांतिक संयोग-वियोग के चित्रण नहीं दिये। बालकृष्ण का ही चित्रण उनको मान्य रहा। कृष्ण-कथा के जिन प्रसंगों को तुलसी ने नहीं छुआ, वही उनके आचार-विचार पर प्रकाश डालते हैं।

अकबर-काल की कविता और साहित्य में कृत्रिमता और कल्पना की ही प्रधानता है। इस युग में फ़ारसी की मौलिक रचनाएँ बहुत कम हुईं। "Most of the authors prostitute the word 'love' to the service of unholy passion."

(VINCENT SMITH, ALLAHABAD, P. 416).

इन सब में तुलसी का काव्य एक महान् दीप-स्तंभ है—

"It is a releif to turn from the triviality and impurity of most of the versifiers in Persian to the virile, pure work of a great Hindu—the tallest tree in the 'magic garden' of mediaval Hindu Poesy. His name will not be found in the Ain-i-Akbari, or in the pages of any Muslim Annalist, or in the books by European authors bassed on the narratives of Persian Historians. Yet that Hindu was the greatest man of his age in India—greater even than Akbar Himself, in as much as the conquest of hearts and minds of millions of men and women effected by the poet was an achievement infinitely more lasting and important than any or all the victories gained in war by the monarch." (वही पृष्ठ ४१७)

स्मिथ के इस कथन का समर्थन हमें अन्य आलोचना-ग्रन्थों और मध्ययुग की फ़ारसी कविता के उन नमूनों एवं ग्रंथों से होता है जो

आज हमें प्राप्त हैं। ४०० वर्षों के इस सारे काव्य में पद-पद पर कृत्रिमता, विलासता, आचारहीनता और जड़-प्रतीकों का प्रकाशन मिलता है, (विशेष अध्ययन के लिए देखिए, Hazrat Amir Khusraw by Prof. Habib; Pre-Mughal Persian, in Hindustan by M. A. Ghani और History of Persian Language at the Mogal Court, Vol. I, II, III by M. A, Ghani)। विजेता मुसलमानों और मुग़लों के मनोविकारों को समझने के लिए मध्ययुग के फ़ारसी साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है, विशेषतः काव्य-साहित्य का। १५७४—१६१४ ई० तक (४० वर्ष) तुलसी का काव्य इस सारे काव्य के विरोध में रखा जा सकता है। सूरदास का अधिकांश काव्य (१५२५—१५५० ई०) अकबर के राज-काल के पहले ही समाप्त हो चुका था, यद्यपि वे बाद में भी जीवित रहे (मृत्यु १५८५ ई०)। तुलसी की रचनाओं पर सूर का प्रभाव लक्षित है, विशेषतः मानस (१५७४ ई०) के बाद की। संभव है, वे मानस-रचना से पहले सूर के परिचय में आये हों, जैसा नन्ददास के वृत्तान्त से स्पष्ट है (इसके अनुसार १५७१ ई० में तुलसी गोकुल गये), परन्तु सूर का प्रभाव बाद की रचनाओं कृष्ण-गीतावली, राम-गीतावली और विनयावली (१५८७-१६०२ ई०) में ही दिखलाई पड़ता है।

अकबर-काल की धार्मिक परिस्थिति उलझी थी। हिन्दी पूर्वी-प्रदेश में शक्ति और शिव की उपासना की प्रधानता थी। पूर्व, दक्षिण-पूर्व, राजस्थान और पंजाब संतमत के केन्द्र थे। पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश में (ब्रज में) चार कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय स्थापित हो चुके थे। राम की सगुण भक्ति पूर्वी प्रदेश में रामानन्द के समय (१४वीं शताब्दी) में थी। कबीर ने उसका उल्लेख किया है। संतमत ने उसे दबा दिया था। तुलसी ने इसी प्रदेश को कार्यक्षेत्र चुना जहाँ निर्गुण राम का प्रचार हो गया था और सगुण राम-भक्ति की व्यवस्था की। उन्होंने अपनी रामभक्ति को इतना व्यापक, सहिष्णु और उदार रूप दिया

कि वह किसी सम्प्रदाय के बंधन में न आई और स्वतंत्र एवं व्यापक रूप में उसने भक्ति के सब क्षेत्रों में प्रवेश किया। आज ब्रज, पंजाब, राजस्थान, पूर्वी हिन्दी प्रदेश, दक्षिणी हिन्दी प्रदेश सब में रामचरितमानस से जनता को भक्ति, नैतिक बल और आचरण-संदेश की प्राप्ति है। तुलसी और सूर अकबर-युग के सबसे बड़े कवि थे। सूर अकबर के राजत्व (१५५६ ई०) से पहले अनेक प्रकार की रचना कर चुके थे। उनकी साधना व्यक्तिगत और अंतर्मुखी थी। तुलसी की साधना व्यक्तिनिष्ठ और आभ्यान्तरिक होते हुए भी समाज को दृष्टि में रख कर चली। वह स्वस्थ आत्मा की शरणागत-भावना थी, निर्बल भक्तों का आत्म-समर्पण नहीं, न भगवान् की लीलाओं में अपनी रस-लम्पट प्रवृत्ति से प्रच्छन्न आनन्द-ग्रहण। तुलसी पौरुष के कवि हैं, महान् व्यक्तित्व के कवि हैं, मर्यादाभाव के कवि हैं। इसी से उनकी एकान्त साधना उनके व्यक्तित्व से फूट कर सबकी साधना बन गई। अकबर युग में भक्ति के कई भेद चले। पश्चिम प्रदेश और बंगाल में राधाकृष्ण की मधुर भक्ति चली, महाराष्ट्र में 'विठोबा' (बाल-विष्णु या बाल-कृष्ण) की भक्ति पहले से चल रही थी। तुलसी की भक्ति दास्य-भक्ति कही जा सकती है। परन्तु इससे यह नहीं समझना होगा कि तुलसी की भक्ति में पाप की ग्लानि या आर्द्र दीनता है जिसे हम सूर के कुछ पदों में पाते हैं और जिसके लिए वल्लभाचार्य ने उन्हें प्रताड़ना दी थी। तुलसी की भक्ति राम के ऐश्वर्य, शील, सौंदर्य और भक्त-वत्सलता से प्रसारित होती है। वह राम के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर देते हैं। इसलिए कि स्वयं राम की 'रहनि' रहे, अधिक सात्विक जीवन बितायें। उनमें भविष्य-निर्माण की साधना है, पुराने पापों का रोना नहीं। भक्ति-साहित्य में सबसे सबल भक्ति यही तुलसी की दास्य-भक्ति है।

पश्चिम और पूर्व के कृष्ण-भक्तों ने यदि हिन्दू मात्र में कला, प्रेम, स्वप्न और आनन्द भर दिया, तो तुलसी की भक्ति ने उन्हें राम-राज्य की वास्तविकता से परिचित कराया, हनुमान और राम-

लक्ष्मण के महान् वीरत्व की टंकार सुना कर जाग्रत-पौरुष बनाया, जीवन के संबंधों में आदर्श भावनाओं का स्थापन किया, भाई को अधिक अच्छा भाई बनने की प्रेरणा की, पत्नी को सीता का आदर्श बनाया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लौकिक जीवन को उच्चतर उठाते हुए तुलसी ने आत्मा को सबल भक्ति-भाव के आनन्द और उदात्त उल्लास से परिचित कराया। सूरदास में हम पलायन-वृत्ति पाते हैं। समाज, राष्ट्र उच्च नैतिकता, पुरुषार्थ—उन्हें इससे मतलब नहीं उनका काव्य राधाकृष्ण के प्रेम-विलास और नवनीत-प्रिय की दैनिक अर्चना-पूजा में ही लगा रहा। उन्होंने बाहर के संसार की वास्तविकता से भाग कर मंदिर के भीतर विश्राम किया, बाहर के लोगों के लिए उनके पास संगीत, प्रेम, काव्य और भक्ति की कल्पलता-छाया थी, परन्तु उसका क्षेत्र मंदिर के भीतर ही था। बाहर मुग़ल-विलासिता का निदाघ जल रहा था। उसके लिए उन्होंने क्या किया? लौकिक कर्तव्यों का पालन करते हुए, प्राचीन आचारों को निभाते हुए राम, सीता, हनुमान, भरत और लक्ष्मण की ओजस्वी मूर्तियाँ हृदय में स्थापित कर जनता सहे, उठे और आगे बढ़े, यह संदेश तो तुलसी ने ही दिया। जो जहाँ है, वह हिन्दू नहीं रहते हुए हिन्दू-धर्म का सैनिक बन सकता है। तुलसी ने विजय-रथ वर्णन के बहाने उसे नैतिक अस्त्र-शस्त्र दिये। मर्यादा, संयम, कर्तव्य-पथ, सामाजिक नियमों का पालन, इस रास्ते चलता हुआ जन-समाज राम के शौर्य, हनुमान के वीरत्व और लक्ष्मण के प्रचण्ड पराक्रम से अपने हृदय को भरे। महाराज रामचन्द्र के महान् ऐश्वर्य और राम-राज्य के सुन्दर चित्रों से तुलसी ने जनता को मुग़ल-सम्राट के ऐश्वर्य से आतंकित होने से बचा लिया। यही कारण था कि 'दीने-इलाही' में 'बीरबल' के अतिरिक्त किसी प्रतिष्ठित हिन्दू का नाम नहीं मिलेगा। १५७४ ई० में 'मानस' की रचना हुई और एक-दो दशक के भीतर उसका संदेश जनता के हृदय में पहुँच गया।

संक्षेप में, अकबर, तुलसीदास, सूरदास, खानखाना, अबुलफ़ज़ल,

कितने ही महान् पुरुष अकबर-युग में हमारे सामने आते हैं। तुलसी से सब छोटे पड़ते हैं। इस युग के किसी भी मनुष्य का व्यक्तित्व इतना मधुर, इतना व्यापक नहीं था, न किसी ने जन-मन पर इतना स्थाई प्रभाव ही छोड़ा। अकबर की महान् विजयों के कीर्ति-स्तम्भ जीर्ण हो चुके हैं, परन्तु रामचरितमानस के विराट-मन्दिर में सुरक्षित सीताराम की युगल मूर्तियाँ आज भी उसी अलौकिक आभा से दैदीप्यमान् हैं जिसे तुलसी की कल्पना ने मूर्तिमान किया था। तुलसी के समय में भारत की आर्थिक एवं सांस्कृतिक दुर्दशा रसातल तक पहुँच गई थी। १५५५—१५६३ ई० (तुलसी २२, २३ वर्ष) में दिल्ली, आगरा और हिन्दी-भाषी पश्चिमी प्रदेश में अनावृष्टि के कारण एक महान् दुर्भिक्ष पड़ा था। इससे भी भीषण एक दुर्भिक्ष सन् १५९५-९८ में पड़ा। इससे पहले १५७३ ई० (गुजरात) और १५८३-८४ ई० (मध्य हिन्दुस्तान) में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ चुके थे। यह सब मूल रूप से अनावृष्टि के कारण थे और इनके साथ बीमारियों का भयानक चक्र चलता था। १५९५-९८ ई० का दुर्भिक्ष असहनीय था, १५५६ ई० से भी भीषण। १५८४-८५ ई० में बंगाल में भयानक बाढ़ आई जिसमें दो लाख मनुष्य हत हुए।

हीमू के समय में भी (१५५४-१५५६ ई०) एक महान् दुर्भिक्ष पड़ा था, परन्तु उसका कोई सरकारी इन्तज़ाम नहीं किया गया। कदाचित् ऐसे ही किसी दुर्भिक्ष के समय तुलसी के माता-पिता ने भरण-पोषण के अयोग्य होने के कारण उनका त्याग कर दिया। तुलसी ने इस समय अपनी दरिद्रता का मार्मिक वर्णन किया है, अतः स्पष्ट है कि इस वर्णन से दुर्भिक्ष की भयंकरता पर भी प्रकाश पड़ता है—

१—नीच निरादर भाजन कादर।
कूकर टूकन लागि ललाई।

२—जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।

३—छाछी को ललात।

ऐसे भयानक अनुभव के बाद तुलसी में जिज्ञासा और अध्यात्म भाव

का जाग्रत होना असंभव नहीं था। सौभाग्य से उन्हें नरसिंह (नरहरि) के रूप में योग्य गुरु भी मिल गये। रामकथा और रामभक्ति से उनका परिचय हुआ। परन्तु उस समय उस कथा से उन्हें पूर्ण तृप्ति नहीं हुई—उसके मर्म को उन्होंने बाद में खोज निकाला। रत्नावली का समय १५४०-१५६५ ई० है। तुलसी ने १५६७ ई० में ३५ वर्ष की आयु में संन्यास लिया। १५७४ ई० में उन्होंने 'मानस' की रचना की (आयु ४१ वर्ष)। १५८६ ई० (१२ वर्ष बाद) में उनके रघुनाथदास और लक्ष्मणदास शिष्यों ने बालकांड और अरण्यकांड की प्रतियाँ नन्ददास के पुत्र कृष्णदास के लिए प्रतिलिपित कीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपनी आयु के ५३ वर्ष में तुलसी मानस में आवश्यक संशोधन कर चुके थे। उनका शेष जीवन साधना में बीता। १६१६ ई० से १६२४ ई० तक उत्तर भारत में प्लेग का जोर रहा। स्वयं तुलसी को इसके प्रकोप का लक्ष्य बनना पड़ा। १५३३ से १६२३ (९० वर्ष) का समय वैयक्तिक साधना के लिए लम्बा समय है। आरम्भिक जीवन के कष्टों की झाँकी के बाद हम तुलसी के जीवन की अंतिम झाँकी पाते हैं। शेष लंबे काल में तुलसी की अनथक जन-हित-भावना और अद्वितीय आभ्यान्तरिक साधना का मौन इतिहास अंतर्हित है। अकबर और जहाँगीर के समय की राजनीतिक हलचलें ऊपर के धरातल को ही प्रभावित करती रहीं। राज-घराने, कर्मचारी वर्ग, ओहदेदार मुसलमानों और गिने-चुने हिन्दुओं को छोड़ कर समाज का शेष भाग जन-गंगा की भाँति निष्कलुष बहता रहा। तुलसी ने इसी जन-गंगा का मानस के पुण्योदक द्वारा अभिषेक किया। उनकी रचना की सबसे बड़ी विजय यह थी कि वह एक विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए भी किसी की नहीं थी। उसमें वर्गगत-चेतना का नितान्त लोप है। वर्ग-बन्धन से निकल कर तुलसी की मानस-धारा जन-मन और जन-हृदय को पुष्ट, सिक्त एवं स्नेहार्द्र करती हुई सारे भारतवर्ष में फैल गई। उनकी कविता अकबर-युग में होकर भी अकबर-युग की नहीं है। उसमें युग की उच्छृङ्खलता के

विरोध में एक नये युग-धर्म की चुनौती छिपी है। राजनीतिक शक्ति के ह्रास के बाद हिन्दू-मत मठों, पीठों और व्यवस्था-केन्द्रों और मन्दिरों से शासित हो रहा था। तुलसी का इन स्थानों से विशेष संबंध नहीं रहा। उन्होंने अपनी वैयक्तिक साधना को ही जनता की प्रिय साधना बना दिया। यह बात उनके गहरे आत्म-विश्वास की ही द्योतक है। उनके काव्य ने जनता को एक साथ भक्ति, व्यवस्था, कथा-काव्य और आदर्श के कटे-छटे हीरे भेंट किये। उनसे पहले जनता के पास जनता की भाषा में क्या था? योगियों, संतों और कृष्ण-भक्तों के गीत (पद), एवं कुछ लौकिक तथा सूफ़ी कथा-काव्य। जो था, उसमें प्राण कहाँ था, भारतीयता कहाँ थी, विश्वास का बल कहाँ था? योगियों, संतों और सूफ़ियों की कविता विशेष कारणों से द्विजातियों में प्रिय नहीं हो सकी। वह परम्परा-पोषित नहीं थी। तुलसी ने रामकथा और रामभक्ति की परम्परा को नया रूप दिया। उन्होंने जनता के भीतर से ही क्रांति की कल्पना की और रामभक्ति को इस क्रांति का माध्यम बनाया।